सेठ गोविन्ददास

गोविन्ददास ग्रन्थावली

'अशोक', 'भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु' तथा 'हर्ष'
—तीन ऐतिहासिक नाटक

प्रथम खण्ड

गोविन्ददास

१९५७

भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा — दिल्ली

'ग्रन्थावली' के सम्बन्ध में

आधुनिक हिंदी नाटककारों में सेठ गोविन्ददासजी का नाम आदर के साथ लिया जाता है। हिंदी नाटक-साहित्य को जिन प्राणवान कलाकारों ने अपनी मौलिक कृतियों से विभूषित किया है और नाटक-साहित्य की अभिवृद्धि में योग दिया है, उनमें सेठ गोविन्ददास का भी एक विशिष्ट स्थान है। आपने भारतीय इतिहास का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है। आपकी उत्साही लेखनी से पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा समस्यात्मक नाटक एकांकियों की सृष्टि हुई है। विषय और संख्या की दृष्टि से उनकी नाटकीय रचनाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

सार्वजनिक जीवन में अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी आपकी साहित्य-साधना अविराम गति से चलती रही है। अब तक आपने १०४ नाटक तथा एकांकी लिखे हैं। उनकी कुछ रचनाएँ विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हुई हैं। अब उनकी सम्पूर्ण नाट्य-कृतियों को एक ही स्थान से सुव्यवस्थित प्रकार से 'ग्रन्थावली' के रूप में प्रकाशित करने की योजना बनाई गई है। सेठ जी का सम्पूर्ण नाटक-साहित्य बारह खण्डों में प्रकाशित होगा। प्रथम खण्ड में उनके तीन ऐतिहासिक नाटक संगृहीत हैं।

अशोक

सम्राट अशोक का व्यक्तित्व नाटक का मुख्य विषय है। भारतीय इतिहास में ही नहीं; परन्तु संसार के इतिहास में अशोक का अद्वितीय स्थान है। 'अशोक' में एक क्रूर शासक के हृदय-परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। नाटक में नये विचार तथा घटना दोनों का प्राचुर्य है। कलिंग-विजय के पश्चात् अशोक में किस प्रकार आमूल परिवर्तन होता है और वह साम्राज्य की सारी शक्ति अहिंसा द्वारा लोक-कल्याण के पवित्र कार्यों में लगा देता है। हिंसा को तिरस्कृत मानकर वह केवल अहिंसा और प्रेम में राज्योत्कर्ष करने का संकल्प करता है और

संसार को एक सूत्र में पिरोने का एक नवीन अनुष्ठान करता है। यह नाटक अतीत भारतीय संस्कृति और नीति का एक क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत कर पुराने और नये भारत को शृंखलाबद्ध कर देता है।

भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु

भारतीय इतिहास में भारत का संसार के अनेक देशों के साथ बहुत प्राचीन काल से ही सम्बन्ध रहा है। भारत के बाहर भी जो भारतीय बसे हैं उन्होंने उन देशों के मूल निवासियों को मिटाने की कोई कोशिश नहीं की है। प्रत्युत उन्हें सदा फूलने-फलने का अवसर दिया है। भारत का भिन्न-भिन्न देशों से यह सम्बन्ध अधिकतर सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है और यह बढ़ा उस काल में जब बौद्ध मत का प्रचार हुआ। इस नाटक में ऐसे ही प्रयत्नों में से एक का चित्रण है।

हर्ष

इस नाटक में सातवीं सदी का ऐतिहासिक वातावरण बड़ी अच्छी तरह समाविष्ट है। उस समय भी धार्मिक और राजनीतिक अवस्था का दिग्दर्शन इतिहास तथा साहित्य-प्रेमियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसमें हर्षवर्द्धन के समय के भारत का यह नाटक सजीव चित्र है। तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक वातावरण, स्थिति और व्यवस्था का चित्रण सजीव है। नाटक द्वारा उस युग का जीता-जागता चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है।

सेठ जी के यह तीनों नाटक भारत के ऐतिहासिक विभिन्न काल की सभ्यता और संस्कृति के दिग्दर्शन कराते हैं। इनसे उनके उदात्त विचार स्पष्ट हो जाते हैं। वास्तव में सेठ जी की कृतियों ने हिन्दी नाटक-साहित्य में जो अभिवृद्धि की है वह हिन्दी-साहित्य के लिए गौरव की बात है। भारत और भारती के इस वरद् पुत्र के सम्पूर्ण साहित्य को प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। आशा है, ग्रन्थावली के रूप में भी उनकी रचनाओं का हिंदी जगत में पूर्णरूप से आदर होगा।

—प्रकाशक

सूची

अशोक

निवेदन

केवल भारतीय इतिहास में ही नहीं परन्तु संसार के इतिहास में अशोक का अद्वितीय स्थान है।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यिज्ञ और इतिहासकार श्री एच. जी. वेल्स ने अपने 'संसार के इतिहास' ग्रन्थ में अशोक के विषय में लिखा है—

"इतिहास के सैकड़ों नरेशों और सम्राटों के नामों के बीच अशोक का एक मात्र नाम तारे की भाँति चमकता जान पड़ता है।"

चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की सहायता से जिस मौर्य साम्राज्य की भारत में स्थापना की थी वह साम्राज्य चन्द्रगुप्त के पुत्र विंदुसार के समय वैसा ही रहा। विंदुसार का बहुत कम विवरण इतिहास में मिलता है। परन्तु अशोक ने एक तो उसमें वृद्धि की, दूसरे इसके लिए जो कलिंग देश में युद्ध हुआ, उस युद्ध के पश्चात् अशोक के हृदय में ऐसा परिवर्तन हुआ कि उसके समस्त आदर्श ही बदल गये और हर प्रकार की जीव-हिंसा छोड़ उसने सारे संसार को अहिंसा के द्वारा प्रेम सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। अशोक ने जो कुछ किया उस के सम्बन्ध में उसने अनेक शिलालेख लिखाये और इनमें से

जिन शिलालेखों का अब पता लगता है उससे भी ज्ञात होता है कि उसने कितने महान् कार्य किये थे।

दो संसारव्यापी युद्धों की विभीषिका के कारण कहीं तीसरा विश्वव्यापी युद्ध न हो जाय इस भय से समस्त संसार काँप रहा है। महात्मा गान्धी ने अहिंसा और प्रेम के सिद्धान्तों को राजनैतिक क्षेत्र में भी दुनियाँ के सामने रक्खे। अहिंसा और प्रेम के सिद्धान्तों पर चलकर भारत स्वतंत्र हुआ और उन्हीं सिद्धान्तों पर गान्धी जी के उत्तराधिकारी भारत-रत्न पं० जवाहरलाल नेहरू चल रहे हैं। इन्हीं सिद्धान्तों को आज विश्व के अधिकांश विचारक संसार के त्राण का एक मात्र उपाय मानते हैं; इसीलिए भारत के बाहर जहाँ-जहाँ भी पं० नेहरू गये हैं और जा रहे हैं सभी जगह की जनता ने उनका अभूतपूर्व स्वागत किया है और वह अभूतपूर्व स्वागत कर रही है।

भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् सारनाथ के अशोक-स्तंभ का चार सिंहों वाला मुकुट आधुनिक स्वतंत्र भारत का राज-चिह्न बनाया गया है और इसी स्तंभ के अशोक-चक्र ने भारतीय ध्वज के मध्य स्थान पाया है।

प्रस्तुत नाटक की रचना अशोक की जीवनी पर की गयी है। इसका न तो कोई पात्र काल्पनिक है और न कोई घटना। पात्रों में कुणाल की पत्नी को छोड़ शेष सभी पात्रों के नाम भी ऐतिहासिक हैं। कुणाल की पत्नी भी पात्र तो ऐतिहासिक ही है पर उसका नाम काञ्चनमाला कदाचित काल्पनिक है।

उस समय जम्बूद्वीप भारत का नाम था या एशिया का, इस विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। मैंने इस नाटक में जम्बूद्वीप भारत का नाम न मानकर समूचे एशिया का माना है।

इस नाटक में दूसरे अंक के तीसरे दृश्य में एक फुटनोट है कि कलिंग का युद्ध सिनेमा से भी दिखाया जा सकता है। उपसंहार का तो पूरा दृश्य ही सिनेमा से दिखाया जाने वाला है, परन्तु यदि सिनेमा की व्यवस्था न हो सके तो दूसरे अंक के तीसरे दृश्य का वह भाग तथा उपसंहार छोड़कर भी नाटक खेला जा सकता है।

इस नाटक के लिखने में मुझे निम्नलिखित ग्रन्थों से सहायता मिली है—

(१) केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया प्रथम भाग

(२) दि हिस्ट्री एण्ड कलचर ऑफ इण्डियन पीपुल का दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, दूसरा भाग

(३) डाक्टर भंडारकर कृत—अशोक

(४) डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी कृत—मैन एण्ड थाट इन एनशेन्ट इण्डिया

(५) डाक्टर बेनीमाधव बरुआ कृत—अशोक एण्ड हिज इन्सक्रिपशन्स

(६) गुन्डोपन्त हरिभक्त कृत—अशोक और उसके लेख

(७) डाक्टर हरिश्चन्द्र सेठ कृत—अशोक

इस नाटक में अशोक के जिन शिलालेखों को दिया गया है उनके हिन्दी अनुवाद प्राय: डाक्टर हरिश्चन्द्र सेठ की अशोक पुस्तक से लिये गये हैं। शिलालेखों में से कौन शिलालेख महत्त्व के हैं इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हो सकते हैं, परन्तु किसी भी लेखक को ऐसे मामलों में अपने मत पर ही चलना पड़ता है। अत: मेरी दृष्टि से अशोक के जो शिलालेख महत्त्व के हैं और इस नाटक के उपयुक्त, उन्हीं को इसमें रखा गया है।

मेरे अन्य अधिकांश नाटकों के सदृश इस नाटक के गीत भी मेरी पुत्री रत्नकुमारी के लिखे हुए हैं।

—गोविन्ददास

मुख्य पात्र, स्थान और समय

मुख्य पात्र	: नाटक में प्रवेश के अनुसार
असंधिमित्रा	: (देवी, शाक्य कुमारी) अशोक की पहली रानी, विदिशा के एक देव नामक व्यापारी की पुत्री
अशोक	: उज्जैन का राष्ट्रीय (राज्यपाल, गवर्नर), बाद में तक्षशिला का राष्ट्रीय, बाद में भारत सम्राट
महेन्द्र	: अशोक का पुत्र, जो भिक्षु हुआ और सीलोन गया
संघमित्रा	: अशोक की पुत्री, जो भिक्षुणी हुई और सीलोन गयी
सुभद्रांगी	: चंपा के एक ब्राह्मण की पुत्री और अशोक की माता
राधागुप्त	: अशोक का महामन्त्री
विगताशोक	: (तिस्स) अशोक का छोटा भाई
बिंदुसार	: अशोक का पिता, भारत सम्राट
कारुवाकी	: अशोक की दूसरी रानी
कुणाल	: अशोक का पुत्र, तक्षशिला का राष्ट्रीय
तीवर	: अशोक का कारुवाकी से उत्पन्न पुत्र
उपगुप्त	: (मोगल्लीपुत्ततिस्स) अशोक का बौद्ध गुरु
तिष्यरक्षिता	: (तिष्यरक्षा) असंधिमित्रा की दासी, आगे चलकर अशोक की रानी जिसने कुणाल को अन्धा किया
काञ्चनमाला	: कुणाल की पत्नी
दशरथ (सम्प्रति)	: कुणाल का पुत्र, बाद में मौर्य साम्राज्य का युवराज

स्थान

नाटक के	: अवन्ति, पाटलिपुत्र, कलिंग देश में एक युद्ध-क्षेत्र
उपसंहार का	: दिल्ली

समय

नाटक का	: ईसा के २६३ वर्ष पूर्व से ईसा के २३५ वर्ष पूर्व तक
उपसंहार का	: सन् १९४७

'अशोक' नाटक में आये हुए कुछ प्राचीन शब्दों का अर्थ

पृष्ठ	शब्द	अर्थ
पृष्ठ ५	— राष्ट्रीय	= राज्यपाल, गवर्नर
पृष्ठ १०	— महामात्य	= प्रधान मंत्री
,,	— लिपिकार	= लिखने वाला
,,	— मुद्रिका	= मोहर (सील)
पृष्ठ १४	— गर्भागार	= राजभवन का भीतरी भाग
,,	— अवरोधन	= अन्तःपुर, जनानखाना
पृष्ठ १५	— महादेवी	= पटरानी
पृष्ठ २३	— राजुक	= राज्य-कर्मचारी जिसका स्थान आधुनिक कमिश्नर के सदृश होता था।
,,	— युक्त	= राज्य-कर्मचारी जिसका स्थान आधुनिक काल के जिलाधीश के सदृश होता था।
पृष्ठ २४	— उष्णीश	= सिर पर बाँधने का एक प्रकार का वस्त्र, पगड़ी या साफ़ा।
पृष्ठ ३७	— विहार यात्रा	= अशोक के समय की वह यात्रा जिनमें नागरिक खा-पीकर आनंद करने के लिये इधर-उधर घूमते थे।
पृष्ठ ७५	— नगर व्यावहारिक	= वह कर्मचारी जिसके आधीन नगर का प्रबंध रहता था।
,,	— प्रदेष्ट्री	= वह राज्य-कर्मचारी जिसके आधीन कोई विशिष्ट प्रदेश रहता था।
पृष्ठ ७८	— उपयुक्त	= छोटे राज्य-कर्मचारी
,,	— विनययुक्त	= उपयुक्त से छोटे राज्य-कर्मचारी
,,	— ग्राम कूट	= ग्राम का राज्य कर्मचारी
,,	— अंत महामात्य	= सीमाप्रान्तों का उच्च राज्य-कर्मचारी
,,	— व्रजभूमिक	= वे राज्य-कर्मचारी जो गोचर भूमि का प्रबंध करते थे।
,,	— मुखदूत	= दूत
पृष्ठ ७९	— अनुस्यानयन	= एक परिषद् जिसमें प्रजा के प्रतिनिधि भाग लेते थे।

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान : अवन्ति के राजभवन में असंधिमित्रा का कक्ष

समय : उषःकाल

[कक्ष काष्ठ का बना हुआ है। इसकी तीन ओर की भित्तियाँ दीखती हैं, जिनके काष्ठ पर खुदाव का काम है। भित्तियों में कुछ छोटे-छोटे द्वार और खिड़कियाँ भी हैं। भित्तियों पर कुछ रंगीन चित्र लगे हैं, पर इन पर काँच नहीं हैं। कक्ष की छत भी काष्ठ की है और उस पर भी खुदाव का काम है। कक्ष की भूमि पर रंग-बिरंगी बिछावन बिछी है, जिस पर काष्ठ के शयन (एक प्रकार के उस काल के सोफा) और काष्ठ की आसन्दियाँ (एक प्रकार की उस काल की कुर्सियाँ) रखी हैं। शयन और आसन्दियों पर श्वेत वस्त्र से ढकी हुई गद्दियाँ बिछी हैं और गद्दियों पर श्वेत वस्त्र से ढके हुए तकिये लगे हैं। चाँदी की कुछ दीवटों पर दीप जल रहे हैं और कुछ धूपदानियों से धूप का मन्द-मन्द धूम उठ रहा है। एक शयन पर असंधि-मित्रा बैठी हुई तमूरा बजाकर गा रही है। असंधिमित्रा लग-भग तीस वर्ष की गौर वर्ण की अत्यन्त सुन्दर स्त्री है, मुख और शरीर के सारे अवयव ढले हुए से। वह शरीर पर कौशेय वस्त्र की साड़ी पहने है, उसी प्रकार का वस्त्र वक्षःस्थल पर बाँधे

है। उसके अंगों पर स्वर्ण के रत्न-जटित आभूषण हैं।]

गीत

छिपी तारों में मृदु झंकार।
लीन विस्मृति में सुख का सार,
हृदय की स्मृतियों का मधुभार,
जगाता एक नया संसार।
मधुर, नव, मूक, सलज उल्लास,
मौन अधरों पर खिलता हास,
नयन में बिम्बित स्वप्न-विलास,
विगत का सहज सरल इतिहास,
पुलक भरता तन में अनजान,
बीन से झरते सस्वर गान,
दूर से सुन किसका आह्वान,
चकित से चञ्चल होते प्राण।

[अशोक का प्रवेश। अशोक की अवस्था लगभग पैंतीस वर्ष की है। वह गेहुँए रंग का ऊँचा-पूरा गठे हुए शरीर का सुन्दर व्यक्ति है। वह भी कौशेय वस्त्र का अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किये है। उसके अंगों में भी स्वर्ण के रत्न-जटित भूषण हैं। सिर खुला हुआ है और उस पर लम्बे केश लहरा रहे हैं। अशोक असंधिमित्रा के निकट आसन पर बैठ जाता है। अशोक को देख असंधिमित्रा तमूरे को एक ओर रख देती है।]

अशोक : कुछ पहले ही पहुँच गया होता, परन्तु ···

असंधिमित्रा : (बीच ही में) परन्तु मेरे गीत की भनक ने रोक दिया ?

अशोक : हाँ, देवि, उस मधुर स्वर-लहरी में द्वार पर ही डूबा रहा। (कुछ रुककर) कितना···कितना सुन्दर एवं सुरीला गान था; और···और उसकी मधुरता बढ़ गयी थी आज के इस मंगल दिवस के कारण।

असंधिमित्रा : आज हमारे विवाह का बारह वर्ष का एक युग पूर्ण होता है, नाथ।

अशोक : महेन्द्र भी आज दस वर्ष का हुआ और आज ही उसकी ग्यारहवीं वर्षगाँठ भी है। (कुछ रुककर) ऐसे दिवसों पर भूत की कितनी बातों का स्मरण हो आता है, प्रिये। पिताजी का मुझे इस अवन्तिका के राष्ट्रीय पद पर नियुक्त कर भेजना, विदिशा में अचानक तुम्हारे दर्शन, तुम्हारे पिता देव की अनुमति से एकाएक विवाह, कुछ ही समय में पुत्र रत्न की प्राप्ति और उसके दो वर्ष पश्चात् ही पावन कन्या का जन्म।

असंधिमित्रा : अब तक के जीवन के संस्मरण तो बड़े सुखद हैं, नाथ।

अशोक : और भविष्य तो सदा अनिश्चित रहता ही है।

असंधिमित्रा : विशेषकर उनका भविष्य जिनका राजनीति से संबंध है।

अशोक : ठीक कहती हो, प्रियतमे, यह राजनीति सदा ही अनिश्चित रहती है।

असंधिमित्रा : उन्नति और अवनति दोनों ही दृष्टि से, नाथ।

अशोक : हाँ, दोनों ही दृष्टि से, देवि। जिस समय भारत विदेशियों के आक्रमणों से पद-दलित हो रहा था कौन जानता था एकाएक पितृव्य चन्द्रगुप्त का उदय होगा और वे आर्य-चाणक्य की सहायता से अलक्षेन्द्र के सदृश विश्व-विजेता को भारत भूमि से निकाल देंगे। कौन जानता था पितृव्य चन्द्रगुप्त ही सिल्यूकस को हरा उनकी कन्या हेलन से विवाह करेंगे।

असंधिमित्रा : हाँ, मौर्यवंश का अब तक का इतिहास तो अत्यन्त जाज्वल्यमान रहा है।

अशोक : पर भविष्य की तुम्हें चिन्ता है !

असंधिमित्रा : तुम्हीं ने अभी स्वीकार किया कि राजनीति बड़ी अनिश्चित वस्तु है।

अशोक : पितृव्य चन्द्रगुप्त की देन को पिताजी सुरक्षित तो रख सके, कोई शत्रु सिर न उठा सका इसीलिए वे अमित्राघाट की पदवी से विभूषित हैं, परन्तु राज्य का और विस्तार उनसे न हो सका। इस विश्व में वस्तुएँ स्थिर नहीं रहतीं, या तो उन्नति होती है या अवनति। भविष्य उन्नतिशील इस लिए और भी प्रतीत नहीं होता कि पिताजी वृद्ध हो गये हैं और उनके पश्चात् सुसीम के सदृश व्यक्ति सम्राट होंगे।

असंधिमित्रा : यदि तुम्हारी विमाता के सुसीम को जन्म देने के पूर्व माता सुभद्रांगी ने तुम्हें जन्म दे दिया होता, सुसीम तुम्हारा अग्रज न होता !

[अशोक सिर झुकाकर कुछ सोचने लगता है। असंधि-मित्रा उसकी ओर देखती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

अशोक : (सिर उठाते हुए) पर एक बात जानती हो, प्रिये ?

असंधिमित्रा : क्या ?

अशोक : मुझे कई बार संस्कृत की एक उक्ति स्मरण हो आती है।

असंधिमित्रा : कौनसी ?

अशोक : 'वीर भोग्या वसुन्धरा'।

असंधिमित्रा : (कुछ आश्चर्य से) तो क्या मौर्यवंश में गृह-कलह होगा, प्रिय !

अशोक : सुसीम के सदृश पुरुषार्थहीन, अकर्मण्य, नपुंसक व्यक्ति के हाथ में भारतीय साम्राज्य की सत्ता जाने और उसके विध्वंस, नष्ट-भ्रष्ट होने की अपेक्षा मौर्यवंश का गृह-कलह कदाचित कहीं अधिक कल्याणकारी होगा !

[प्रतिहारी का प्रवेश। प्रतिहारी वृद्ध व्यक्ति है; लम्बी मूँछें और श्वेत दाढ़ी है। ऊपर के अंग में एक लम्बा कंचुक पहने है और नीचे के अंग में अधोवस्त्र। सिर पर पगड़ी है। अंगों में स्वर्ण के भूषण हैं। उसके हाथ में एक लम्बे पोंगले में राजपत्र हैं। वह आकर झुककर अभिवादन करता है तथा पत्र अशोक को देता है।]

प्रतिहारी : मगध से राजराजेश्वर का यह पत्र लेकर एक अश्वारोही आया है, श्रीमान्।

[अशोक पोंगला को खोलकर पत्र पढ़ता है। असंधिमित्रा

अशोक की ओर देखती है। प्रतिहारी सिर झुकाये हाथ बाँधे खड़ा रहता है।]

अशोक : (पत्र पढ़ने के पश्चात् आतुरता से खड़े हो, प्रसन्न-मुद्रा में, प्रतिहारी से) अच्छा, तुम जाओ, प्रतिहारी। मगध के अश्वारोही को अतिथि-आलय में सुविधापूर्वक ठहरा दो।

[प्रतिहारी का नमन कर प्रस्थान।]

अशोक : (प्रसन्नता से असंधिमित्रा से) तक्षशिला में विद्रोह हुआ है; सुसीम उसका दमन नहीं कर पा रहा है। पिताजी ने मुझे तत्काल तक्षशिला प्रस्थान की आज्ञा भेजी है। (इधर-उधर टहलने लगता है।)

असंधिमित्रा : तुमने कुछ ही क्षण पूर्व सुसीम के लिए पुरुषार्थ-हीन, अकर्मण्य, नपुंसक विशेषणों का प्रयोग ही किया था।

अशोक : मेरे वे विशेषण कितने सही थे, उनका तुम्हें कुछ ही क्षणों में प्रमाण मिल गया, देवि। (फिर शयन पर बैठ जाता है।)

असंधिमित्रा : (कुछ दुखित स्वर में) तो अब तुम्हारा तक्ष-शिला प्रस्थान होगा !

अशोक : मेरा अकेले नहीं, साथ में तुम, महेन्द्र, संघमित्रा सब चलेंगे।

असंधिमित्रा : (कुछ आश्चर्य से) तक्षशिला के विद्रोह का दमन सकुटम्ब चलकर करोगे, नाथ ?

अशोक : यहाँ से सकुटम्ब चलेंगे। पाटलिपुत्र में तुम लोगों को

छोड़ दूँगा और तक्षशिला के विद्रोह का दमन कर मैं शीघ्र ही पाटलिपुत्र लौट आऊँगा ।

असंधिमित्रा : नहीं, महेन्द्र और संघमित्रा को पाटलिपुत्र छोड़कर हम दोनों तक्षशिला चलेंगे ।

अशोक : यह भी हो सकता है ।

असंधिमित्रा : (**प्रसन्नता से**) यह कार्यक्रम सर्वथा ठीक है ।

अशोक : (**विचारते हुए**) देखो, प्रियतमे, यह सुसीम एक प्रदेश का विद्रोह भी शान्त न कर सका । यदि भारतीय साम्राज्य इसके हाथ में गया तो उसकी क्या दशा होगी इसका अनुमान किया जा सकता है ।

असंधिमित्रा : बिलकुल !

अशोक : मैंने अभी तुम्हें संस्कृत की एक उक्ति बताई थी 'वीर भोग्या वसुन्धरा' । मुझ में कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है यह मैं नहीं कहता; महत्त्वाकांक्षा मानव की स्वाभाविक वृत्ति है ।

असंधिमित्रा : इसमें भी कोई सन्देह है ।

अशोक : परन्तु इस महत्त्वाकांक्षा के अतिरिक्त भी जब मैं देश की ओर दृष्टिपात करता हूँ तब भी मुझे सुसीम का सम्राट होना किसी भी प्रकार देश के लिए कल्याणकारी नहीं दीखता ।

असंधिमित्रा : कदापि नहीं ।

अशोक : पितृव्य चन्द्रगुप्त की देन का पिताजी यदि विस्तार नहीं कर पाये तो कम से कम उन्होंने उसका संरक्षण तो किया । सुसीम से यह नहीं होने वाला है ।

असंधिमित्रा : कभी नहीं होगा ।

अशोक : तक्षशिला के विद्रोह का दमन कर मुझे यह देखना है कि भारतीय साम्राज्य किसी प्रकार भी उस पुरुषार्थ-हीन, अकर्मण्य और नपुंसक व्यक्ति के हाथ में न जावे । मेरे इस कार्य में महामात्य राधागुप्त भी मेरे सहायक होंगे । मेरे तक्षशिला जाने को पिता जी की आज्ञा का यह राज पत्र महामात्य राधागुप्त का लिखा हुआ है । उनके अक्षर मैं पहचानता हूँ । पत्र पर गोपनीय शब्द अंकित है, ऐसे पत्रों के लिए लिपिकार का कार्य स्वयं महामात्य करते हैं और मुद्रिका के साथ हस्ताक्षर होते हैं सम्राट के ।

[अशोक पत्र असंधिमित्रा को देता है । असंधिमित्रा उसे पढ़ती है । कुछ देर निस्तब्धता ।]

अशोक : मैं समझता हूँ, प्रिये, मेरे उत्कर्ष का समय आ पहुँचा है । तक्षशिला के विद्रोह का दमन मेरे बायें हाथ का खेल है । सुसीम जो न कर सका क्षणों में कर डालने पर मेरा जो स्थान होगा उसका तुम अनुमान कर सकती हो ।

असंधिमित्रा : वह अद्वितीय स्थान होगा ।

अशोक : पिता जी के पश्चात् यदि भारतीय साम्राज्य मेरे हाथ में आया तो भारत के एकीकरण में जो कसर पितृव्य चन्द्रगुप्त के समय में भी रह गयी है उसे मैं पूर्ण करूंगा । ऐसा साम्राज्य होगा ऐसा उसका प्रबन्ध जैसा इस देश के इतिहास में कभी नहीं हुआ ।

[महेन्द्र और संघमित्रा का प्रवेश । महेन्द्र की अवस्था

लगभग दस वर्ष की और संघमित्रा की लगभग आठ वर्ष की जान पड़ती है। दोनों गौर वर्ण के अत्यन्त सुन्दर बालक हैं। महेन्द्र ऊपर के अंग में कौशेय वस्त्र पर सुनहरी काम का एक कंचुक पहने है और नीचे के अंग में सुनहरी काम वाले कौशेय वस्त्र का ही अधोवस्त्र है। उसके सिर पर एक छोटा सा रत्न-जटित मुकुट है, अंगों में स्वर्ण के रत्न-जटित भूषण। संघमित्रा की वेषभूषा भी महेन्द्र के सदृश ही है। इतना ही अन्तर है कि उसके सिर पर मुकुट नहीं है। उसके सिर के लम्बे केश सिर पर लहरा रहे हैं। महेन्द्र दौड़कर पहले असंधिमित्रा और फिर अशोक के चरण स्पर्श करता है। दोनों उसके सिर पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद देते हैं।]

असंधिमित्रा : ये वर्षगाँठ के प्रणाम हैं न ?

संघमित्रा : हाँ माँ; ये आज बड़ी-बड़ी बातें सोचकर अपने जन्म-दिन की प्रणाम करने आये हैं।

अशोक : क्या-क्या बातें सोचकर आया है, महेन्द्र ?

महेन्द्र : कुछ नहीं, पिता जी, यह बड़ी दुष्टा है। झूठ-मूठ कुछ भी कहा करती है !

संघमित्रा : आप ही कहिए मैं कभी झूठ बोलती हूँ ?

अशोक : कभी नहीं, तुझ जैसी सत्यवादिनी इस सृष्टि में कभी कोई उत्पन्न ही नहीं हुई।

[**अशोक और असंधिमित्रा का अट्टहास। संघमित्रा कुछ लज्जित हो जाती है।]**

अशोक : (**संघमित्रा से**) अच्छा, बता यह क्या-क्या सोचकर

आया है ?

संघमित्रा : यह कहता था, आज अपने जन्म-दिन को मैं सौगंध खाता हूँ कि मैं चन्द्रगुप्त से भी बड़ा चक्रवर्ती सम्राट होऊँगा। इसके लिए यदि रक्त की नदियाँ बहानी पड़ें तो उन्हें भी बहाऊँगा। मेरी वीरता से शत्रुओं की सेनाएँ इस तरह तितर-बितर होंगी जैसे सूर्य की किरणों से कुहरा। अपने शौर्य से मैं हिमालय के शिखरों को कँपाऊँगा; समुद्र की लहरों तक को रोक दूँगा और अन्त में जिस प्रकार चद्रगुप्त ने यवन राजकुमारी हेलन से विवाह किया उसी प्रकार केवल यवन राजकुमारी से नहीं पर जितनी भी शत्रुओं की सुन्दर राजकुमारियाँ मिलेंगी उन सबसे विवाह करूँगा।

[अशोक और असंधिमित्रा का अट्टहास। महेन्द्र कुछ लज्जित हो जाता है।]

असंधिमित्रा : पितृव्य चन्द्रगुप्त के युद्धों का वर्णन इसने पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ा है, और उसी का अनुसरण स्वयं करना चाहता है।

अशोक : **(महेन्द्र को गोद में बिठाले हुए)** हाँ-हाँ, बेटा, तुम मौर्य वंश में सबसे शूर और प्रतापी होगे। जो कोई न कर सका वह तुम करोगे।

[असंधिमित्रा संघमित्रा को अपनी गोद में बिठा लेती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

अशोक : **(असंधिमित्रा से)** अच्छा, अब फिर से उठाओ तो

तमूरा, इस मंगल दिवस को मंगल यात्रा के समय एक मंगल गान और हो।

[असंधिमित्रा तमूरा उठा गान आरम्भ करती है।]

गीत

जागो जीवन के शुभ मंगल !
गति अबाध, पथ सहज सरल।
कुश कण्टक विरहित अवनीतल;
ज्योतित गगन, समीर सुशीतल;
विकच कमल, सरिता सर निर्मल;
लक्ष्य सुलक्षित चरण अचंचल।
विगत मोह भ्रम, निश्चय अविचल;
चिर प्रकाश उज्ज्वल अन्तस्तल।

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान : पाटिलपुत्र के राजभवन के गर्भागार के
अवरोधन में सुभद्रांगी का कक्ष ।

समय : रात्रि

[कक्ष काष्ठ का है; लगभग वैसा ही और उसी प्रकार सजा हुआ, जैसा प्रथम दृश्य का कक्ष था । सुभद्रांगी इधर-उधर बेचैनी से टहलती हुई गा रही है; पर इस बेचैनी में कभी-कभी उसकी मुद्रा में प्रसन्नता भी दीख पड़ती है । सुभद्रांगी की अवस्था लगभग ५५ वर्ष की है । वर्ण-गौर है, वृद्धावस्था के निकट पहुँचने पर भी सुभद्रांगी में प्रौढ़ सौन्दर्य है । कौशेय वस्त्र की साड़ी पहने है और उसी प्रकार का वस्त्र वक्ष-स्थल पर बाँधे है । अंगों में स्वर्ण के जटित आभूषण हैं ।]

गीत

मन रे ! संशय में मत भूल;
चंचल आन्दोलन यह तेरा कब पायेगा कूल !
तिमिर-यवनिका सस्मित सरका, झाँक रहा अज्ञात;
तरुण, किरण के अरुण जाल में खिला नवीन प्रभात;
कण्टकों में विकसेंगे फूल ।
सतम, सघन, पट भेद गगन में छाया शरद विकास;
जगती के अंचल पर बिखरा जीवन का सुख हास;
नियति-निर्णय, निश्चय अनुकूल ।

[गीत पूर्ण होते-होते राधागुप्त का प्रवेश । राधागुप्त लगभग ४० वर्ष का गेहुँए रंग का ऊँचा-पूरा सुन्दर व्यक्ति है । कौशेय वस्त्र का अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किये हुए है । अंगों में स्वर्ण के रत्न-जटित आभूषण हैं । सिर खुला है और लम्बे बाल हैं ।]

राधागुप्त : महादेवी ने मुझे आने की आज्ञा भिजवायी थी, अत: सेवा में उपस्थित हूँ ।

सुभद्रांगी : हाँ, महामात्य, मैंने आपको इसलिए बुलवाया था कि अमित्राघाट का स्वास्थ्य दिनोंदिन अधिकाधिक बिगड़ता ही जा रहा है । आज सन्ध्या को तो बहुत अधिक बिगड़ गया था ।

राधागुप्त : मुझे ज्ञात है, महादेवी, थोड़ी देर पहले ही मैं कुछ आवश्यक राजपत्रों पर हस्ताक्षर लेने उनकी सेवा में गया था । अब तो स्वास्थ्य कुछ ठीक है ।

सुभद्रांगी : हाँ, बीच-बीच में कुछ ठीक हो जाता है, परन्तु, वृद्धावस्था है, निर्बलता बहुत अधिक हो गयी है, दिन-पर-दिन स्वास्थ्य गिरता ही जाता है । मुझे एक ओर उनकी चिन्ता है, दूसरी ओर अशोक की । **(शयन पर बैठती है ।)**

राधागुप्त : (शयन के निकट की आसन्दी पर बैठते हुए) राजपुत्र अशोक की चिन्ता से तो अब आप मुक्त हो जायँ, महादेवी ।

सुभद्रांगी : (कुछ आश्चर्य और कुछ प्रसन्नता से) अशोक की चिन्ता से मुक्त हो जाऊँ, कैसे मुक्त हो जाऊँ, महामात्य ?

राधागुप्त : राजपुत्र सुसीम दीर्घकाल तक तक्षशिला के जिस

विद्रोह का दमन न कर पाये थे, वरन् आये दिन सूचना मिलती थी कि वे भीरुता के कारण पलायन करने वाले हैं, उसी विद्रोह का राजपुत्र अशोक ने जिस शीघ्रता, शौर्य और साहस से दमन किया है, उसके कारण उनका राज्य में बड़ा भारी स्थान हो गया है।

सुभद्रांगी : सो तो मैं भी जानती हूँ, परन्तु अशोक के संबंध में अमित्राघाट क्या करने वाले हैं ?

राधागुप्त : मैं अभी निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता, पर मुझे आशा यही है कि वे युवराज पद पर राजपुत्र अशोक को ही प्रतिष्ठित करेंगे।

सुभद्रांगी : आपको आशा है या विश्वास ?

राधागुप्त : (मुस्कराकर) आप आशा के स्थान पर विश्वास शब्द को प्रतिष्ठित कर सकती हैं। देखिए, महादेवी, मेरे लिए राजपुत्र सुसीम और राजपुत्र अशोक दोनों ही एक से हैं। राजपुत्र सुसीम अग्रज हैं, अतः युवराज पद पर उनका प्रतिष्ठित होना नियमानुकूल भी है। परन्तु मेरे लिए चाहे राजपुत्र सुसीम और राजपुत्र अशोक समान ही क्यों न हों, राजपुत्र सुसीम का युवराज होना नियमानुकूल ही क्यों न हो, परन्तु राजपुत्र सुसीम के सम्राट होने से मुझे भारत का भविष्य अंधकारमय दीखता है। राजराजेश्वर सम्राट चन्द्रगुप्त ने आर्य चाणक्य की सहायता से जिस चक्रवर्ती राज्य की स्थापना की वह राज्य राजपुत्र सुसीम के सम्राट होने पर सुरक्षित रहेगा इसकी मुझे आशा नहीं है। इतना

ही नहीं, यदि राजसत्ता राजपुत्र सुसीम के हाथ में आयी तो मुझे भय है कि विदेशी पुनः इस पुण्य भूमि को पद-दलित करेंगे। अतः मेरा प्रयत्न है कि अमित्राघाट राज-पुत्र अशोक को ही युवराज पद पर प्रतिष्ठित करें।

[विगताशोक का प्रवेश। विगताशोक की अवस्था लगभग तीस वर्ष की है। रंग और रूप में वह अशोक से मिलता-जुलता है। वेशभूषा राधागुप्त के सदृश। विगताशोक को देख राधा-गुप्त खड़ा हो जाता है।]

विगताशोक : महामात्य, आप माताजी से जो कुछ कह रहे थे, उसका अंतिम अंश मैंने भी सुन लिया और मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि यदि आप अपने प्रयत्न में असफल हुए और पिताजी ने आर्य अशोक को युवराज पद पर प्रतिष्ठित न किया तो सुसीम से मैं युद्ध करूँगा। मौर्यवंश के रक्त से यह भूमि प्लावित हो जायगी। परन्तु यह रुधिर भारत की भावी संकटकालीन स्थिति को बचायेगा। गृह-कलह बुरी वस्तु है; परन्तु समूचे देश के कल्याण की दृष्टि से यह गृह-कलह भी करना पड़े तो वह बुरा नहीं। जो सुसीम एक प्रदेश के विद्रोह का दमन नहीं कर सका, वह भार-तीय साम्राज्य की क्या रक्षा करेगा? मैं पलों में उसे परास्त कर राज्यसिंहासन आर्य अशोक के चरणों में अर्पित करूँगा।

राधागुप्त : (मुस्कराते हुए) शान्त होइए, राजपुत्र, और बैठिए। ऐसा अवसर ही न आयगा, इसकी मुझे आशा है।

विगताशोक और राधागुप्त आसन्दियों पर बैठते हैं ।]

सुभद्रांगी : (राधागुप्त से) आपने पुनः आशा शब्द का उपयोग किया ?

राधागुप्त : (मुस्कराकर) आप पुनः आशा के स्थान पर विश्वास शब्द को प्रतिष्ठित कर सकती हैं, महादेवी ।

[बिन्दुसार का प्रवेश। बिन्दुसार वृद्ध और कृश हैं। रंग गेहुँआ, शरीर ऊँचा-पूरा, परन्तु कृशता के कारण कमर कुछ झुकी हुई। सिर, भवें और मूँछों दाढ़ी के समस्त केश सन के सदृश श्वेत । कौशेय का उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण है । अंगों में रत्न-जटित भूषण हैं । बिन्दुसार धीरे-धीरे लाठी टेकता हुआ आता है । उसे देख सुभद्रांगी, राधागुप्त और विगताशोक खड़े हो जाते हैं ।]

बिन्दुसार : (राधागुप्त को देख) अच्छा, मैं तुम्हें बुलाने वाला ही था । अच्छा हुआ तुम पहले से ही यहाँ उपस्थित हो ।

राधागुप्त : महादेवी ने मुझे बुलवाया था इसीलिए मैं आया था, श्रीमान् !

बिन्दुसार : (शयन पर बैठते हुए) बैठो, सुभद्रांगी, बैठो, राधागुप्त, बैठो, वत्स ।

[सब लोग आसन्दियों पर बैठ जाते हैं ।]

बिन्दुसार : (गला साफ करते हुए राधागुप्त से) राधागुप्त, कुछ दिनों से तुम्हारी और मेरी जो चर्चा चल रही थी उस संबंध में आज मैंने अंतिम निर्णय कर लिया ।

राधागुप्त : किस विषय पर, महाराज ?

विन्दुसार : युवराज पद किसे दिया जाय, इस विषय पर।

राधागुप्त : मुझे विश्वास है श्रीमान् का निर्णय भारतीय साम्राज्य और मौर्यवंश दोनों के लिए हितकारी होगा।

विन्दुसार : सो तो कहना कठिन है, परन्तु मैं समझता हूँ कि वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए जो निर्णय मैंने किया है वह उपयुक्त ही है। मैं अशोक को युवराज पद पर प्रतिष्ठित करता हूँ।

राधागुप्त : (**उत्साह भरे स्वर में**) सम्राट का निर्णय सर्वथा समयानुकूल है और मुझे विश्वास है कि इस निर्णय का साम्राज्य के हर स्थल में स्वागत होगा।

सुभद्रांगी : (**गद्गद् स्वर में**) नाथ !......नाथ......

विगलाशोक : (**पुलकित स्वर में**) पिताजी !...... पिताजी......

विन्दुसार : (**राधागुप्त से**) पर देखो, राधागुप्त, मेरा यह निर्णय परिस्थिति के अनुसार चाहे ठीक हो पर नियमानुकूल नहीं है। सुसीम बड़ा है अतः नियमानुसार उसे ही युवराज पद दिया जाना चाहिए था। परन्तु सुसीम और अशोक में जो अन्तर है उसके कारण यह विषय दीर्घकाल से मेरी दिवस की चिंता और रात्रि का स्वप्न रहा है। तक्षशिला में अभी जो कुछ हुआ उसने सुसीम और अशोक के अन्तर को और अधिक स्पष्ट कर दिया। मैं बहुत वृद्ध हो गया हूँ, रुग्ण भी हूँ। अस्वस्थता और निर्बलता अधिकाधिक बढ़ती जाती है। अतः इस निर्णय का समय आगया था और इसीलिए मैंने आज यह निर्णय कर

भी डाला। परन्तु अशोक में शौर्य, पराक्रम, साहस सब कुछ होते हुए भी मुझे भय है कि मेरी मृत्यु के पश्चात् मौर्य वंश में गृह-कलह होकर रहेगा। राधागुप्त तुम्हारे ऊपर उसे सँभालने का बड़ा भारी उत्तरदायित्व है।

विगताशोक : पिता जी आप इस संबंध में तनिक भी चिंतित न हों; उस सारे गृह-कलह को समाप्त करने के लिए मैं अकेला ही यथेष्ट हूँ।

विन्दुसार : अशोक के अनुज विगताशोक से मुझे ऐसे ही शब्दों की आशा थी।

राधागुप्त : मैं श्रीमान् को आश्वासन देता हूँ कि यदि यह कलह हुआ भी तो उसका शमन अवश्य और त्वरित हो जायगा।

[**नेपथ्य से गान की ध्वनि आती है। सबका ध्यान उस ओर आकर्षित होता है।**]

सुभद्रांगी : निशा-प्रार्थना आरम्भ हो गयी। हम लोग खड़े न होंगें ?

[**सब लोग खड़े हो जाते हैं। विन्दुसार खड़े हो शयन का सहारा लिये रहता है।**]

गीत

जय शान्ति सखी ! रजनी !
राग द्वेष निद्रित कर मन के दे थपकी अपनी।
थकित मनुज की अलसित पलकें,
झुक पड़तीं छू तेरी अलकें,

श्रमित भ्रमित जगती पर फैला अंचल छाँह घनी।
विकल हरिण सा मोह तरसता,
मरु अवनी में कहाँ सरसता,
ममता बरसा, तुहिन-शिशिर मय आँसू ओसकनी।
तम मयि ! माया नगर निवासिनि !
चिर-रहस्य-मय, तारक हासिनि !
विश्व विमोहन मन्त्रोक्षण से कर तन्द्रिल अवनी।

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के राजभवन का सभा आलय

समय : मध्याह्न

[काष्ठ के स्थान पर सभा आलय पाषाण से निर्मित है। आलय की छत पाषाण के मोटे स्तम्भों पर है। हर स्तम्भ की कुम्भी (नीचे की चौकी) कमलाकार बनी हुई है। इस कुम्भी पर गोल स्तम्भ है। स्तम्भ के ऊपर के सिरे पर भरिणी (टोड़ी) है और इस भरिणी के चारों ओर गजशुण्डें हैं, जो ऊपर उठकर छत को स्पर्श किये हुए हैं। न्यायालय की भित्तियों और छत पर खुदाव का काम है। न्यायालय की भूमि पर रंग-बिरंगी बिछावन है। पीछे की भित्ति के समीप एक पत्थर के चबूतरे पर स्वर्ण का सिंहासन है जिसके पाये सिंहाकार हैं। सिंहासन पर सुनहरी काम की गद्दी है और गद्दी पर तकिये। इस समय सिंहासन रिक्त है। सिंहासन के दोनों ओर दो युवतियाँ खड़ी हैं। ये कौशेय की साड़ी पहने हैं और उसी प्रकार का वस्त्र वक्षःस्थल पर बाँधे हैं। स्वर्ण के आभूषण भी धारण किये हैं। एक युवती के हाथ में स्वर्ण के एक थाल में पूजा की सामग्री है और दूसरी युवती के हाथ में स्वर्ण के एक थाल में रत्न-जटित राजमुकुट। सिंहासन के कुछ आगे दाहिनी ओर पत्थर के एक ऊँचे चबूतरे पर व्यासपीठ है। इस पीठ पर श्वेत-

वस्त्र से ढकी गद्दी है, जिस पर तकिये लगे हैं। सिंहासन के दोनों ओर चबूतरे के नीचे स्वर्ण की कुछ आसन्दियाँ हैं। इन आसन्दियों पर श्वेत वस्त्र से ढकी हुई गद्दियाँ हैं, जिन पर तकिये हैं। सिंहासन के निकट की दाहिनी ओर की आसन्दी पर महाधर्माध्यक्ष बैठा है। महाधर्माध्यक्ष की अवस्था सत्तर वर्ष से कम नहीं है। उसके सिर, भवें तथा मूछों दाढ़ी के बाल श्वेत हो गये हैं। वह गौरवर्ण का ऊँचा-पूरा और मोटा व्यक्ति है। केशों की शुभ्रता के अतिरिक्त वृद्धावस्था के कोई चिह्न उसके शरीर पर नहीं हैं। वह सूती मोटे वस्त्र का उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हैं। अंगों पर कोई भूषण नहीं है। सिर पर भस्म लगी हुई है। उसके निकट की दूसरी आसन्दी पर विगताशोक बैठा है। सिंहासन के निकट की बायीं ओर की आसन्दी पर राधागुप्त बैठा है। बायीं ओर की अन्य आस-न्दियों पर महेन्द्र, संघमित्रा हैं। सिंहासन के सामने अर्धचन्द्रा-कार पंक्तियों में रजत की आसन्दियाँ हैं। आसन्दियों पर श्वेत वस्त्र से ढकी हुई गद्दियाँ हैं और गद्दियों पर तकिये। आस-न्दियों का मुख सिंहासन की ओर है। इन आसन्दियों पर राज-पुत्र, राष्ट्रीय, राजुक, युक्त और प्रतिष्ठित नागरिक आदि बैठे हुए हैं। आसन्दियों की पंक्तियों के बीच में से एक मार्ग है, जो सिंहासन तक चला गया है। सारा आलय मंगल कलशों, कदली के वृक्षों, पत्र-पुष्पों की वन्दनवारों से सजाया गया है। मंगल कलश मिट्टी के हैं। इन पर सुन्दर रंगीन बेल-बूटे हैं। इन पर पंचपल्लव हैं, जिनके ऊपर मिट्टी के सकोरों में धूप

जल रही है, जिसका मन्द-मन्द धूम उठ रहा है। थोड़ी ही देर में नेपथ्य में पंच महावाद्यों की ध्वनि सुन पड़ती है। इस ध्वनि को सुन आलय में बैठे हुए सब लोग खड़े हो जाते हैं। स्वर्ण की शिविका पर अशोक का प्रवेश। शिविका के आगे पंच महावाद्य वादक वाद्य बजाते चल रहे हैं। पाँचों कंचुक और अधोवस्त्र पहने तथा सिर पर उष्णीस बाँधे हैं। पाँचों स्वर्ण के आभूषण भी पहने हैं। वाद्य-वादकों के पीछे शिविका के आगे दो छड़ीदार चल रहे हैं। ये भी ऊपर के अंगों में कंचुक पहने हैं और नीचे के अंगों में अधोवस्त्र। इनके सिर पर भी उष्णीस है। ये भी स्वर्ण के आभूषण धारण किये हैं। इनके दाहिने हाथों में स्वर्ण की रत्नजटित मोटी छड़ियाँ हैं। चार शिविका वाहक शिविका को उठाये हुए हैं। ये चारों नीचे के अंग में अधोवस्त्र पहने हैं और शिविका उठाने के कारण इनके ऊपर के अंग खुले हुए हैं। इनके सिर पर भी उष्णीस है और अंगों पर स्वर्ण आभूषण हैं। शिविका खुली हुई है। शिविका के पीछे एक छत्रवाहिका, दो चाँवर वाहिकाएँ और दो व्यजन-वाहिकाएँ हैं। सभी वाहिकाएँ तरुणियाँ हैं। वाहिकाएँ कौशेय की साड़ियाँ पहने हैं और वैसा ही वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे हैं। अंगों पर स्वर्ण के आभूषण धारण किये हैं। छत्र वाहिका शिविका के पीछे बीच में चल रही है। वह स्वर्ण की रत्न-जटित डाँडी वाला कौशेय वस्त्र का श्वेत छत्र अशोक पर लगाये है। इस छत्र में मोतियों की झालर है। छत्रवाहिका के उभय ओर चाँवर वाहिकाएँ चल रही हैं। ये स्वर्ण की रत्न-जटित

डाँडियों वाली सुरा गाय की पुच्छ की श्वेत चाँवरें अशोक पर डुला रही हैं । इन वाहिकाओं के दोनों ओर व्यजन वाहिकाएँ चल रही हैं । ये हाथी दाँत की डाँडियों के खस के व्यजनों से हवा कर रही हैं । अशोक आज राजसी वेश में है । ऊपर के शरीर पर कौशेय वस्त्र का सुनहरी काम वाला पिण्डलियों तक नीचा कंचुक है । नीचे के अंग में वैसा ही सुनहरी कामवाला अधोवस्त्र है । कंचुक पर सुनहरी दमकता हुआ दुकूल है । परन्तु सिर खुला हुआ है । अंगों में रत्नजटित जगमगाते हुए भूषण हैं । शिविका सिंहासन के सामने रखी जाती है । अशोक शिविका से उतरता है । समस्त सभासद हाथ बाँध सिर को बहुत नीचे झुका अभिवादन करते हैं । अशोक सिर झुका अभिवादन का उत्तर देता है और सिंहासन पर बैठता है । छड़ीदार सिंहासन के चबूतरे के नीचे सिंहासन के दोनों ओर खड़े हो जाते हैं । वाहिकाएँ जिस प्रकार शिविका के पीछे चल रही थीं उसी प्रकार सिंहासन के पीछे खड़ी हो जाती हैं । आगे वाद्य-वादक और उनके पीछे शिविका-वाहक शिविका उठाकर बाहर जाते हैं । महाधर्माध्यक्ष उठकर सिंहासन के सामने जा पूजन की सामग्री वाले थाल से कुमकुम लेकर अशोक के ललाट पर राजतिलक करता है, इसके पश्चात् दूसरे थाल से राजमुकुट ले अशोक के सिर पर राजमुकुट लगाता है, तदुपरान्त पूजन के थाल में जो छोटा-सा जल-कलश रखा है, उसे उठा उसी कलश में पड़े हुए कुश से अशोक का मार्जन करते हुए अभिषेक का मन्त्र बोलता है ।]

महाधर्माध्यक्ष : याभिरद्भिरिन्द्रमभ्य सिञ्चत्
प्रजापतिः सोम राजानं वरुणं यमं मनुं
ताभिरद्भि सिञ्चामि त्वामहं
राज्ञां त्वमधिराजोभवेह ।

सभासद : **(एक स्वर से)** महाराजाधिराज, राजराजेश्वर, सम्राट अशोकवर्धन की जय ! महाराजाधिराज राजराजेश्वर अमित्राघाट विंदुसार की जय ! महाराजाधिराज राजराजेश्वर सम्राट चन्द्रगुप्त की जय ! आर्य चाणक्य की जय !

अशोक : **(सिंहासन से उठ व्यास पीठ पर बैठकर)** महाधर्माध्यक्ष, महामात्य, राजपुत्रो, राष्ट्रीयगण, राजुको, युक्तो, नागरिको तथा सभासद्गण ! पूज्यपाद अमित्राघाट पिता जी के स्वर्गारोहण को चार वर्षों के एक युग से भी कुछ अधिक व्यतीत हो गया । यद्यपि उन्होंने अपने जीवन-काल में ही मुझे युवराज पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था और इस संबंध में राजघोषणा भी हो गयी थी तथापि मौर्यवंश के गृह-कलह के कारण गत चार वर्षों तक भारत में रक्तपात होता रहा । आज के राजतिलक का यह समारोह यद्यपि पूज्यपाद पिताजी के स्वर्गारोहण के पश्चात, राजशोक के समय के उपरांत, तुरन्त हो सकता था, परंतु मैंने यह उचित न समझा कि पूज्यपाद पिताजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् राजशोक के समय में ही गृह-कलह के जो काण्ड आरम्भ हो गये थे उनके शमन के पूर्व मैं यह समारोह कराता ।

सभासद : धन्य है ! धन्य है !

अशोक : मैंने यह उचित समझा कि पूज्यपाद पिता जी के मुझे युवराज-पद देने पर भी पहले इसी बात की परीक्षा हो जाय कि राज्यसिंहासन के योग्य कौन व्यक्ति है। इसी लिए जब तक गृह-कलह के शेष के अवशेष का भी अंश इस राज्य में कहीं भी रहा, मैंने आप लोगों की बार-बार इच्छा होने पर भी यह समारोह नहीं होने दिया।

सभासद : धन्य है ! धन्य है !

अशोक : भगवान की कृपा और आप सबकी सद्भावना के कारण मैं इस आत्म-परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक अब समूचे भारतीय साम्राज्य में शान्ति है। अतः 'वीर भोग्या वसुन्धरा' की उक्ति के अनुसार जो राज्य-सिंहासन के योग्य था वही आज इस सिंहासन पर सिंहासनासीन हो सका है।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट अशोकवर्धन की जय !

अशोक : आर्य चाणक्य के शुभ प्रयत्नों से पितृव्य चन्द्रगुप्त ने इस पुण्य भूमि से विदेशियों का निष्कासन कर जिस साम्राज्य को स्थापित किया था, उस साम्राज्य का सारा राजकाज उन्हीं आदर्शों, उद्देश्यों और सिद्धान्तों के अनुसार चलेगा। भारतवर्ष के जो भाग अभी भी साम्राज्य के बाहर हैं वे साम्राज्य में सम्मिलित किये जायँगे। यदि वे स्वयं सम्मिलित होंगे तो मुझे अत्यधिक हर्ष होगा, पर यदि वे स्वयं सम्मिलित न हुए तो बल प्रयोग करके भी

उन्हें सम्मिलित करने में मैं आगा-पीछा न करूँगा ।

सभासद : अवश्य, अवश्य ।

अशोक : यह इसलिए कि केवल भारत का ही नहीं पर समूचे जंबूद्वीप का भावी उत्कर्ष मैं भारतीय साम्राज्य की एकता पर मानता हूँ ।

सभासद : निस्संदेह, निस्संदेह ।

अशोक : इसी के साथ उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक समूचे भारत में शांति की स्थापना रहेगी और उस शांति को भंग करने का यदि किसी ने प्रत्यक्ष में या परोक्ष में, जान में या अनजान में कोई प्रयत्न किया तो उसे मृत्यु-दण्ड से छोटा कोई दण्ड न दिया जायगा ।

सभासद : धन्य है ! धन्य है !

अशोक : इस अवसर पर एक घोषणा और कर दूँ, जिसे सारा संसार सुने । किसी भी विदेशी ने भारत पर यदि भूल से भी लालच भरी कोई कुदृष्टि उठायी, और इसकी मुझे विश्वसनीय सूचना मिली, तो भारत पर तो उसका आक्रमण दूर की बात होगी उस पर भारतीय आक्रमण तत्काल किया जायगा और वह मिट्टी में मिला दिया जायगा ।

सभासद : (उत्साह से) राजराजेश्वर सम्राट अशोकवर्धन की जय ।

अशोक : मेरे इन समस्त कार्यों में मुझे आप सबके सहयोग की वैसी ही आवश्यकता है जैसी गत चार वर्षों के एक युग में मौर्यवंश के गृह-कलह को शमन करने में थी ।

एक सभासद : (अत्यन्त उत्साह से) सबका आपको सहयोग प्राप्त रहेगा।

सभासद : (एक साथ) अवश्य, अवश्य।

एक सभासद : भारतीय साम्राज्य के एक-एक बालक, युवक और वृद्ध का।

दूसरा सभासद : नर और नारियों सभी का।

सभासद : (एक साथ अत्यन्त उत्साह से) निस्संदेह।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट अशोकवर्धन की जय !

अशोक : इस भारतीय साम्राज्य के महामात्य आर्य राधागुप्त होंगे और इस शुभ अवसर पर मैं उन्हें एक नयी उपाधि से विभूषित करता हूँ, यह उपाधि है 'अग्रामात्य' !

सभासद : (उत्साह से) 'अग्रामात्य' आर्य राधागुप्त की जय !

[अशोक व्यासपीठ से उठकर पुनः सिंहासन पर बैठता है। बहुत देर तक उत्साह से जयघोष होता रहता है। अब नर्त्तकियाँ आती हैं, और नृत्य होता है। नर्त्तकियाँ युवतियाँ हैं। इनकी और वाहिकाओं की वेश-भूषा में इतना ही अन्तर है कि इनके नीचे के अंग की साड़ियों में नृत्य के लिए अधिक घेर है और पैरों में घूँघरू हैं। नृत्य के पश्चात् गान होता है।]

गीत

सृष्टि को घेरे बहु विध ताप।
नियति का अति निष्ठुर अभिशाप।
ताप से त्रसित मनुज अवलोक,
नयन में नीर हृदय में शोक,

द्रवित उर में प्रतिबिम्बित क्रान्ति।
स्वर्ग से भू पर आयी शान्ति।
अहिंसा का पावन सन्देश,
बने भू पर तव, राज्यादेश,
भीत त्रसित दुर्बल संसार।
युगों तक मानेगा आभार।

यवनिका

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के राजभवन के गर्भागारके
अवराधन में असंधिमित्रा का कक्ष

समय : रात्रि

[यह कक्ष यद्यपि वैसा ही है तथा उसी प्रकार सजा है जैसे पहले अंक के पहले और दूसरे दृश्य का कक्ष था तथापि यह काष्ठ के स्थान में पत्थर का बना हुआ है। असंधिमित्रा एक शयन पर बैठी हुई तमूरा बजाकर गा रही है।]

गीत

कब जाना है उस ओर!
किस रहस्य से आवृत सजनी! जीवन का वह छोर?
विस्मृति में स्मृति का विकास,
अन्धकार में किरण-हास,
सिन्धु पार कर पहुँच विन्दु पर पा जाऊँगी भोर।
आशा का उन्माद भग्न,
उदासीन आनन्द मग्न,
स्वप्नों की मोहक छलना में जाग्रति जगी हिलोर।

[गीत पूर्ण होते-होते कारुबाकी का प्रवेश। असंधिमित्रा में अब प्रौढ़ता आ गयी है। कानों के समीप कुछ बाल भी

श्वेत हो गये हैं। वेश-भूषा पहले के समान है। कारुबाकी लगभग ३० वर्ष की अवस्था की युवती है। वर्ण गौर, मुख और शरीर के अवयव अत्यन्त सुन्दर। वह कौशेय वस्त्र की सुनहरी काम वाली साड़ी पहने है और इसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे हैं। अंगों में रत्न-जटित आभूषण हैं।]

कारुबाकी : जीजी, शरीर और मन की प्रौढ़ता के साथ ही आपके स्वर और गान के विषय में भी प्रौढ़ता आ चली है। (शयन के निकट की आसन्दी पर बैठती है।)

असंधिमित्रा : (मुस्करा कर) यह अच्छी बात है या बुरी ?

कारुबाकी : (कुछ विचारते हुए) यह कहना तो कठिन है, परन्तु इस सृष्टि के नियमों के अनुसार बाल्यावस्था, तरुणाई, प्रौढ़ता और वृद्धावस्था ये सब अवश्यम्भावी हैं।

असंधिमित्रा : और यदि तरुणाई में ही किसी का मन प्रौढ़ होने लगे तो ?

कारुबाकी : तो वह उतनी ही बुरी बात होगी जितनी प्रौढ़ावस्था में मन की तरुणाई।

[दोनों जोर से हँस पड़ती हैं।]

कारुबाकी : जीजी, मैं सुना करती थी कि सौतों के सम्बन्ध बड़े संतापकारी होते हैं और यदि एक सौत प्रौढ़ हो और दूसरी युवती तब तो वह प्रौढ़ा युवती के जीवन को नरकवत् बना देती है। परन्तु यहाँ तो बात ही उलटी हुई। मैंने आप से जैसा स्नेह पाया वैसा तो माता से भी न मिला था।

असंधिमित्रा : कह नहीं सकती तुम्हारे इस कथन में कितनी

अतिशयोक्ति है। परन्तु सौतों का सम्बन्ध संतापकारी क्यों होना चाहिए यह मेरी समझ में नहीं आता।

कारुबाकी : इसलिए कि सौत पति के प्रेम में साझेदार होती है।

असंधिमित्रा : पर सच्चे स्नेह का स्वरूप तो संकीर्ण न होकर व्यापक है। वह तो समस्त सृष्टि पर फैलाया जा सकता है। और यदि सृष्टि की अनन्त वस्तुएँ स्नेह के संसार में साझेदार रह सकती हैं तो सौतें क्यों नहीं ?

कारुबाकी : परन्तु, जीजी, प्रणय के सच्चे रूप को पहचानने की शक्ति होनी चाहिए और उसी के साथ उदारता।

असंधिमित्रा : फिर एक बात और देखो; पुरुषों के लिए बहु-पत्नियाँ कदाचित स्वाभाविक बात है।

कारुबाकी : यह तो आप नहीं कह सकतीं।

असंधिमित्रा : क्यों ?

कारुबाकी : इसलिए कि फिर द्रौपदी के लिए क्या कहेंगी ?

[**दोनों का अट्टहास।**]

कारुबाकी : सुनती हूँ, पहले विवाह संस्था ही नहीं थी ?

असंधिमित्रा : यह सत्य है। महाभारत में ही उद्दालक और श्वेतकेतु का एक उपाख्यान है, जिससे यही बात सिद्ध होती है।

कारुबाकी : फिर गणविवाह निकले।

असंधिमित्रा : इसे भी विद्वान् स्वीकार करते हैं।

कारुबाकी : इसके पश्चात् एक नारी के अनेक पति।

असंधिमित्रा : यह भी ठीक है।

कारुवाकी : और फिर एक पति की अनेक पत्नियाँ ।

असंधिमित्रा : आजकल की सामाजिक अवस्था में एक पति की अनेक पत्नियाँ ही स्वाभाविक माना जाता है ।

कारुवाकी : मेरे प्रति तो आपका अगाध प्रेम है, पर अधिकतर ऐसा नहीं होता और फिर सौतेले भाइयों में कैसे संघर्ष होते हैं, यह हम मगध में ही देख चुके हैं ।

असंधिमित्रा : ये संघर्ष तो सौतेले भाइयों में ही न होकर एक माँ के जाये हुए भाइयों में भी होते हैं । संस्कृत साहित्य में कुछ स्वाभाविक मित्र माने गये हैं और कुछ स्वाभाविक शत्रु । भाइयों की गणना स्वाभाविक शत्रुओं में की गयी है ।

कारुवाकी : पर, महेन्द्र, कुणाल और तीवर के बीच सौतेले होने पर भी कितना अधिक स्नेह है । यह कदाचित उसी प्रकार जैसे सौतें होने पर भी आपका और मेरा प्रेम !

[अशोक का प्रवेश । उसके चेहरे से भी जान पड़ता है कि वह भी अब प्रौढ़ हो चला है । उसके कानों के समीप के केश भी श्वेत हो गये हैं । उसकी मुद्रा से ज्ञात होता है कि वह अनमना-सा है । उसे देख असंधिमित्रा और कारुवाकी खड़ी हो जाती हैं। अशोक शयन पर बैठता है। उसके निकट असंधिमित्रा बैठती है और शयन के निकट की एक आसन्दी पर कारुवाकी। अशोक सिर झुकाये हुए कुछ सोचता रहता है। असंधिमित्रा और कारुवाकी उसकी ओर देखती रहती हैं । कुछ देर निस्तब्धता ।]

असंधिमित्रा : आजकल कुछ अनमने-से रहते हो, क्यों ?

कारुवाकी : कुछ नहीं, बहुत ।

अशोक : नहीं, अनमना तो नहीं रहता, पर कुछ सोच-विचार में अवश्य रहता हूँ ।

असंधिमित्रा : तुम्हारी तो अब एक नहीं, दो-दो अर्धांगिनी हैं अर्थात् आधे अंग में तुम और एक-एक चौथाई अंग में, हम दोनों ।

[सब का अट्टहास ।]

अशोक : (हँसते हुए) गणित की गणना के अनुसार तो तुमने ठीक कहा, देवि ।

असंधिमित्रा : प्रयत्न तो मैं यही करती रहती हूँ कि कोई असंगत बात न कहूँ ।

कारुवाकी : आपके मुख से कभी कोई असंगत बात निकल सकती है !

असंधिमित्रा : मैं कह यह रही थी कि हम तुम्हारी अर्धांगिनियाँ तुम्हारे इस सोच-विचार में क्या सहभागिनी नहीं हो सकतीं ?

अशोक : आज तुम दोनों को मैं सहभागिनी बनाने ही आया हूँ । मेरे मन में आजकल एक संघर्ष चलाने में लगा है ।

असंधिमित्रा : कैसा ?

अशोक : यह कि जिस मार्ग पर मैं चल रहा हूँ, वह ठीक मार्ग है या नहीं ? हिंसा से राज्य विस्तार, आमोद-प्रमोद, विहार यात्राएँ, ये ठीक हैं या अहिंसात्मक सद्धम्म ग्रहण करना ।

असंधिमित्रा : राज्याभिषेक के चौथे वर्ष से ही सद्धम्म के प्रति तुम्हारा आकर्षण हो गया था, वरन् तुम सद्धम्म की 'उपासक' श्रेणी में भी आ गये थे। भारत के प्रमुख स्थानों में चौरासी हज़ार विहार भी बनाने का निश्चय अधिकांश स्थानों में कार्य रूप में परिणत हो गया है। पाटलिपुत्र का प्रसिद्ध अशोकाराम की चहल-पहल तो समस्त देश में विख्यात है, पर अब कदाचित स्वयं भी तुम सम्राट से भिक्षु होना चाहते हो ?

अशोक : भिक्षु होना चाहता तो हो न जाता ! जीवन में जब जो चाहा वही तो किया है मैंने, प्रिये। किस कृति के लिए कौन रोक सका मुझको ? मैं अब क्या चाहता हूँ इस संबंध में मैं स्वयं ही अपने को नहीं समझ पा रहा हूँ। पर इतना स्पष्ट है कि राज्याभिषेक के पूर्व कर्त्तव्य पथ के संबंध में मेरी भावनाएँ जितनी स्पष्ट थीं अब नहीं हैं। फिर जो तुमने यह कहा कि राज्याभिषेक के चौथे वर्ष से मेरे मन में परिवर्तन हुआ है यह भी नहीं है।

असंधिमित्रा : तब ?

अशोक : वह राज्याभिषेक के दिन नर्तकियों के गान के समय से ही हुआ; हाँ, उसके दर्शन राज्याभिषेक के चौथे वर्ष से हुए। और अब तो मानसिक संघर्ष बढ़ता ही जाता है। तुम लोगों को जो मैं अनमना जान पड़ता हूँ वह इसी मानसिक संघर्ष के कारण। मेरे मन में अब बार-बार एक बात आती है।

असंघिमित्रा : कौन सी ?

अशोक : इस जीवन का कोई ठिकाना नहीं और जीवन सफल हुआ या असफल इसका निर्णय जीवन का अन्तिम क्षण करता है। उसी क्षण पर सब कुछ निर्भर रहता है। वही क्षण या तो हमें तारता है या गर्त्त में गिराता है। वह क्षण तारने वाला क्षण हो यही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। और जीवन में इस लक्ष्य तक पहुँचने का जब तक सतत प्रयत्न न हो तब तक वह क्षण तारने वाला क्षण नहीं हो सकता। आजकल मेरा जीवन जिस ढंग से चल रहा है, उससे मुझे जान पड़ता है कि वह अन्तिम क्षण तारने वाला क्षण हो इस ओर मेरा जीवन नहीं जा रहा है।

[नेपथ्य से एक गान की ध्वनि आती है, सब लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित होता है।]

गीत

जगत को छोड़ चलो उस ओर।
तम की निशा उदय में अवसित, शान्ति गगन में भोर।
महामोह-श्रम-थकित जगत यह, खोज रहा विश्रान्ति;
अन्धकार में भूल भटकती, मानस की विभ्रान्ति;
युग युग बीत चले इस पथ का मिला न कोई छोर।
मानव-मन की आर्त्त हेर सुन द्रुत दौड़े भगवान;
करुणा-द्रवित-हृदय से उद्गत अमर शान्ति आह्वान;
शीतल करते दाह दुःखमय पीड़ा जग की घोर।

अशोक : (गीत पूर्ण होने पर) महेन्द्र और संघमित्रा का स्वर

जान पड़ता है।

असंधिमित्रा : हाँ, महेन्द्र और संघमित्रा ही गा रहे थे।

अशोक : सद्धम्म के प्रति बहुत आकर्षित हो गये जान पड़ते हैं।

असंधिमित्रा : क्या पूछते हो, तुम्हारे मन में तो हिंसा से राज्य-विस्तार, आमोद-प्रमोद, विहार यात्राएँ आदि ठीक हैं या अहिंसात्मक सद्धम्म ग्रहण करना, यह मानसिक-संघर्ष ही चल रहा है, पर ये दोनों भाई-बहन तो कदाचित भिक्षु-भिक्षुणी होने ही वाले हैं।

कारुवाकी : जीजी बिलकुल ठीक कह रही हैं।

[महेन्द्र और संघमित्रा का भिक्षु-भिक्षुणी के वेष में प्रवेश। महेन्द्र की अवस्था अब २० वर्ष की है और संघमित्रा की १८ वर्ष की। दोनों इस वेष में भी अत्यन्त सुन्दर दीख पड़ते हैं। उन्हें भिक्षु-भिक्षुणी के वेष में देख अशोक, असंधिमित्रा और कारुवाकी स्तब्ध-से रह जाते हैं।]

महेन्द्र : (अशोक से) पिता जी, दोनों माताओं से और आपसे हम विदा लेने आये हैं।

संघमित्रा : हाँ, पिता जी, हमें विदा कीजिए।

[किसी के मुख से कोई उत्तर नहीं निकलता। कुछ देर निस्तब्धता।]

अशोक : (धीरे-धीरे) पर, यदि राजवंश में किसी को भिक्षु ही होना था तो मुझे, और भिक्षुणी ही होना था तो तुम्हारी माता असंधिमित्रा को। महेन्द्र, तुम मगध के युवराज हो, इस अवस्था में तुम्हारी यह वेशभूषा और संघमित्रा तुम

भी भाई के साथ भिक्षुणी !

असंधिमित्रा : सद्धम्म के प्रति इन दोनों का आकर्षण होता जाता था, यह मैं जानती थी, नाथ, और मुझे भय भी था इनके भिक्षु-भिक्षुणी होने का। परन्तु यह इतने शीघ्र हो जायँगे, यह मैं ··· (**कण्ठावरोध होने के कारण चुप हो जाती है।**)

कारुवाकी : यह अनर्थ, घोर अनर्थ !

[**कुछ देर निस्तब्धता।**]

अशोक : (**कुछ विचारते हुए**) महेन्द्र, दस वर्ष पूर्व जब हम अवन्तिका में थे और तुम अपनी ग्यारहवीं वर्षगाँठ के दिन अपनी माता को और मुझे प्रणाम करने आये थे उस समय की एक बात तुम्हें स्मरण है ?

महेन्द्र : (**एक आसन्दी पर बैठते हुए**) कौनसी बात, पिताजी ? यदि आप उस बात का विषय बतादें, तो कदाचित स्मरण हो आए।

अशोक : संघमित्रा ने कहा था, तुमने अपने उस जन्म-दिन सौगन्ध खायी थी कि तुम पितृव्य चन्द्रगुप्त से भी बड़े चक्रवर्ती सम्राट होगे, इसके लिए यदि तुम्हें रुधिर की सरिताएँ बहानी पड़ेंगी तो उन्हें भी बहाओगे, तुम्हारी वीरता से रिपुओं के दल उसी प्रकार तितर-बितर हो जावेंगे जैसे रवि-रश्मियों से कुहरा। अपने पराक्रम से तुम हिमाद्रि के शृङ्गों को भी कँपाओगे, उदधि की ऊर्मियों को भी रोक दोगे।

असंधिमित्रा : और जिस प्रकार पितृव्य चन्द्रगुप्त ने यवन राजकुमारी हेलन से परिणय किया था उसी प्रकार केवल यवन राजकुमारी से ही नहीं पर जितनी भी अरिगणों की मनोहर राजकुमारियाँ मिलेंगी उन सबसे परिणय करोगे ।

महेन्द्र : हाँ, स्मरण आ गया, पर वह बाल-विनोद था ।

संघमित्रा : (**एक आसन्दी पर बैठते हुए**) मैंने भी बाल-विनोद में ही आप लोगों से इनकी सौगन्ध की बातें कही थीं ।

अशोक : (**विचारते हुए**) और तुम समझते हो कि अब तुम दोनों जो कुछ कर रहे हो वह परिपक्व विचारों के अनुसार ?

महेन्द्र : इसमें मुझे थोड़ा भी सन्देह नहीं है ।

संघमित्रा : थोड़ा भी नहीं ।

असंधिमित्रा : यह अवस्था और परिपक्व विचार !

कारुवाकी : मैं तुम दोनों से अवस्था में कहीं बड़ी हूँ, परन्तु मैं भी यह नहीं मानती कि इस अवस्था में मेरे विचार परिपक्व हो सकते हैं ।

अशोक : महेन्द्र और संघमित्रा, अभी तुम्हारे आने के पहले मैं तुम्हारी माताओं से कह रहा था कि मेरे मन में आजकल संघर्ष चल रहा है कि हिंसा से राज्य-विस्तार, आमोद-प्रमोद, विहार यात्राएँ आदि ठीक हैं या अहिंसात्मक सद्धम्म ग्रहण करना । मैं स्वयं किसी निर्णय पर पहुँचने में असमर्थ हूँ और तुम दोनों भिक्षु-भिक्षुणी होकर आगये ।

महेन्द्र : पिताजी, मुझसे भी कम अवस्था के व्यक्ति भिक्षु हुए हैं।

संघमित्रा : और मुझसे भी कम अवस्था की ललनाएँ भिक्षुणी।

असंधिमित्रा : इस प्रकार भिक्षु-भिक्षुणी होना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है।

कारुवाकी : अवश्य।

अशोक : तुम्हारी माताएँ सर्वथा ठीक कहती हैं।

महेन्द्र : परन्तु, सद्धम्म में भिक्षु-भिक्षुणी होने के लिए आयु का कोई प्रतिबंध नहीं है।

संघमित्रा : यदि युवावस्था में भिक्षु-भिक्षुणी होना वर्जित माना जाता तो क्या भगवान् तथागत् भिक्षु-भिक्षुणी होने के लिए आयु का प्रतिबंध न कर देते।

[कुणाल का प्रवेश। कुणाल लगभग पाँच वर्ष का गौर वर्ण का अत्यन्त सुन्दर बालक है। उसकी आँखों में एक अद्भुत प्रकार का सौंदर्य है। वह सुनहरी काम के कौशेय वस्त्र का कञ्चुक पहने है जो उसकी पिण्डलियों तक लम्बा है। उसके अंगों पर रत्न-जटित आभूषण है। सिर खुला हुआ है। उस पर काले बाल लहरा रहे हैं।]

कुणाल : **(महेन्द्र को ध्यान से देखते हुए)** दादा, तुम्हारे बाल कहाँ गये? **(उसी प्रकार ध्यान से संघमित्रा को देखते हुए)** और जीजी तुम भी मुण्डी हो गयीं ? कैसे कपड़े पहने हो

दोनों ही अशोकाराम के भिक्खु-भिक्खुणियों के से ।

(अशोक की गोद में बैठता है ।)

[तीवर का प्रवेश । वह कुणाल से भी एकाध वर्ष छोटा जान पड़ता है । तीवर भी सुन्दर है परन्तु कुणाल का और उसका कोई मिलान नहीं हो सकता । उनकी वेश-भूषा कुणाल के ही सदृश है । कुणाल तीवर को देखकर अशोक की गोद से उतर दौड़कर तीवर के पास जाता है ।]

कुणाल : (दाहिने हाथ की तर्जनी से महेन्द्र और संघमित्रा की ओर संकेत कर) तीवर पहचानों तो इन दोनों को ।

तीवर : (महेन्द्र और संघमित्रा को घूरते हुए) दादा और जीजी है ही न !

कुणाल : मुझे तो इन्हें देखकर डर लगता है ।

[दोनों आकर कुणाल अशोक की गोद में और तीवर असंधिमित्रा की गोद में बैठ जाते हैं]

महेन्द्र : (हाथ फैलाकर कुणाल से) आओ, इधर आओ, कुणाल ।

संघमित्रा : (हाथ फैलाकर तीवर से) और तू इधर आ, तीवर ।

कुणाल : नहीं, नहीं । मैं न आऊँगा । पहले तुम फिर से अपने बाल बढ़ालो, मेरे जैसे कपड़े पहनलो तब आऊँगा ।

[तीवर कुछ बोलता तो नहीं है पर संघमित्रा के पास नहीं जाता ।]

अशोक : (करुण स्वर में) ओह !

[असंधिमित्रा और कारुवाकी के नेत्रों से टपाटप आँसू गिरते हैं ।]

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के बाहर एक विशाल उद्यान का एक भाग

समय : मध्याह्न के निकट

[उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है। पीछे की ओर उद्यान के कोट की ऊँची भित्ति है। उसके निकट बकुल के ऊँचे वृक्षों की पंक्ति है। वृक्ष इतने ऊँचे और घने हैं कि वृक्षों के बीच-बीच से ही कहीं-कहीं भित्ति दिखायी पड़ती है। इधर-उधर आम के वृक्षों की अनेक कुञ्जें हैं। आम के वृक्षों की शाखाएँ गोल हो होकर भूमि तक पहुँच गयी हैं। आम्र-वृक्ष मौरों से लदे हुए हैं। इन ऊँचे वृक्षों के अतिरिक्त पुष्पों की अनेक क्यारियाँ दिखायी पड़ती हैं; जिनमें चैती गुलाब और गेंदा खूब फूला हुआ है। बीच में एक अष्टदल कमल के आकार का बड़ा भारी कुण्ड है, जिसमें कमल खिले हैं। इस कुण्ड के जल में टेसू के फूलों का पीलरंग घोला गया है। आम के मौरों, खिले हुए गुलाब, गेंदे और कमलों के कारण उद्यान में वसंत के वैभव का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है। उद्यान नर-नारी, बालकों आदि से भरा हुआ है। ये सभी बसंती रंग के कपड़े पहने हैं। कुण्ड के निकट ही एक बहुत बड़ा नर-नारियों का समूह अनेक मृदंग, ढप और झाँझें बजाते हुए होली गा रहा है। इधर-उधर कुछ लोग पिच-कारियों में कुण्ड से रंग भर पिचकारियाँ चला रहे हैं और कुछ गुलाल उड़ा रहे हैं।]

गीत

कुसुमित जग अंग-अंग नव विकास छाया।
सौरभ, मकरन्द-मदिर, मलय पवन लाया।
कलिका की हृदय ग्रन्थि खोल सुरभि डोली।
पिक की पञ्चम-पुकार बोल उठी होली।
कुम-कुम, केसर फुहार, लख, गुलाल झोली।
सस्मित, सोत्कम्प खिली, पुलक, प्रकृति भोली।
मध्यम में मुरज थाप, बीन मधुर बोली।
राग में अनुराग मुखर, गुँजित अलि-टोली।

[गीत पूर्ण होते-होते अशोक, असंधिमित्रा, कारुवाकी, विगताशोक, कुणाल, तीवर, राधागुप्त, अनेक राजपुत्रों, राजुकों, युक्तों आदि के साथ आता है। यह समुदाय भी बसन्ती रंग के वस्त्र पहने है। इनके आभूषण आज जड़ाऊ न होकर स्वर्ण के ˝। इनके आने पर जोर का जयघोष होता है। उद्यान का सारा जनसमुदाय दौड़कर इनके चारों ओर इकट्ठा हो जाता है। जोर की पिचकारियाँ और गुलाल की फेंटें चलती हैं। सभी आगन्तुक रंग से सराबोर हो जाते हैं। गुलाल से सारे वायुमण्डल में लाल कुहरा-सा छा जाता है। थोड़ी देर में सब लोग बैठते हैं।]

अशोक : ता इस वर्ष भी आपने होली की इस विहार यात्रा में खूब आनन्द मनाया।

एक व्यक्ति : महाराज के राज्य में किस बात की कमी है!

सारा जनसमुदाय : राजराजेश्वर सम्राट अशोकवर्धन की जय।

अशोक : (गाने वाले समुदाय से) हाँ, एक धमार और हो जाय।

कुछ व्यक्ति : (एक साथ) जैसी आज्ञा।

[फिर से मृदंग, ढप और झाँझें बजकर गान आरम्भ होता है।]

गीत

री ! मंजरि ! निज उर बन्धन खोल,
नव-मकरन्द भेंट कर अलि को जीवन में मधु घोल।
सरस गात्र में मादकता मृदु, नयनों में आह्वान
शिशुता दूर गयी अब, सजनी! फिर भी तू अनजान।
परिमल-सुरभित, पल्लव अञ्चल छूता मलय समीर;
राग रंग लख चौंक चकित सा मानस मुग्ध अधीर,
उन्मद-मधु-माधव की उड़ती कुम कुम, केसर, रोली।
अवनी से अम्बर तक छायी, लाल लाल सखि! होली।

[गान पूर्ण होते-होते नेपथ्य में घण्टा बजता है। सबका ध्यान नेपथ्य की ओर आकर्षित होता है।]

राधागुप्त : मध्याह्न के भोजन का घण्टा है।

[जन समुदाय धीरे-धीरे जाता है। अशोक जिस समुदाय के साथ आया है वह समुदाय तथा कुछ और लोग रह जाते हैं।]

अशोक : (दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए राधागुप्त से) अग्रामात्य होली की इस आनन्दमयी विहार यात्रा में मध्यान्ह के भोजन के लिए कितने जीवों का वध हुआ होगा ?

राधागुप्त : गिनती तो कठिन है, श्रीमान्, परन्तु नित्य ही जब साठ हजार ब्राह्मणों और श्रवणों को राजभवन से मांस दिया जाता है तब होली की इस विहार यात्रा में तो ब्राह्मणों और श्रवणों के अतिरिक्त भी सहस्रों वरन् लक्षों नागरिक एकत्रित हुए हैं।

अशोक : मानवों की विहार यात्रा, मानवों की क्रीड़ा, और इसके लिए अन्य जीवों का यह संहार ! **(कुछ रुककर)** ब्राह्मणों और श्रवणों का नित्य का भोजन और इन विहार यात्राओं का भोजन क्या निरामिष नहीं हो सकता ?

राधागुप्त : परम्परा तो इसी प्रकार की चली आ रही है।

असंधिमित्रा : बुरी परिपाटी में भी परिवर्त्तन नहीं हो सकता ?

कारुवाकी : मैं तो समझती हूँ अवश्य हो सकता है। क्यों, अग्रामात्य ?

राधागुप्त : क्या कहूँ ?

अशोक : और अब तो शीघ्र ही कलिंग पर भी मगध-सेना का आक्रमण होने वाला है। उसमें मानव-संहार भी होगा।

राधागुप्त : आपने राज्याभिषेक के दिन कहा ही था कि भारत के जो भाग अभी भी साम्राज्य के बाहर हैं, वे साम्राज्य में मिलाये जायँगे। यदि वे स्वयं सम्मिलित हुए तो आपको हर्ष होगा, पर यदि वे स्वयं न मिले तो बल-प्रयोग करके भी आप उन्हें सम्मिलित करेंगे, क्योंकि भारत ही नहीं पर समस्त जम्बू द्वीप का उत्कर्ष आप भारतीय साम्राज्य की एकता पर मानते हैं।

अशोक : हाँ, मुझे स्मरण है अपनी राज्याभिषेक की उस घोषणा का। कलिंग पर आक्रमण मेरी उसी घोषणा के अनुसार मेरी अनुमति से ही हो रहा है। पर अब मेरे मन में सन्देह होने लगा है कि मेरी वह घोषणा तथा उस घोषणा के आधार पर ये आक्रमण एवं नित्य प्रति ब्राह्मणों और श्रवणों के तथा इन विहार यात्राओं के भोजनों में यह हिंसा कहाँ तक उचित है। .

[नेपथ्य में फिर गान की ध्वनि सुन पड़ती है। सबका ध्यान नेपथ्य की ओर जाता है।]

गीत

रसने ! रस की कर पहचान।
षट्-रस-मय व्यञ्जन भोजन का यह नवीन विज्ञान।
अज, मयूर, मृग मांस सुगन्धित वर्धित करता ओज।
तन की पुष्टि, हृष्टि मानस की करता आमिष भोज।
देव सु दुर्लभ स्वादु खाद्य यह गुण रस सौख्य निधान।

अशोक : (**गीत पूर्ण होते-होते**) लीजिए, भिन्न-भिन्न जीवों के मांस के सुस्वाद पर भी काव्य रचना हो गयी ! कहाँ होली के उन गीतों का मधुर रस और कहाँ इस गीत से उत्पन्न वीभत्स रस !

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान : कलिंग देश में रण-क्षेत्र

समय : सन्ध्या

[क्षितिज से लगा हुआ मैदान दीखता है। पश्चिम में सूर्यास्त हो रहा है, यह क्षितिज के निकट आकाश की लालिमा से ज्ञात होता है। मैदान में हाथियों, घोड़ों और मानवों के कटे हुए अंग, रथों के टूटे हुए भाग आदि फैले हुए हैं। घायल सैनिक भी पड़े हैं।* घोर युद्ध हो रहा है। मगध और कलिंग के पदाति सेना के सैनिक युद्ध कर रहे हैं। सैनिक दो पक्षों के हैं, यह उनके पृथक्-पृथक् रंग के वस्त्रों से ज्ञात होता है। सभी सैनिक वक्षस्थल पर कवच और सिर पर शिरस्त्राण धारण किये हैं। बाण, शल्य और खड्ग चल रहे हैं। हाथियों की चिग्घाड़ों, घोड़ों की हिनहिनाहट, सैनिकों के रणघोष और घायलों के आर्तनाद से सारा वायुमण्डल व्याप्त है। कुछ देर पश्चात् एक ओर से कुछ सैनिकों के साथ अशोक और दूसरी ओर से कुछ सैनिकों के संग कलिंग नरेश का प्रवेश। अशोक, कलिंग नरेश और दोनों पक्षों के योद्धा कवच और शिरस्त्राण

---

*यहाँ एक सफेद चादर डालकर हाथियों, घोड़ों, रथों आदि के युद्ध का दृश्य सिनेमा द्वारा दिखाया जा सकता है।

धारण किये हैं। अशोक तथा कलिंग नरेश के कवच और शिर-स्त्राण के लोह पर सुवर्ण लगा है। दोनों दलों में भीषण रण होता है। धीरे-धीरे कलिंग सेना परास्त होती है और कलिंग नरेश अशोक के सामने शस्त्र डालता है। युद्ध बन्द होता है।]

कलिंग नरेश : मगधपति, मैं पराजय स्वीकार करता हूँ, पर युद्ध करके मैंने कोई भूल की है, यह मुझे स्वीकृत नहीं है।

अशोक : तुम पराजय स्वीकार करते हो यही यथेष्ट है। किसने भूल की है और किसने सही बात, यह विवाद निरर्थक है।

कलिंग नरेश : पराजित व्यक्ति विवाद का अधिकारी नहीं होता अतः मैं आपसे विवाद नहीं करना चाहता, पर इतना कहे बिना मुझ से नहीं रहा जाता कि यदि देश-भक्ति, स्वा-धीनता-प्रेम और अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए सब कुछ न्यौछावर करने का साहस प्रशंसनीय है तो मैंने भी कोई भूल नहीं की। जब तक कलिंग में थोड़ी भी शक्ति थी, सामर्थ्य थी, तब तक उसने आपकी महान् और असीम बलशाली सेना को भी परवाह न कर वीरोचित रीति से आपका सामना किया। छोटे से कलिंग देश के लिए, अपनी स्वाधीनता की रक्षा के हेतु, मगध सम्राट् का इस प्रकार सामना अत्यन्त गौरव का विषय है। इस छोटे से कलिंग ने स्वाधीनता के इस महान् यज्ञ में सहस्रों नहीं, लाखों वीर पुत्रों की आहुति दी है। उसका परास्त होना एक स्वाभाविक बात थी। हमने घुटने टेके पर सब कुछ कर चुकने के पश्चात्। स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में

कलिंग का यह युद्ध मानव इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रक्खेगा। कलिंग की स्वाधीनता का जो अपहरण हुआ है और इस काण्ड में जो मानव-संहार, इसका दोषी कौन है यह इतिहासज्ञों का विषय होगा।

यवनिका

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के राजभवन के गर्भागार में अशोक का कक्ष

समय : रात्रि का तीसरा पहर

[कक्ष लगभग वैसा ही है, जैसा दूसरे अंक के पहले दृश्य का कक्ष था। शैय्या पर अशोक लेटा हुआ है। शैय्या के उभय ओर असंधिमित्रा और कारुवाकी आसन्दियों पर बैठी हुईं एक गीत गा रही हैं।]

गीत

दिवस का श्रम मौन निद्रा लीन।
पलक-पुट में अचल बन्दी चपल-लोचन-मीन।
ज्वलित दीपक लालसा का मन्द कर री! क्लान्ति।
शिथिल-कर-उपधान-आश्रय, दे अलस विश्रान्ति।
कामना का कमल मुद्रित मुग्ध मायाधीन।
यामिनी के श्याम पट में स्वप्न का संभार।
चेतना, उन्निद्र झुक-झुक, झाँकती उस पार।
चाँद की कोमल कला भी झींमती सी क्षीण।

[गीत पूर्ण होने पर अशोक उठकर बैठ जाता है]

अशोक : नहीं, नहीं आयगी नींद चाहे तुम लोग कितना भी प्रयत्न करो। बुलाओ तो अग्रामात्य को!

असंधिमित्रा : पर रात्रि का तीसरा प्रहर होगा, नाथ ! इस समय तुम अग्रामात्य को बुलाना चाहते हो ?

अशोक : हाँ, अभी तत्काल बुलाना चाहता हूँ। मैंने कुछ निर्णय किये हैं और उन्हें तत्काल कार्यरूप में परिणत करना है।

कारूवाकी : जैसी आपकी इच्छा मैं अभी प्रतिहारी को भेजती हूँ।

[**कारुवाकी का प्रस्थान। अशोक एक दीर्घ निःश्वास छोड़ता है।**]

असंधिमित्रा : तुम्हारी तो विचित्र दशा हो गयी है। न कुछ खाते हो और न सोते, इस प्रकार कैसे काम चलेगा ?

[**कारुवाकी का प्रवेश। वह फिर आसन्दी पर बैठ जाती है।**]

अशोक : मैं स्वयं मानता हूँ, इस प्रकार काम नहीं चल सकता।

असंधिमित्रा : तब ?

अशोक : तब क्या किया जाय, देवि, यही तो निर्णय करना है। इसीलिए रात्रि के इस प्रहर में भी मैंने अग्रामात्य को बुलाया है। (**कुछ रुककर**) सुनो, तुम दोनों सुनो ! कलिंग के युद्ध में जो कुछ हुआ है वह मुझे पलमात्र को भी चैन नहीं लेने देता। आहत सैनिकों के शव मेरे नेत्रों के सामने घूमते रहते हैं, क्षण मात्र को भी दृष्टि से ओझल नहीं होते। घायलों का आर्त्तनाद मेरे कानों में गूँजता रहता है, एक निमिष मात्र को भी वह स्वर बन्द नहीं होता ! और···और मृतकों की संख्या थोड़ी नहीं थी, कलिंग के सैनिकों में ही वह पहुँची थी एक लक्ष के ऊपर। घायलों

की संख्या इससे कई गुनी अधिक थी। डेढ़ लक्ष के ऊपर कलिंग सैनिक कैद करके दास बनाये गये थे। न जाने कितने पुरों और ग्रामों में अग्नि लगी थी और वहाँ न जाने कितना जनसमुदाय भस्म हुआ और जला था। फिर इन मृतकों ने अपने कुटुम्बियों विशेषकर अपनी पत्नियों और माताओं को मृतकों से अधिक मृतक बना दिया था। उनका विलाप कानों के परदे फाड़ता था; वह असहनीय, सर्वथा असहनीय था। कलिंग देश की इन सहस्रों, लाखों बहनों के माँग के सिंदूर, ललाट की टिकली, नाक की नथनी, ग्रीवा का मंगलसूत्र, हाथ की चूड़ियें, हथेली की मेंहदी, पैर की महावर और पैर की उँगलियों की बिछिया समस्त सुहाग चिह्नों को मैंने मिटाया है। कितनी माताओं को मैंने पुत्रहीन बनाया है। चाहे कितनी और कैसी ही वीर-गाथाओं की रचना की जाय, परन्तु कम-से-कम माता की समझ में यह बात बैठ ही नहीं सकती कि इस प्रकार के युद्धों में कटने और मर मिटने के लिए उन्हें पुत्रों की उत्पत्ति क्यों करनी चाहिए। इन मृतकों के बच्चे अनाथ, सुना, अनाथ, नहीं नहीं, भूखे-प्यासे कुत्ते-बिल्लियों के सदृश बिलबिलाते फिरते थे। रण-भूमि का दृश्य ही भयानक और वीभत्स न था पर कलिंग के पुरों और ग्रामों के, जहाँ युद्ध न हुआ था, वहाँ के, दृश्य तो रण-भूमि से भी कहीं अधिक भयानक और वीभत्स थे। फिर हमारी मगध सेना में जो लक्षों मरे और घायल हुए वे इनसे पृथक् हैं।

असंधिमित्रा : कलिंग-युद्ध के पश्चात् कितनी बार तुम यह वर्णन कर चुके हो ।

कारुवाकी : हाँ, कितनी बार ।

अशोक : इसलिए, कि कलिंग-युद्ध के पश्चात् उस भीषण नर-संहार के विकराल दृश्यों के अतिरिक्त मुझे और कुछ दिखायी ही नहीं देता। उस कारुणिक हृदय को हिला देने वाले आर्त्त-नाद के अतिरिक्त और कुछ सुनायी नहीं देता। हम दूसरों के दुःखों की नींव पर अपने सुख के भवन का निर्माण नहीं कर सकते। इस युद्ध में न जाने कितने पुरुषों के पौरुष रूपी पुष्प कुम्हलाकर झड़ गये हैं । न जाने कितनी महिलाओं की मन्द मुस्कान सदा के लिए समाप्त हो गयी है । इस युद्ध से हमारी शारीरिक और मानसिक अवस्था इस प्रकार झकझोरी जाकर विच्छृंखल हो गयी है कि जान पड़ता है, कि सारा सामाजिक जीवन जड़ से उखड़ गया है । हमारे पापों का बोझ नयी पीढ़ की पौध पर ऐसा पड़ने वाला है कि वह पीढ़ो उस बोझ के वज्रपात से तहस-नहस होकर नष्ट-भ्रष्ट होने से कहाँ तक बच सकेगी यह संदिग्ध है ।

असंधिमित्रा : पर, जो तुम्हारी यही दशा रही तो तुम तो विक्षिप्त हो जाओगे ।

कारुवाकी : अवश्य ।

अशोक : मुझे भी ऐसा ही ज्ञात होता है, और देखो, इस समस्त हिंसात्मक दारुण कांड का उत्तरदायित्व मुझ पर है । जब कलिंग का वह रोमांचकारी संहार हो चुका और कलिंग

नरेश ने घुटने टेके, उस समय उन्होंने कहा था इस काण्ड में जो मानव-संहार हुआ है, उसका दोषी कौन है, यह इतिहासज्ञों का विषय होगा। ठीक...ठीक...सर्वथा ठीक कहा था कलिंगाधिपति ने।...उन्होंने और भी कुछ कहा था।

असंधिमित्रा : क्या ?

अशोक : उन्होंने कहा था कि देश-भक्ति, स्वाधीनता-प्रेम और अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए सब कुछ न्यौछावर करने का साहस कलिंग ने दिखाया। जब तक कलिंगवासियों में थोड़ी भी शक्ति, थोड़ा भी सामर्थ्य रहा, तब तक उसने मगध की महान् और असीम बलशाली सेना की भी परवाह न की और वीरोचित रीति से उसका सामना किया। छोटे से कलिंग देश के लिए, उसकी स्वाधीनता की रक्षा हेतु मगध के राजा का इस प्रकार सामना उसके लिए अत्यन्त गौरव का विषय है। कलिंग नरेश का एक-एक शब्द, उसका एक-एक अक्षर, उसकी एक-एक मात्रा ठीक है। **(दीर्घ निःश्वास ले उसे छोड़ते हुए)** हमने कलिंग पर आक्रमण किया। हम आततायी हैं, कलिंग नहीं।

असंधिमित्रा : पर, तुम तो सदा कहा करते थे कि 'वीरभोग्या वसुन्धरा'।

कारुवाकी : हाँ, मैंने भी न जाने कितनी बार आपके मुँह से यह उक्ति सुनी है।

अशोक : पर अब वीर की सच्ची परिभाषा क्या है, इस संबंध

में मेरे मन में द्वन्द्व उत्पन्न हो गया है ।

असंधिमित्रा : वीर की परिभाषा ! यह भी द्वन्द्व का विषय !

कारुबाकी : वीर की परिभाषा में तो द्वन्द्व न होना चाहिए ।

अशोक : नहीं, हमारे देश की संस्कृति में भी वीरों की कई परिभाषाएँ हैं ।

असंधिमित्रा : कई परिभाषाएँ ?

कारुबाकी : जैसे ?

अशोक : जैसे, धर्मवीर, दानवीर, युद्धवीर आदि । और जहाँ तक युद्धवीर का संबंध है, मेरा यह मत हो गया है कि आक्रमणकारी को युद्धवीर न कह आततायी कहना चाहिए । ऐसे आततताइयों के हृदय शुष्क होते-होते पाषाण-वत्...नहीं, नहीं पाषाणवत् नहीं पाषाण ही...नहीं नहीं, पाषाण नहीं, उससे भी कठोर...कठोरतम, निर्मम और निष्प्राण हो जाते हैं ।

असंधिमित्रा : परन्तु, समाज तो इन्हें वीर ही मानता है ।

अशोक : समाज ! समाज के अधिकांश व्यक्ति विचार की शक्ति नहीं रखते । बहुत समय से जो सुनते आते हैं, वही ठीक है, यह मानते हैं, क्योंकि किसी विशिष्ट समय की आवश्यकताओं के कारण जो कुछ अतीत में होता रहा है, उससे समाज का एक प्रकार का रूप बन जाता है, उन आवश्यकताओं के न रहने पर भी समाज के उस ढाँचे को परिवर्तित होने में समय लगता है । जिस समय मत्स्य न्याय के बिना जीवित नहीं रहा जा सकता था उस समय के

समाज में आक्रमणकारी को भी युद्धवीर कहा जाता होगा। परन्तु, अब युद्धवीर यदि किसी को कहा जा सकता है तो अपनी रक्षा में युद्ध करने वाले को। कलिंग-युद्ध में मगध के योद्धा युद्धवीर न होकर आततायी थे, यदि युद्धवीर कोई थे तो कलिंग के साहसी सैनिक। फिर एक बात और है।

असंधिमित्रा : कौनसी ?

अशोक : न्यायप्रिय होना युद्धवीर होने की अपेक्षा कहीं कठिन है।

असंधिमित्रा : परन्तु, प्रिय, राज्याभिषेक के दिवस तुमने कहा था कि केवल भारत का ही नहीं पर समूचे जम्बूद्वीप का भावी उत्कर्ष तुम भारतीय साम्राज्य की एकता पर मानते हो।

अशोक : मेरे उस मत में अभी भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

असंधिमित्रा : तो कलिंग युद्ध भारतीय एकता के अनुष्ठान का ही एक विधान था।

कारुवाकी : हाँ, बिना इस प्रकार के युद्धों के भारतीय एकता किस प्रकार हो सकती है ?

अशोक : प्रेम से, युद्ध से नहीं। युद्ध से जिस एकता का प्रयत्न किया जाता है, वह एकता कभी स्थायी नहीं रह सकती। युद्ध में जो नर-संहार होता है, उसके जो परिणाम निकलते हैं, उससे विजेताओं और विजितों के बीच रुधिर की नदियाँ ही नहीं बहने लगतीं, रुधिर के तूफानी समुद्रों का निर्माण हो जाता है जिसमें प्रेम और विश्वास डूब जाते

हैं। एक दूसरे के प्रति घृणा और रोष के ज्वालामुखी पर्वत बन जाते हैं। हर क्षण उनके विस्फोट की आशंका बनी रहती है। और वह विस्फोट कभी-न-कभी होकर रहता है। मैं जो यह कहा करता था कि मैं महान् कार्य करूँगा उसके स्थान पर अब मैं यह सोचने लगा हूँ कि मैं अच्छा कार्य करूँगा, महान् कार्य से अच्छा कार्य कहीं श्रेष्ठ है और मेरा यह निर्णय किसने कराया है, जानती हो ?

असंधिमित्रा : किसने ?

कारुवाकी : हाँ, बताइए, किसने ?

अशोक : मेरे स्वयं के अन्तःकरण ने। मुझे अनुभव हुआ है कि हर मानव के अन्तःकरण की नींव में एक प्रकार का न्याय रहता है, जिसके द्वारा वह अपनी और अन्यों की वृत्तियों की परख किया करता है; और इस परख में उसे क्या अच्छा है और क्या बुरा, इसका पता लग जाता है। अच्छे और बुरे का पता लगते ही क्या अच्छा है और क्या बुरा, अन्तःकरण इसकी घोषणा करता है; जिस घोषणा को मैं अन्तरात्मा की घोषणा कहता हूँ। हम प्रायः इसकी अव-हेलना किया करते हैं और यह अवहेलना ही हमारे दुःखों की जड़ है। मेरा भावी कार्यक्रम इसी घोषणा ने निर्धा-रित कराया है। और एक बात और।

असंधिमित्रा : क्या ?

अशोक : दार्शनिक तर्क प्रायः अविश्वास की ओर ले जाता है और अन्ध श्रद्धा धर्मान्धता की ओर। इन दोनों की अति

को बचाकर जिस पथ पर चलने के लिए अन्तरात्मा की यह घोषणा प्रेरित करे उस पथ को सत्य-पथ मान उसी पर चलना चाहिए। इस यात्रा में न गर्व का स्थान होना चाहिए और न हीनता की भावना का। किसी प्रकार की निर्बलता तो आनी ही नहीं चाहिए। इस संसार में इस प्रकार के कर्त्तव्य-पथ पर चलना ही जीवन को सार्थक करना है। जब हम इस पर चलते हुए अपने आपको विस्मृत कर देते हैं तभी यथार्थ में हम अपने आपका सच्चा स्मरण करते हैं। जीवन यथार्थ में अपने आप में कुछ भी नहीं है। उसका मूल्य इस बात पर निर्भर है कि हम उसका कैसा उपयोग करते हैं। यदि हम अपने सूर्य का मिलान अन्य सूर्यों से करें तो हमारा सूर्य तुच्छ दिखायी पड़ता है। यदि हम अपनी पृथ्वी का मिलान अपने सूर्य से करें तो हमारी पृथ्वी तुच्छ दीख पड़ती है। इस पृथ्वी पर न जाने कितने मानव, महत्त्वशाली मानव आये और चले गये और न जाने कितने आयेंगे और चले जायेंगे। अतः जैसा मैंने अभी कहा जीवन को क्या महत्त्व है; महत्त्व है इस बात को कि आप इस जीवन में क्या करके जाते हैं। हमारा कर्त्तव्य अन्तरात्मा की घोषणा के अनुसार आदर्शों को स्थिर कर उन्हीं पर विचार करना और उन्हीं के स्वप्न देखना है। इन विचारों और स्वप्नों को कार्यरूप में परिणित करने के लिए संकल्प करना और उन संकल्पों को प्रत्यक्ष रूप देना है। जो यह करता है और इसके लिए

निरन्तर श्रम करता रहता है तथा अभीष्ट की सिद्धि के लिए यदि आवश्यकता पड़े तो मरने के लिए भी तैयार रहता है, वही सच्चा मानव है। किसी भी अभीष्ट की सिद्धि तब होती है, जब उस सिद्धि के लिए अन्त, सर्वथा अन्त तक जाने का साहस हो और इसके लिए कभी भी रिक्त न होने वाले धैर्य का कोष। और मानव का कोई भी अभीष्ट पैशाचिक अभीष्ट ही रहता यदि उस अभीष्ट की नींव दया की नींव न रहती।

[**राधागुप्त का प्रवेश**]

राधागुप्त : (**आगे बढ़कर**) आज्ञा के अनुसार उपस्थित हूँ, श्रीमान् !

अशोक : (**राधागुप्त की ओर देखते हुए**) बैठिए, अग्रामात्य।

[**राधागुप्त पर्यंक के समीप एक आसन्दी पर बैठ जाता है।**]

अशोक : अग्रामात्य, आजकल की मेरी मनोदशा आपसे छिपी नहीं है, इसीलिए आज इस समय मैंने आपको कष्ट दिया।

राधागुप्त : महाराज की मनोदशा से मैं ही क्या, आजकल सारा साम्राज्य परिचित हो गया है। हम आपके समीपवर्ती चिंतित भी कम नहीं हैं; परंतु···परन्तु (**चुप रह जाता है।**)

अशोक : परन्तु, पर ही आप रुक क्यों गये, अग्रामात्य ?

राधागुप्त : इसलिए, श्रीमान्, कि इस मनोदशा के सुधारने के लिए हमें कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ रहा है। साम्राज्य के समस्त कार्य निश्चित निर्धारित नीति के अनुसार चल रहे

हैं, व्यवस्था में कहीं कोई व्यतिक्रम नहीं। सिंहासनासीन होने के समय जो घोषणाएँ आपने की थीं उन्हें अक्षरशः पालन करने का प्रयत्न किया जा रहा है। उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक समूचे भारत में पूर्ण शान्ति स्थापित है और यदि इस शान्ति को भग्न करने प्रत्यक्ष में या परोक्ष में, जान में या अनजान में किसी प्रयत्न होने की जरा फुस-फुसाहट भी सुन पड़ती है तो उसका तत्काल दमन कर दिया जाता है। सारी प्रजा स्वर्ग-सुख का अनुभव कर रही है। कहीं दुःख-दारिद्रय का वास नहीं। सहस्रों ब्राह्मण और श्रवण नित्य भोजन पा रहे हैं। जैसी विहारयात्राएँ आपके सिंहासनासीन होने के पश्चात् हुईं वैसी भारत के इतिहास में कभी नहीं हुई थीं। राजराजेश्वर सम्राट् चन्द्र-गुप्त के पश्चात् राज्य-विस्तार का कोई प्रयास नहीं हुआ था, हाल ही में कलिंग-विजय का एक सफल प्रयत्न हुआ और मगध की सेना ने शत्रुओं के जिस प्रकार दाँत खट्टे किये उसके कारण भारत के जो विभाग अभी तक मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित नहीं हैं, वे इतने आशंकित और भयभीत हो गये हैं कि मुझे विश्वास है कि स्वयं सम्मिलित होने के लिए आवेदन-पत्र भेजेंगे। इस युद्ध के कारण उन विदेशियों तक के छक्के छूट गये हैं जिनसे इस संग्राम का कोई सरोकार न था। आपने राज्याभिषेक के दिन जो यह कहा था कि किसी भी विदेशी ने भारत पर यदि भूल से भी लालच भरी कोई कुदृष्टि उठायी तो उस पर भारत का

तत्काल आक्रमण होगा और वह मटियामेट कर दिया जायगा। उस प्रकार के किसी आक्रमण की कोई आवश्यकता ही न पड़ेगी। इतने···इतने पर भी यदि श्रीमान् की ऐसी मनोदशा है, यदि आप सुखी न होकर दुखी हैं, तो···तो (**चुप हो जाता है।**)

अशोक : अग्रामात्य, मैंने आपकी सभी बातें ध्यान से सुनीं। आपने इस समय भारतीय साम्राज्य का जो स्वरूप, उसका जो चित्र मेरे सामने प्रस्तुत किया, उस चित्र में यदि कहीं प्रकाश है तो कहीं कालिमा भी।

राधागुप्त : (**कुछ आश्चर्य से**) कालिमा तो मुझे कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती, श्रीमान्।

अशोक : इसलिए कि आपके और मेरे आदर्शों तथा उन आदर्शों पर पहुँचने के लिए जिन साधनों का उपयोग होना चाहिए उनमें अन्तर पड़ गया है।

राधागुप्त : अर्थात् ?

अशोक : इस संबंध में कभी कोई, और कभी कोई बात होती रही है, पर पूरी बात अब तक नहीं हो पायी, क्योंकि उन आदर्शों का तथा उन आदर्शों तक पहुँचने के लिए जिन साधनों को मैं सोच रहा था, उनका अब तक कोई बहुत स्पष्ट रूप मेरे सामने भी नहीं था। आज वह हो पाया। इसीलिए मैंने आपको ऐसे समय में भी बुलाया।

राधागुप्त : हम लोग आज्ञानुगामी हैं। अब तक की आज्ञाओं का पालन किया है, भविष्य में भी करेंगे और यदि···

यदि··· (चुप हो जाता है।)

अशोक : यदि पर आप चुप हो गये, अग्रामात्य।

राधागुप्त : स्पष्ट तो कहना ही होगा, सम्राट्। यदि हम उन आज्ञाओं का पालन न कर सकेंगे तो सेवा में त्याग-पत्र प्रस्तुत कर देंगे।

अशोक : देखिए, अग्रामात्य, आपने जो यह कहा कि साम्राज्य के समस्त कार्य निर्धारित नीति के अनुसार चल रहे हैं, व्यवस्था में कहीं कोई व्यतिक्रम नहीं, सिंहासनासीन होने के समय जो घोषणाएँ मैंने की थीं उनका अक्षरशः पालन करने का प्रयत्न किया जा रहा है, उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक समूचे देश में शांति है, सारी प्रजा सुख का अनुभव कर रही है, सहस्रों ब्राह्मण और श्रवण नित्य भोजन पा रहे हैं, बड़ी सुन्दर विहार-यात्राएँ हो रही हैं; यह सब राज्य के इस समय के चित्र का प्रकाश वाला पहलू है।

राधागुप्त : और अन्धकार वाला पहलू, श्रीमान्?

अशोक : अन्धकार वाला पहलू है, शांति को भंग करने के प्रयत्नों का दमन, राज्य के विस्तार का प्रयत्न, कलिंग का गत युद्ध जिसने देश और विदेश में आपके कथनानुसार ही भय और आतंक को उत्पन्न किया है, वह।

राधागुप्त : तब···तब, श्रीमान्, शांति को भंग करने का प्रयत्न होने दिया जाय? राज्य का विस्तार कर जिस भारतीय एकता को आप केवल भारत ही नहीं पर

समूचे जम्बू द्वीप के भावी उत्कर्ष के लिए आवश्यक मानते थे यह विस्तार भी न किया जाय ?

अशोक : इन कार्यों के लिए मैं अन्य साधनों का उपयोग करना चाहता हूँ ।

राधागुप्त : जैसे ?

अशोक : जैसे यदि कोई शांति भंग करना चाहता है तो उसका शमन दमन से न कर प्रेम से करना चाहिए, राज्य का विस्तार हिंसा से न कर अहिंसा से करना चाहिए ।

राधागुप्त : शांति भंग करने के प्रयत्नों का शमन दमन से नहीं ! राज्य विस्तार अहिंसा से ! यह कभी हो सकता है ?

असंधिमित्रा : अब तक तो मानव इतिहास में कभी नहीं हुआ ।

कारुवाकी : कभी नहीं ।

अशोक : और कभी नहीं हुआ इसलिए कभी हो भी नहीं सकता, आप लोग ऐसा क्यों समझते हैं ? क्या मानव इतिहास का अंतिम पृष्ठ तक लिख डाला गया है ? जो भूत में होता रहा है, उसी की पुनरावृत्ति क्या सदा भविष्य में भी होती रहेगी ?

[**कोई कुछ नहीं बोलता, कुछ देर निस्तब्धता ।**]

अशोक : नहीं, नहीं, अग्रामात्य नहीं; नहीं, रानियो, नहीं; मैं ऐसा निराशावादी नहीं हूँ । यदि हिंसा को ही हर बात का अंतिम निर्णायक रहना है तो संसार का भविष्य अत्यन्त अन्धकारमय है । हिंसा से हिंसा की ही उत्पत्ति होगी, और यह हिंसा निरन्तर बढ़ती जायगी । एक दिन

ऐसा आयगा जब इस हिंसा से सारी मानव-संस्कृति, सारी मानव-सभ्यता ही नहीं, मानव का ही नाश हो जायगा। अतः संसार के कार्यो में, कम से कम सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ रचना इस मानव के कार्यो में, हिंसा का मैं कोई स्थान नहीं मानता। अहिंसा और प्रेम से मानव के कार्य चलने और निपटने चाहिएँ।

राधागुप्त : सद्धम्म का महाराज पर धीरे-धीरे प्रभाव बढ़ रहा था यह हमें ज्ञात था। चौरासी हजार विहारों का निर्माण इस प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण है। पर···पर क्या अब श्रीमान् हम लोगों को छोड़कर युवराज महेन्द्र और राजकुमारी संघमित्रा के सदृश भिक्षु होने जा रहे हैं?

असंधिमित्रा : आजकल जिस प्रकार व्यथित रहने लगे हैं, न भोजन का ठिकाना है और न निद्रा का, उससे तो यही भास होता है।

कारुवाकी : जिस भय और आतंक का आप साम्राज्य नहीं चाहते आपकी दशा के कारण हम लोग भी अत्यन्त भय-भीत और आतंकित हो गये हैं।

अशोक : **(मुस्कराकर)** कलिंग के युद्ध में जो कुछ हुआ उसका प्रभाव तो मेरे मन पर इसी प्रकार पड़ा है कि मैं भिक्षु हो जाऊँ, परंतु, पितृव्य चन्द्रगुप्त द्वारा संस्थापित इस भारतीय साम्राज्य का क्या होगा यह प्रश्न भी मेरे सामने है। महेन्द्र भिक्षु हो गया, कुणाल और तीवर अल्पवयस्क हैं, इसलिए साम्राज्य के संचालन का जो उत्तरदायित्व मैंने

स्वीकार किया है उससे मैं मुक्त नहीं हो सकता । सद्-धम्म ग्रहण करूँगा पर उपासक ही रहूँगा, भिक्षु श्रेणी में नहीं जा सकूंगा और राज्य का संचालन करते हुए भी अब कलिंग-युद्ध के सदृश न मानव-संहार होगा न सहस्रों ब्राह्मणों तथा श्रवणों के नित्यप्रति के भोजन एवं विहार-यात्राओं के लिए अन्य जीवों का वध । मानव का सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ स्थान उसकी ज्ञान-शक्ति के कारण है । वह जिस प्रकार विचार कर सकता है अन्य प्राणी नहीं । विचार-परिवर्त्तन के लिए सद्धम्म के प्रचार में साम्राज्य की सारी शक्ति को लगा दूँगा और अहिंसा के द्वारा लोक-कल्याण के कार्यों में साम्राज्य का समस्त कोष । आदर्शों का निर्णय उतना कठिन नहीं जितना उन आदर्शों तक पहुँचने के लिए साधनों का निश्चित करना कठिन है । मैंने अब आदर्शों के साथ उन आदर्शों तक पहुँचने के साधनों का भी निश्चय कर लिया है । फिर साध्य की अपेक्षा भी मैं साधनों को अधिक महत्त्व देता हूँ, क्योंकि साध्य सदा प्राप्य नहीं रहते, परन्तु उनको प्राप्ति के प्रयत्नों में जिन साधनों का उपयोग होता है, वे साधन मानव के मन और समाज को गढ़ते हैं । और एक बात और ।

असंधिमित्रा : कौन सी ?

अशोक : विचार का कृति से कभी विच्छेद नहीं होना चाहिए । कृति दो प्रकार की होती है, एक समीपवर्ती और दूसरी दूरवर्ती । दूरवर्ती कृति के कारण निकटवर्ती कृति की अव-

हेलना न होनी चाहिए। साथ ही समीपवर्ती के कारण दूर-वर्ती के विचार-क्षेत्र पर पर्दा न पड़ना चाहिए। किसी वस्तु को श्रेष्ठ समझकर भी उस ओर न बढ़ना और किसी वस्तु को निकृष्ट मानते हुए भी उससे चिपटे रहना मूढ़ता की पराकाष्ठा है। उस अज्ञान पर विजय प्राप्त करना जो सत् असत् के निर्णय में झिझक उत्पन्न करता है, सच्ची विजय है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् किसी तरह का खेद नहीं रहता।

[**फिर कोई कुछ नहीं बोलता, कुछ देर निस्तब्धता।**]

अशोक : अग्रामात्य, मेरे कार्य को भावी नीति ऐसी नहीं है जिसके लिए आपको त्याग-पत्र देने को कोई आवश्यकता हो। इस नवीन-राज्य-प्रणाली में भी मुझे आपके, अन्य साथियों के और समस्त प्रजा के उसी प्रकार के सहयोग की आवश्यकता है जिस प्रकार के सहयोग की आवश्यकता थी मौर्यवंश के गृह-कलह को शमन करने में और अब तक के समस्त कार्यों में। (**कुछ रुककर**) अग्रामात्य, मेरा मानसिक संघर्ष चरम सीमा को पहुँच चुका था, मुझे अब तक कोई स्पष्ट मार्ग नहीं सूझ पड़ रहा था। इस श्याम मेघ में आज ही प्रकाश की एक किरण दृष्टिगोचर हुई है। इस किरण के दृष्टिगोचर होते ही मुझे अनुभव होने लगा कि अच्छे उद्देश्य मन पर अच्छा प्रभाव न डालें यह हो ही नहीं सकता। आप शीघ्र से शीघ्र समस्त राजपुत्रों, राष्ट्रीयगणों, राजुकों, युक्तों, नगर व्यावहारिकों,

प्रदेष्ट्रियों, भिक्षुओं और नागरिकों आदि की एक वैसी ही सभा बुलवाइए जैसी मेरे राज्याभिषेक के समय बुलायी थी।

[नेपथ्य में उषःकाल की प्रार्थना का स्वर सुन पड़ता है।]

असंधिमित्रा : लीजिए, उषःकाल का समय हो गया, उषःकाल की प्रार्थना आरम्भ हो गयी है।

अशोक : मेरी यह नवीन नीति भी उषःकाल के सदृश संसार के उत्कर्ष का सुन्दर और सुनहरा प्रकाश लाये।

[प्रार्थना के कारण सब लोग खड़े हो जाते हैं।]

गीत

हे विशुद्ध ! हो प्रबुद्ध दूर करो अन्धकार।
महानील अन्तरिक्ष, खोलता आलोक द्वार।
नवप्रकाश-किरण चपल,
अवनी पर उतर विकल,
जगती का जड़ शरीर,
परस मृदुल कर अधीर,
करती जीवन संचार।
रजनी-तम-गात्र श्याम,
धूमिल घन रजो धाम,
विस्मृति का मोह खींच,
सत्व सुधा अमर सींच,
भरती आनन्द सार।

अशोक : **(गीत पूर्ण होने पर)** परिवर्तन ही जीवन है, स्थिरता तो मृत्यु है। जीवित रहने का अर्थ ही गति है और गति

परिवर्तन बिना असंभव है। जैसा मैंने अभी-अभी कहा था मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी इसलिए है कि उसे निसर्ग ने ज्ञान-शक्ति दी है। इस ज्ञान-शक्ति के कारण जीवन के परिवर्तन के पूर्व उसके विचारों में परिवर्तन होता है और विचारों के परिवर्तन के पश्चात् उन विचारों के अनुसार जीवन में परिवर्तन। विचारों और जीवन का यह परिवर्तन तब कल्याणकारी होता है, जब हृदय शुद्ध हो। मुझे हर्ष है कि हृदय को शुद्ध रखने के लिए निसर्ग ने मानव-मन को जो सहानुभूति की शक्ति दी है, उस सहानुभूति से उत्पन्न दया के कोष से मेरा हृदय रिक्त नहीं हुआ है। मानव मस्तिष्क और हृदय दोनों से शासित होता है, परन्तु, मस्तिष्क उसे जिस सत्य का ज्ञान कराता है और उस ज्ञान से वह जीवन के लिए जिन स्वप्नों की सृष्टि करता है वे हृदय द्वारा ही मूर्त्तिमन्त किये जा सकते हैं। उन स्वप्नों की भूमि का हृदय नेह के नीर से सिञ्चन करता है। फिर समस्त जीवों के हित का बीज बोता है। इन बीजों से उत्पन्न पौधों के पोषण के लिए मस्तिष्क से निकली हुई तर्क रूपी पवन की जो प्रायः स्वार्थ से मिश्रित रहती है, आवश्यकता नहीं है, परन्तु हृदय से उत्पन्न उत्साह रूपी प्राणवायु की आवश्यकता है, जिसमें परार्थ ही परार्थ रहता है।

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के राजभवन का सभाग्रालय

समय : मध्याह्न

[वही ग्रालय है जो दूसरे ग्रंक के तीसरे दृश्य में था। उसी प्रकार राजपुत्रों, राष्ट्रीयगणों, राजुकों, युक्तों ग्रौर प्रतिष्ठित नागरिकों ग्रादि से भरा हुग्रा है। पर ग्राज सिंहासन के दाहिनी ग्रोर की सुवर्ण की ग्रासन्दी पर महाधर्माध्यक्ष के स्थान पर उपगुप्त बैठा है। उपगुप्त की ग्रवस्था लगभग पचास वर्ष की है। वह ऊँचा-पूरा गेहुँए रंग का व्यक्ति है। बौद्ध भिक्षुग्रों के सदृश पीत चीवर धारण किये है। इसके पास की ग्रासन्दी पर विगताशोक, सिंहासन के बायीं ग्रोर की ग्रासन्दियों पर ग्राज राधागुप्त, महेन्द्र तथा संघमित्रा नहीं हैं। महेन्द्र ग्रौर संघमित्रा ग्रनेक भिक्षु-भिक्षुणियों के संग नागरिकों के साथ बैठे हैं। उस दिन के ग्रौर ग्राज के दृश्य में एक ग्रन्तर ग्रौर है, उस दिन ग्रालय जिस प्रकार मंगल कलशों, कदली वृक्षों, पत्र-पुष्पों की वन्दनवारों ग्रादि से सजा था उस प्रकार ग्राज सजा नहीं है। सिंहासन ग्राज भी रिक्त है। थोड़ी ही देर में ग्राज भी वाद्य-ध्वनि सुन पड़ती है ग्रौर उसके पश्चात् उसी सजधज के साथ शिविका पर ग्रशोक ग्राता है। उसकी शिविका के साथ राधागुप्त पैदल चल रहा है। शिविका सिंहासन के

सामने रखी जाती है। अशोक शिविका से उतर सिंहासन पर बैठता है। राधागुप्त सिंहासन के बायीं ओर की आसन्दियों में से पहली आसन्दी पर।]

अशोक : (सिंहासन पर से उठ व्यासपीठ पर बैठकर) गुरुदेव, अग्रामात्य, राजपुत्रो, राष्ट्रीयगणो, राजुको, युक्तो, नगर व्यावहारिको, प्रदेष्ट्रियो, भिक्षुओ, भिक्षुणियो, नागरिको तथा अन्य समस्त सभासद गण! लगभग नौ वर्ष पूर्व इसी सभाआलय में आपने मेरा राज्याभिषेक किया था। गत नौ वर्षों में भारतीय साम्राज्य में जो कुछ हुआ है वह आपको ज्ञात है। राज्याभिषेक के दिन मैंने आपको अपने राज्य संचालन के कुछ उद्देश्य बताये थे, उनमें से एक था उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक शांति की स्थापना रखना और दूसरा था भारतीय साम्राज्य की एकता। गत नौ वर्षों में समूचे भारतीय साम्राज्य ने शांति का अपूर्व सुख भोगा है। प्रजा में दुःखदारिद्र्य का कष्ट भी नहीं रहा और प्रजा में जैसा सुख है उसका आभास विहार यात्राओं आदि में मिलता है।

एक व्यक्ति : आपकी प्रजा सर्वसुखसम्पन्न है!

सभासद : (एक साथ) सर्वसुखसम्पन्न, सर्वसुखसम्पन्न!

अशोक : परन्तु मैं सर्वसुखसम्पन्न नहीं हूँ। यद्यपि मैंने अपने और सर्वसाधारण के सुख के और भी कुछ कार्य किये हैं जिनमें प्रधान कार्य हैं सद्धम्म के प्रचारार्थ देश में चौरासी हजार विहारों का निर्माण, तथापि एक ओर यदि अहिंसा का अवलम्बन कर इन चौरासी हजार विहारों का निर्माण

हुआ है तो दूसरी ओर प्राचीन परिपाटी के अनुसार हिंसात्मक काण्ड भी चले जा रहे हैं। सहस्रों ब्राह्मणों, श्रवणों आदि के भोजन के लिए तथा विहार-यात्राओं के भोजों के लिए अगणित पशुओं का वध होता है और दूसरी ओर भारतीय एकता के नाम पर हाल ही में कलिंग-युद्ध लड़ा गया, जिसका नर-संहार मुझे जागते-सोते किसी भी अवस्था में क्षणमात्र को भी चैन नहीं लेने देता। इसीलिए राज्य-संचालन की भावी नीति के संबंध में मैंने कुछ निर्णय किये हैं और उन्हीं की घोषणा के निमित्त आज की इस सभा का आयोजन किया गया है। मेरी पहली घोषणा है भारतीय साम्राज्य की एकता के लिए अब कोई युद्ध न होगा।

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय!

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : भगवान् तथागत की जय!

अशोक : मेरी दूसरी घोषणा है ब्राह्मणों, श्रवणों आदि के लिए अथवा विहार यात्राओं के लिए किसी भी जीवधारी का अब वध न किया जायगा।

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : राजराजेश्वर सम्राट अशोक-वर्धन की जय!

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : भगवान् तथागत की जय!

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : सद्धम्म की जय!

अशोक : इस प्रकार भारतीय साम्राज्य में आज से युद्ध और

हर प्रकार की हिंसा की समाप्ति हो जायगी। भेरी-घोष के स्थान पर धर्म-घोष होगा और विहार-यात्राओं के स्थान पर धर्म-यात्राएँ!

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय।

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : भगवान् तथागत की जय!

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : सद्धम्म की जय!

अशोक : इस सृष्टि में मानव का सर्वश्रेष्ठ स्थान उसकी ज्ञान-शक्ति के कारण है, निसर्ग ने मनुष्य को विचार करने की जो शक्ति दी है वह अन्य किसी प्राणी को नहीं। विचार-परिवर्त्तन के लिए राज्य का आगे का मुख्य कार्य होगा सद्धम्म का प्रचार। इसके लिए समस्त राज्य में धम्म महा-मात्यों की नियुक्ति की जायगी। उत्तरापथ से दक्षिणा-पथ तक शिला-स्तूपों, शिला-स्तंभों आदि का निर्माण होगा जिन पर शिलालेख लिखे जायँगे।

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय!

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : भगवान् तथागत की जय!

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : सद्धम्म की जय!

अशोक : इस प्रकार विचार परिवर्त्तन कर अहिंसा और प्रेम द्वारा केवल भारतीय एकता का ही प्रयास न किया जायगा, पर समस्त जम्बू द्वीप और सारे संसार को इसी अहिंसा और प्रेम के एक सूत्र में बाँधने का भी प्रयत्न होगा।

इसके लिए सद्धम्म का संदेश लेकर भारत के बाहर भी भिन्न-भिन्न देशों में दूत भेजे जायँगे। इन दूतों में सर्वप्रथम जायँगे मेरे पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा लंका द्वीप।

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय !

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : भगवान् तथागत की जय !

कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी : सद्धम्म की जय !

अशोक : सद्धम्म के प्रचार का कोई भी यह अर्थ न समझे कि अन्य धर्मों को मैं कोई हेय दृष्टि से देखता हूँ या अन्य धर्मों का इस राज्य में कोई नीचा स्थान है ?

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट अशोकवर्धन की जय !

अशोक : वैदिक धर्म, जैन धर्म, सद्धम्म और अन्य भी जो धर्म हैं वे एक सी पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं और देखे जायँगे।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट अशोकवर्धन की जय !

अशोक : ब्राह्मण, श्रवण अजीविका आदि समस्त का समान सम्मान है और रहेगा।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट अशोकवर्धन की जय !

अशोक : अग्रामात्य, राजपुत्र, राष्ट्रीय, प्रादेशिक, धम्ममहामात्य, राजुक, युक्त, उपयुक्त, विनययुक्त, ग्रामकूट, अन्त-महामात्य, नगर व्यावहारिक, प्रदेष्ट्री, व्रजभूमिक, मुखदूत आदि समस्त राजकर्मचारियों को इसी नीति को कार्य रूप में परिणत करना है। संघों, परिषदों,

अनुस्यानयनों, मंत्रिपरिषदों, जनपदों, निगमसभाओं आदि को भी इसी नीति का प्रतिपालन करना होगा। तक्षशिला, अवन्ति, सुवर्णगिरि और कलिंग चारों प्रदेशों और इन प्रदेशों के अन्तर्गत आहारों, विषयों, पुरों, ग्रामों तक यही नीति प्रचलित की जायगी। राजकर्मचारियों की हर प्रकार की अनुस्यानयन और नागरिकों के हर प्रकार के समाज इसी नीति का प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार से समर्थन करेंगे। इन राजकर्मचारियों और नागरिकों की परख उनकी भूलों से न की जाकर वे कहाँ तक सफल होते हैं उन सफलताओं से की जायगी। उनके विश्वासों से न की जाकर उनकी कृतियों से की जायगी। जिन्हें हम अंत कहते हैं, सीमा पर योन, कंबोज, गन्धार, रास्त्रिक-पेतेनिक, भोज-पेतेनिक, नाभक, नाभपति, आन्ध्र, पुलिंद, चोड, पांड्य, सातीयपुत्र, केरलपुत्र, तंबपंति इन सभी से इसी नीति के अनुसार व्यवहार होगा।

कुछ सभासद : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय!

अशोक : राज्य का समस्त कोष इसी धर्माधिष्ठान में व्यय होगा और इसके लिए अनुग्राहिकों का प्रबन्ध किया जायेगा। इस कार्य में किसी प्रकार की परिबाधा क्षणमात्र को भी सहन न होगी।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट अशोकवर्धन की जय!

अशोक : विचार परिवर्त्तन के इस प्रयत्न के अतिरिक्त प्रजा में सब प्रकार के दैहिक सुख रहें इसके लिए राज्य में

जो कूप, मार्ग-अतिथि-आलय, उद्यान आदि सुखधाम हैं उनकी वृद्धि की जायगी। शिक्षालय बढ़ाये जायँगे, जिससे एक व्यक्ति भी अशिक्षित नहीं रहे, रोगियों के लिए नगरों और ग्रामों में चिकित्सालयों की भी वृद्धि होगी और पशुओं की रक्षा के लिए एक नयी वस्तु पंजरोलों की स्थापना की जायगी और इनके प्रधान कर्मचारियों का नाम होगा 'गोध्यक्ष'।

सभासद : धन्य है ! धन्य है !

अशोक : इस संसार में करूँगा कहने और सचमुच करने में बड़ा अन्तर है। यथार्थ में मानव को अपनी कृतियों के संबंध में न बोलकर उन कृतियों को उसके संबंध में बोलना चाहिए। भगवान् तथागत मुझे करने की और अपने सिद्धान्तों के अनुसार जीवन को चलाने की शक्ति दें, यही मेरी प्रार्थना है। और यह शक्ति भी बड़ी विलक्षण वस्तु है। अनेक बार अपनी ही शक्ति अपने आपको लेकर खेलने लगती है। मेरे संकल्पों को पूर्ण करने के प्रयत्न में इस शक्ति का यह रूप न होने पावे यह भी मैं भगवान् तथागत से प्रार्थना करता हूँ।

सभासद : राजराजेश्वर सम्राट अशोकवर्धन की जय !

अशोक : मनुष्य सूर्य से भी अधिक प्रकाशवन्त और अमारात्रि से भी अधिक काला हो सकता है। उसका मन आकाश से भी अधिक विस्तीर्ण और सुई की नोक से भी अधिक संकीर्ण हो सकता है। फिर शब्दों का क्या मूल्य है, मूल्य

है जीवन किस प्रकार चल रहा है, उसका। हर मानव को प्रकाशवन्त रहने का ही प्रयत्न करना चाहिए और अपने मन को आकाश के सदृश ही विस्तीर्ण रखना चाहिए। साथ ही अच्छाई के लिए जो प्रयत्न वह करता है, उसमें अवि-श्वास की छाया तक न पड़े इसके लिए सतत् सतर्क रह कभी न बुझने वाले आशादीप से अपने मार्ग को सदा द्युतिवन्त रखना चाहिए। आशावादिता में ही सच्चा जीवन है, आशा के अभाव में आज के साथ ही आगामी कल का भी विनाश हो जाता है।

[**अशोक व्यासपीठ से उठ पुनः सिंहासन पर बैठता है। जोर-जोर से जयघोष होते हैं। उपगुप्त अपने आसन से उठ व्यासपीठ पर बैठ जाता है।**]

उपगुप्त : राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन! अग्रामात्य, राज-पुत्रो, राष्ट्रीयगणो, राजुको, युक्तो, नगर व्यावहारिको, प्रदेष्ट्रियो, भिक्षुओ, भिक्षुणियों, नागरिको तथा सभासद-गणो! संसार के इतिहास में आज का दिवस अद्वितीय दिवस है। सम्राटों और राजाओं ने हार के पश्चात् तो युद्ध छोड़े हैं, पर जीत के पश्चात् युद्ध का त्याग एक अभूतपूर्व घटना है। अब तक यह माना जाता रहा है कि राज्योत्कर्ष का सर्वप्रधान साधन हिंसात्मक-समर है, परन्तु सम्राट् अशोकवर्धन ने हिंसा को तिरस्कृत मान अहिंसा और प्रेम से केवल राज्योत्कर्ष करने का संकल्प नहीं किया है, परन्तु, समस्त संसार को एक सूत्र में पिरोने

के एक नवीन अनुष्ठान का आरम्भ किया है।

कुछ भिक्षु-भिक्षुणी : (एक साथ) राजराजेश्वर अशोकवर्धन की जय!

कुछ भिक्षु-भिक्षुणी : राजगुरु उपगुप्त की जय!

कुछ भिक्षु-भिक्षुणी : भगवान् तथागत की जय!

कुछ भिक्षु-भिक्षुणी : सद्धम्म की जय!

उपगुप्त : फिर सम्राट् अशोकवर्धन केवल विचार-वीथि में विहार करने वाले नहीं हैं। उन्होंने अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए युद्ध और हर प्रकार की हिंसा को समाप्त कर प्रेम-पथ पर चलने की एक पूर्ण योजना बनायी है। ऐसे राजा को पाकर केवल भारतवर्ष ही नहीं पर समस्त संसार धन्य हो गया है और ऐसे नरेश की उपयुक्त उपाधि हो सकती है देवानाम् प्रिय: प्रियदर्शी चक्रवर्ती धार्मिक धर्मराज!

सभासद : देवानाम् प्रिय प्रियदर्शी चक्रवर्ती धार्मिक धर्मराज राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय!

[उपगुप्त व्यासपीठ से उठता है। नर्त्तकियाँ आती हैं। पहले नृत्य होता है और उसके पश्चात् गाना।]

गीत

जय धर्म धीर! जय धर्म धाम!
आतंकित खग मृग विकल मीन,
निर्मम-मानव रसना अधीन,
स्नेह, दया, दाक्षिण्य भूल,
बन गया बधिक सा हतज्ञान!

मानव का जाग्रत विवेक,
इंगित करता है धर्म एक,
दुख संकुल जग का ताप देख,
दे शीघ्र भुला, निज-दंभ मान !
चेतन सब में सम, भिन्न गात्र,
दुर्बल का जीवन कृपा-पात्र,
दारुण हिंसा का अस्त्र छोड़,
हो जाय मनुज अब पूर्ण काम !

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र नगर के बाहर एक विशाल उद्यान का एक भाग

समय : रात्रि

[वही उद्यान और उसका वही भाग जो दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में था। परन्तु, आज यह स्थान दीपावली के कारण दीपों से जगमगा रहा है। वृक्षों की शाखाओं से भी कुछ दीप झूल रहे हैं और कुण्ड में भी कुछ दीप तैर रहे हैं। इधर-उधर कुछ नर-समूह दृष्टिगोचर होते हैं। निकट कुछ नागरिक बातें कर रहे हैं। दूर के नागरिकों की बातें तो सुनायी नहीं देतीं, पर निकट के इन नागरिकों की बातें सुन पड़ती हैं।]

एक नागरिक : हाँ, हाँ, मैं कहता हूँ, दीपावली की यह विहार-यात्रा या धर्म-यात्रा जो कुछ भी कहो, ऐसी सूनी रही है जैसी इसके पहले की कोई विहार-यात्रा नहीं।

दूसरा नागरिक : मैं भी तुमसे सहमत हूँ। दिनभर रूखे-सूखे धर्मोपदेश और रात्रि को जो थोड़ा बहुत गाना बजाना वह भी न कभी ठीक समय आरम्भ होता है न उषःकाल तक चलता है।

तीसरा नागरिक : हाँ, पूरी यात्रा में एक दिन भी न राग यमन कल्याण सुना और न राग भैरव।

पहला नागरिक : फिर निरामिष भोजन !

दूसरा नागरिक : विविध भाँति के उन मांसों का स्वाद तो अब

केवल संस्मरण की वस्तु रह गयी है।

चौथा नागरिक : पर, भाई, सद्धम्म के प्रचार ने कितनी नैतिकता बढ़ायी है।

पाँचवाँ नागरिक : और मानव को ही कोई कष्ट न हो यह नहीं, सारे जीव सुखी तथा सुरक्षित हैं।

पहला नागरिक : मानव को कोई कष्ट है या नहीं सो तो तुम उनसे पूछो जिन्हें कभी इस निरामिष भोजन का अभ्यास नहीं था।

दूसरा नागरिक : मैं तो कुछ महीनों में ही भूख के मारे आधा हो गया हूँ।

तीसरा नागरिक : और मुझे तो यह निराभिष भोजन पचता ही नहीं। चिकित्सकों का कहना है अंतड़ियों को उस प्रकार के भोजन का अभ्यास था अतः थोड़े ही दिनों में तो शैय्या पकड़ने वाला हूँ।

पहला नागरिक : फिर अन्य जीवधारियों की तो तुमने खूब ही कही। धीरे-धीरे ये हरिण, भेड़, बकरियाँ, मोर और अन्य जीव-जन्तु इतने बढ़ जाने वाले हैं कि इस पृथ्वी पर मानव को खड़े रहने के लिए भी स्थान दुर्लभ हो जायगा।

[**दो भिक्षु इन नागरिकों के निकट आते हैं।**]

एक भिक्षु : कहिए, आपने आज के प्रवचनों का पूरा अर्थ समझ लिया न ? संयम अर्थात् इन्द्रियों का दमन। भावशुद्धि; अर्थात् विचारों की पवित्रता।

दूसरा भिक्षु : और दया, दान, सत्य शौच, शुश्रुषा, अहिंसा

इनके अर्थ करने की तो आवश्यकता ही नहीं है ।

पहला नागरिक : बहुत अच्छी तरह समझ लिया ।

दूसरा नागरिक : इन्हीं शब्दों का अर्थ समझते-समझते तो सारा दिन बीता है ।

तीसरा नागरिक : हम इतनी मोटी बुद्धि के नहीं हैं कि दिन भर समझाये जाने पर भी न समझें ।

दोनों भिक्षु : बहुत अच्छा, बहुत अच्छा ।

[**दोनों का प्रस्थान ।**]

पहला नागरिक : किसी तरह पिंड छूटा । यह सारा राज्य बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों का संघाराम हो गया है ।

दूसरा नागरिक : जो यह कहा जाता है कि राज्य सब धर्मों को समान दृष्टि से देखता है यह असत्य है ।

तीसरा नागरिक : सर्वथा असत्य है । अन्यथा वैदिक धर्म के यज्ञ हिंसामय कहकर बंद किये जाते ? देव-मंदिरों में बलिदानों पर रोक लगायी जाती ?

पहला नागरिक : और आप देखियेगा तो युद्ध बंद करने का भी तो क्या फल होता है ।

दूसरा नागरिक : युद्ध सदा से चला आता है, सदा चलता रहने वाला है, उसी में तो सच्चे वीर की परीक्षा होती है ।

पहला नागरिक : सब नपुंसक हो जाने वाले हैं, नपुंसक !

दूसरा नागरिक : आर्य चाणक्य की सहायता से सम्राट् चन्द्र-गुप्त ने जिस मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी वही राज्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समस्त नियमों को भंग-

कर रसातल को जा रहा है ।

तीसरा नागरिक : भाई, थोड़ा धीरे-धीरे बोलो ।

दूसरा नागरिक : धीरे-धीरे बोलने की क्या आवश्यकता है; दमन तो हो नहीं सकता, बहुत होगा तो प्रेमपूर्वक समझाया हो जाऊँगा न !

[**नागरिकों का अट्टहास ।**]

तीसरा नागरिक : और देखो, उत्तरापथ से दक्षिणपथ तक एक भी ऐसा प्रधान स्थान नहीं जहाँ शिलास्तूपों, शिला-स्तंभों को खड़ा कर-कर इन बौद्ध सिद्धान्तों के शिलालेख न लिखाये गये हों ।

दूसरा नागरिक : अर्थात्, हम ही नहीं हमारी भावी पीढ़ियाँ भी इन विचारों का प्रचार कर नपुंसक बनायी जा रही हैं ।

पहला नागरिक : नयी पीढ़ियाँ तो हमसे भी कहीं अधिक भीरु हो जायँगी क्योंकि हममें से तो कुछ में पुराने विचारों का भी अस्तित्व है । नयी पीढ़ियाँ तो आरम्भ से ही यही सीखेंगी ।

तीसरा नागरिक : हम भीरु हैं या नपुंसक, यह मैं नहीं मानता ।

दूसरा नागरिक : हाँ, हमारे ये विचार ही इस बात का प्रमाण हैं ।

चौथा नागरिक : पर, भाई, जो कुछ कहो यह तो मानना ही होगा कि इस समय जितनी शांति है और प्रजा को जितना सुख है, उतना इसके पहले कभी भी नहीं था ।

पाँचवाँ नागरिक : वह सुख केवल मानव को ही नहीं समस्त जीव मात्र को है।

पहला नागरिक : यह श्मशान की शांति है।

दूसरा नागरिक : और कितना सुख है सो तो मैंने अभी बताया ही।

तीसरा नागरिक : फिर जिसे तुम सुख समझते हो वह शक्ति-हीन होने के कारण। यदि कहीं से छोटा मोटा आक्रमण भी हो गया तो यह सुख ऐसे दुःख में परिणत होगा जिसकी तुम कल्पना नहीं कर सकते।

[नेपथ्य में वाद्य और गान की ध्वनि सुन पड़ती है जो निकट आ रही है।]

पहला नागरिक : लो, गाना बजाना आरम्भ तो हुआ।

दूसरा नागरिक : नर्त्तकियाँ इसी ओर आ रही हैं।

[कुछ नर्त्तकियों का नाचते-गाते हुए प्रवेश। इनके साथ वाद्य वादक भी हैं और बहुत सा जन समुदाय।]

गीत

आज मन-मन में दीप जले।
मृण्मय दीपक के विग्रह में,
चेतन है जड़ के निग्रह में,
ज्योति किरण को आवृत कर, घिर, तम की छाँह छले।
दीपक के उर का सूनापन,
जब भर देते स्नेह बिन्दुकन,
धवल सूत्र का आश्रय ले नव, स्निग्ध प्रकाश पले।

निज की छबि जब निज में झलकी,
युग-युग की स्मृति बरबस छलकी,
ज्वलित वर्तिका स्नेह-गरल में प्रतिपल डूब गले।

[**गीत समाप्त होते-होते अशोक, उपगुप्त, राधागुप्त, असंधिमित्रा, कारुवाकी, कुणाल, तीवर का प्रवेश। इनके आने पर जय-जयकार होता है।**]

अशोक : कहो नागरिको, इस वर्ष दीपावली की यह धर्म-यात्रा कैसी रही ?

पहला नागरिक : अत्यन्त सफल, श्रीमान्।

दूसरा नागरिक : पहले तो विहार यात्राओं में यदि मानवों को सुख मिलता तो उस अनित्य सुख के लिए कितने जीवों का वध होता था।

तीसरा नागरिक : अब तो राज्य की नयी नीति के अनुसार जीव-मात्र महान् सुखी हैं।

पहला नागरिक : फिर, महाराज, केवल राग-रंग ही नहीं इस यात्रा में दर्शन और शृंगार दोनों का कैसा सुन्दर समन्वय हुआ है।

तीसरा नागरिक : सोने में सुगन्ध !

उपगुप्त : (**अशोक से**) महाराज, सद्धम्म के भिन्न-भिन्न निकायों का एकीकरण करने के निमित्त जो संगीति बैठने वाली है उसकी घोषणा के लिए आज दीपावली के शुभ दिवस से बढ़कर दिवस और दीपावली की इस धर्म-यात्रा से बढ़कर और कौन अवसर आयगा।

अशोक : हाँ, हाँ, गुरुदेव, उस घोषणा के लिए यही उपयुक्त अवसर है। आप वह घोषणा कर दें।

उपगुप्त : (ऊँचे स्वर से) सुनो नागरिक और समस्त उपस्थित जन समुदाय! पाटलिपुत्र के अशोकाराम में एक ऐतिहासिक बात होने वाली है।

कुछ नागरिक : (एक साथ) कौन सी, कैसी ?

उपगुप्त : भगवान् तथागत द्वारा संस्थापित सद्धम्म में कुछ मतभेद हो गये हैं। उन मतभेदों के कारण भिन्न-भिन्न निकाय। इन समस्त निकायों के एकीकरण करने के निमित्त, इन समस्त निकायों के विद्वानों की अशोकाराम में एक संगीति बैठेगी। उसमें शास्त्रार्थ होगा। समस्त निकायों के एकीकरण के निमित्त सारे प्रयत्न किये जायेंगे। धम्मशास्त्र के विवेचन के श्रवण का इससे अधिक महत्त्वशाली अवसर किसी को भी जीवन में मिलने वाला नहीं है। धम्म के श्रद्धालु सज्जन अशोकाराम में उपस्थित हो इस शास्त्रार्थ का श्रवण कर सकते हैं। संगीति की तिथियाँ कुछ समय पश्चात् घोषित की जायँगी!

कुछ नागरिक : धन्य है, धन्य है!

कुछ नागरिक : देवानाम् प्रिय प्रियदर्शी चक्रवर्ती धार्मिक धर्मराज राजराजेश्वर सम्राट् अशोकवर्धन की जय!

कुछ नागरिक : गुरुदेव उपगुप्त की जय!

कुछ नागरिक : भगवान् तथागत की जय!

कुछ नागरिक : सद्धम्म की जय!

[कुछ देर निस्तब्धता ।]

पहला नागरिक : (नर्त्तकियों से) इस दीपावली के शुभ दिवस कोई सुन्दर गान सम्राट् को न सुनाया जायगा ?

एक नर्त्तकी : जैसी सम्राट् की आज्ञा ।

अशोक : हाँ, हाँ, मैं सहर्ष सुनूँगा ।

[गान आरम्भ होता है ।]

गीत

अम्बर अवनी पर उतर रही
यह अमा निशा तम वाली ।
अञ्चल में नभ के दीपक
जुगनू की झिल-मिल जाली ।
घन श्यामलता घर-घर की
उज्ज्वल करती दीपाली ।
जगमग दीपक के नीचे
छिपती अँधियारी काली ।
निज क्षण भंगुर जीवन को
भूला सा दीपक हँसता ।
इस महा श्याम गह्वर में
निर्भय एकाकी धँसता ।
मिट्टी के तन में जलती
चुप चाप ज्योति की ज्वाला ।
क्षण-क्षण में हटता जाता
अभिमान, मोह, तम काला ।

यवनिका

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र में राजभवन के गर्भागार के अवरोधन में
कारुवाकी का कक्ष

समय : रात्रि

[यह वही कक्ष है जिसमें असंधिमित्रा का निवास था। असंधिमित्रा की मृत्यु हो चुकी है और अब इस कक्ष में असंधिमित्रा का एक बड़ा भारी चित्र लगा हुआ है। कारुवाकी एक शयन पर बैठी हुई तमूरा बजाकर गा रही है। कारुवाकी इस प्रकार बैठी हुई है जिससे उसका मुख असंधिमित्रा के चित्र की ओर है। एक प्रकार से वह यह गीत असंधिमित्रा के चित्र को सुना रही है। कारुवाकी अब वृद्ध हो चली है। उसकी अवस्था लगभग पचास वर्ष की है। कानों के निकट के केश श्वेत हो गये हैं। परन्तु इतने पर भी उसमें प्रौढ़ सौन्दर्य विद्यमान है।]

गीत

हे विहग मानस के अधीर।
खोल पर तुम उड़ चलो उस दूर गत के तीर।
नील नभ सा था जहाँ अन्तर अनन्त उदार,
अचल क्षिति सी धृति अटल थी सह अपरिमित भार,
साँस में था मन्द शीतल सुरभि शान्त समीर।

रवि-रश्मि काथा प्राण-प्रद पावन प्रखर उत्ताप,
मान के धन दूर-लम्बित भर हृदय में भाप,
तरल करुणा सा झलकता लोचनों में नीर।
आज आश्रय-हीन खग सी भावना की भीर।

कारुवाकी : (गीत पूर्ण होने पर) चली गयीं· ·तुम चली गयीं, जीजी ! और···और मेरा···मेरा तो संसार हाँ, सारा संसार शून्य करके चली गयीं ! ऐसा···ऐसा स्नेह···ऐसा ···ऐसा प्रेम···ऐसा···ऐसा प्रणय किसने···किसने पाया होगा, इस जीवन में, जैसा···जैसा मैंने पाया था तुम से ! माता, भगिनि, सखी, सभी कुछ, हाँ, सभी कुछ थीं तुम··· तुम मेरी ! अपने···अपने से अधिक···कहीं अधिक ध्यान रहता था तुम्हें मेरा। कब···कब सोती हो···कब···कब उठती हो, नींद आयी या नहीं, और वह भी सुख से आयी या नहीं स्वप्नों वाली तो नहीं आयी, टूट-टूट कर तो नहीं आयी, खाया या नहीं···क्षुधा से खाया या नहीं, स्वाद से खाया या नहीं, तुम्हारे···तुम्हारे ये नित्य के प्रश्न होते थे, हाँ, नित्य के। तुम···तुम तो गयी जीजी, ···पर···पर तुम्हारे जाने से मैं···मैं तो मृतक से भी अधिक हो गयी। कौन···कौन अब वैसे प्रश्न पूछता है ? जब ···जब तुम थीं उस समय···उस समय तो अनेक बार··· अनेक बार ऐसे प्रश्नों पर मैं···मैं ऊब उठती थी, पर··· पर अब···अब वे ही प्रश्न कितने स्मरण आते हैं। और ···और कितना ध्यान रहता था तुम्हें, उस तीव्रर का,

महेन्द्र और कुणाल से भी अधिक, हाँ, महेन्द्र और कुणाल से भी अधिक कौन···कौन विमाता अपनी सौत के पुत्र का इतना···इतना ध्यान रखती है। और···और चली गयी तुम्हारे साथ-साथ श्री, समस्त शोभा राजभवन के इस···इस गर्भागार की, गर्भागार के इस···इस अवरोधन की, और···और अवरोधन, गर्भागार की क्या, समस्त राजभवन की। मैं तो कहूँगी सारे पाटलिपुत्र की, सारे भारतीय साम्राज्य की। (**कुछ रुककर**) फिर···फिर क्या कर डाला सम्राट ने, इस वृद्धावस्था में ? तिष्यरक्षिता के सदृश तुम्हारी दासी से विवाह ? वह···वह तिष्यरक्षिता ···ओह !···ओह !···

[**तिष्यरक्षिता का प्रवेश। तिष्यरक्षिता लगभग पच्चीस वर्ष की अवस्था की गौर वर्ण की अत्यन्त सुन्दर युवती है।**]

तिष्यरक्षिता : हाँ, कोसो मुझे, जितना कोसते बने उतना कोसो ! मुँह भरकर कोसो, पेट भरकर कोसो ! पर जानती हो इस कोसने से मेरा कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। सुनती थी जब महिलाएँ प्रौढ़ हो जाती हैं और सारा सौन्दर्य खो जाने के कारण पति द्वारा तिरिस्कृता, त्यक्ता, तब उनकी अन्य इन्द्रियों में तो बल नहीं रहता पर जीभ में बड़ी शक्ति आ जाती है और वह शक्ति अन्यों के कोसने में लय होती है, अन्य किसी बात में भी नहीं। मैं तो यह आशा करती थी कि जिस प्रकार बड़ी रानी ने तुम्हें माना

था उसी प्रकार तुम मुझे मानोगी, पर वह उदारता तुम में कहाँ ?

कारुवाकी : चुप भी रह, एक बार बोलना आरम्भ करती है तो किसी वाक्य पर विश्राम लेना तक नहीं जानती ।

तिष्यरक्षिता : तुम जानती हो विश्राम लेना ! मैंने अभी तुम्हारी वे सब बातें सुन लीं जो तुम बड़ी रानी के चित्र से कर रही थीं। और अभी क्या न जाने कितनी बार सुना करती हूं । घड़ियों पर घड़ियें बीत जाती हैं, निर्जीव चित्र से बातें करते, पर जब मैं कोई बात करने आती हूँ, मुझे जली-कटी ही सुनाती हो । मैं तुम से छोटी थी आशा करती थी वैसा ही स्नेह और प्रेम पाऊँगी तुम से, जैसा तुमने पाया था बड़ी रानी से । पर कहा न, वह उदारता तुम में कहाँ !

कारुवाकी : फिर चल पड़ी चंचल जीभ ! बड़ी रानी की और मेरी उदारता में तुलना तो नहीं हो सकती, पर जानती है स्नेह और प्रेम उपयुक्त पात्र ही पाता है ।

तिष्यरक्षिता : तो तुम बड़ी उपयुक्त पात्र थीं, मैं नहीं ! तुम में जितना सौन्दर्य था उससे मुझ में कहीं अधिक है; देखो तो अपनी आँखें और मेरे नयन, देखो तो अपनी नाक और मेरी नासिका, देखो तो अपने ओंठ और मेरे अधर, देखो तो अपने दाँत और मेरी दन्त-पंक्ति । अरे मिलान कर लो न अपने मुखड़े और सारे शरीर से मेरे आनन और तन का ।

कारुवाकी : (दोनों हाथों से कानों को थपथपाते हुए) तेरी

इस नित्य-प्रति की चखचख से मैं तो बहरी हो जाऊँगी।

तिष्यरक्षिता : बहरी चाहे हो जाओ, पर, मेरे प्रति तुम्हारा व्यवहार न बदलेगा; क्यों ? मैं कहती हूँ, मेरे लिए नहीं अपने लिए ही इस व्यवहार में परिवर्त्तन करो। महाराज का मुझ पर जो प्रेम है, वह तुमसे छिपा नहीं है। यदि मैं उन्हें कह दूँ कि तुम्हारे कक्ष में पैर न रखें तो कक्ष में पैर रखना तो अलग रहा, दूर से इस कक्ष को देखेंगे भी नहीं। यदि मैं कह दूँ कि तुम से बात न करें तो बात करना तो अलग रहा तुम्हारी छाया के निकट भी न आयँगे।

कारुवाकी : तुझे जो कहना हो कह दे, जो करना हो कर डाल; मेरे प्राण तो न खा। (**खीझकर**) दासी तो ठहरी !

तिष्यरक्षिता : (**अत्यन्त क्रोध से**) दासी !···दासी ! कभी दासी रही होऊँगी, आज तो रानी हूँ, वैसी ही रानी जैसी बड़ी रानी थीं, वैसी ही रानी जैसी तुम हो। नहीं-नहीं भूल गयीं, मुझ पर जैसा राजराजेश्वर का प्रेम है वैसा प्रेम न कभी बड़ी रानी पर हुआ था और न तुम पर है। बुढ़िया, खूसट कहीं को !

[**पैर पटकती हुई जाती है। उसके जाने पर कारुवाकी जोर से हँस पड़ती है और कुछ रुककर फिर तमूरा उठा बजाकर गाने लगती है।**]

गीत

री ! चरम वञ्चना जीवन की !
क्षण-क्षण परिवर्त्तित चक्र विषम,
कण-कण करता जीवन चर्वण,
रस-सरिता, सूखी तन की ।
मांसल, मृदु, सुवरण स्निग्ध गात्र,
चपला की चंचल चमक मात्र,
मरु-जल सी तृष्णा मन की ।
दंभ, दर्प दौर्बल्य लीन,
हास्य, लास्य-मय देह दीन,
निष्ठुर परिणति यौवन की ।

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र में राजभवन के गर्भागार के अवरोधन
में तिष्यरक्षिता का कक्ष

समय : रात्रि

[कक्ष लगभग वैसा ही जैसा असंधिमित्रा का कक्ष था; उसी प्रकार सजा भी है। एक चौकी पर कुणाल का चित्र रखा हुआ है। कुणाल के चित्र से ज्ञात होता है कि वह अब युवा हो गया है और अत्यन्त सुन्दर है। तिष्यरक्षिता का गाते हुए प्रवेश। वह गाते-गाते कुणाल के उस चित्र को उठा लेती है, चित्र को देखते-देखते गाती और कक्ष में इधर से उधर और उधर से इधर टहलती रहती है।]

गीत

नयनों की श्यामलता में,
क्यों गहरी एक उदासी ?
सौन्दर्य ऊर्मि चितवन क्यों,
शफरी जल में भी प्यासी ?
कमनीय दृगों की कोरें,
कानों तक खिंच-खिंच आतीं।
कुछ गुप-चुप मन की बातें,
कह उठने को अकुलातीं।
जीवन रहस्य के पर्दे,
दृग वातायन में खुलते।

रङ्गीन स्वप्न संसृति के
इन प्यालों में हैं घुलते।

[तिष्यरक्षिता गीत पूर्ण होने पर एक शयन पर पैर ऊपर कर बैठ जाती है और दोनों घटनों के बीच में चित्र रख उसे एकटक देखती रहती है।]

तिष्यरक्षिता : (चित्र से) कितने···कितने सुन्दर हो तुम, कुणाल! विधाता ने सारे शरीर और मुख में सौन्दर्य कूट-कूटकर, हाँ, कूट-कूटकर भर दिया है। और···और समस्त अवयवों में तुम्हारे ये नेत्र···तुम्हारे ये नयन···तुम्हारे ये लोचन! ओह! रतनारे मद से भरे हुए हैं; ऐसे मद से भरे हुए कि जिन्हें देखते ही समस्त सृष्टि की सुन्दरियाँ मदमाती···हाँ, मदमाती हो जायँ। ऐसा···ऐसा मद जो पान करने से मदालसा नहीं बनाता पर दर्शन···दर्शन से ही मदमत्त कर देता है। और···और कहाँ···कहाँ तुम, कहाँ···कहाँ वह काञ्चनमाला। तुम्हारे योग्य मैं थी! और तुम थे मेरे योग्य! (कुछ रुककर) थी क्यों? और थे क्यों? अभी भी मैं···मैं ही तुम्हारे योग्य हूँ, और तुम्हीं ···तुम्हीं मेरे योग्य। यदि···यदि इन···इन नयनों से नेह का एक कटाक्ष भी पा जाऊँ, जीवन···जीवन सफल हो जाय मेरा; और···और मेरा ही नहीं, तुम्हारे उस प्रणय के बदले में तुम···तुम भी मेरा जो प्रेम प्राप्त करोगे उस ···उससे तुम्हारा जन्म भी सफल हो जायगा।···कैसा··· कैसा सुखमय होगा मेरा और तुम्हारा प्रेमपूर्ण वह जीवन!

कौन कर सकता है उस जीवन का वर्णन, अरे वर्णन क्या कल्पना भी ?···हमारे यौवन वसन्त के उस···उस जीवन यापन की प्रेरणा के लिए बादरायण के काम-सूत्रों से भी विशद्, हाँ, विशद् ग्रंथ की आवश्यकता होगी। (**कुछ रुक-कर**) तुम जब···जब मुझे माता संबोधन से संबोधित करते हो तब···तब मेरे तन में, मेरे समूचे तन में आग-सी लग जाती है। मन···मन भी जलने, हाँ, जलने लगता है। सुनती थी माता शब्द तो बड़ा प्यारा शब्द है···माता का हृदय पुत्र से वह संबोधन सुन ऐसा पुलकित होता है, उल्लसित होता है जैसा···जैसा किसी अन्य शब्द से नहीं। पर···पर वह तब होता होगा जब···जब कोई स्त्री यथार्थ में माता होती होगी। मैं···मैं तुम्हारी माता कैसी ? अव-स्था में भी तुम से कम। (**कुछ रुककर**) कितनी···कितनी बार तुम्हें देखती हूँ···कितनी···कितनी बार तुम से बात करती हूँ, सदा···सदा तुम्हारी भावनाओं का पता पाने के लिए, पर···पर अब तक तो पता नहीं लगा सकी। प्रेम···प्रेम यदि बहुत गहरा हो तो उसकी सच्ची हाँ, सच्ची भावनाओं को जानने के लिए उसी प्रकार गहराई में डुबकी ··डुबकी लगानी पड़ती है, जिस प्रकार मुक्ता प्राप्त करने के लिए समुद्र में। पर · पर यह प्रतीक्षा···प्रतीक्षा का जीवन अत्यन्त कष्टप्रद हो गया है। आज···आज इस संबंध में कोई न कोई निर्णय कर ही लेना होगा।

[**कुणाल का प्रवेश। उसकी अवस्था लगभग अट्ठाईस-**

उन्तीस वर्ष की दिखती है। वह गौर वर्ण, ऊँचे कद, छरहरे शरीर का सचमुच अत्यन्त सुन्दर युवक है, लाखों-करोड़ों में एक। उसके बड़े-बड़े लोचनों में अद्‌भुत प्रकार का मद से भरा सौन्दर्य है।]

कुणाल : माता जी, आपने मुझे बुलाया है ?

तिष्यरक्षिता : (**कुणाल की आवाज सुन जल्दी से उसके चित्र को चौकी पर रखते और सिटपिटाकर उठते हुए**) हाँ, हाँ, कुणाल।

कुणाल : (**जिसने अपना चित्र तिष्यरक्षिता के घुटनों पर रखे देख लिया था, अपने चित्र को देखते हुए**) माता जी, आप मेरा चित्र देख रहीं थीं ?

[तिष्यरक्षिता कोई उत्तर नहीं देती। एक बार नेत्र उठाकर कुणाल की ओर देखती है और फिर दृष्टि नीची कर लेती है। कुछ देर तक विचित्र प्रकार की निस्तब्धता।]

कुणाल : माता जी, आपको मेरे इस चित्र में कोई विशेषता दृष्टिगोचर होती है ?

तिष्यरक्षिता : यदि किसी में कोई विशेषता होती है तो वह विशेषता उसके चित्र में नहीं आ जाती !

[कुणाल का सिर झुक जाता है। कुछ देर फिर निस्तब्धता।]

कुणाल : (**एक आसन्दी पर बैठते हुए**) माता जी, इधर कुछ समय से आपके सारे व्यवहारों में मुझे कुछ विचित्रता दृष्टिगोचर होती थी। इसके कारण अनेक बार मैं कुछ सोच में भी पड़ जाता था। पर, आज अचानक सब बातें

स्पष्ट हो गयीं ।

तिष्यरक्षिता : **(साहस के साथ)** भगवान् ने सचमुच मुझ पर बड़ी कृपा की । ऐसा प्रसंग ही उपस्थित हो गया कि मुझे कुछ नहीं कहना पड़ा और सब बातें स्पष्ट हो गयीं। **(दूसरी आसन्दी पर बैठ जाती है ।)**

कुणाल : आप जानती हैं, आपकी भावनाएँ आपको कहाँ ले जा रही हैं ?

तिष्यरक्षिता : **(उसी प्रकार साहस से)** वहीं जहाँ ले जाना चाहिए ।

कुणाल : माता जी'''माता जी !

तिष्यरक्षिता : मुझे माता न कहो । कैसे मैं तुम्हारी माता और कैसे तुम मेरे पुत्र !

कुणाल : पर पिताजी ने आपसे विवाह जो किया है ।

तिष्यरक्षिता : पिता के विवाह करने से ही कोई माता हो जाती है ?

कुणाल : पिता जिस स्त्री से विवाह करता है, वह माता नहीं तो और क्या होती है ?

तिष्यरक्षिता : पिता की पत्नी हो सकती है, पर माता नहीं । तुम से भी कम अवस्था वाली मैं तुम्हारी माता !

[**कुणाल का सिर झुक जाता है । कुछ देर निस्तब्धता ।**]

कुणाल : **(दीर्घ निःश्वास छोड़कर)** इस वृद्धावस्था में आपके सदृश तरुणी से विवाह कर पिता जी ने एक अनुचित कार्य किया है इसे मैं स्वीकार करता हूँ । परन्तु, इस विवाह में

रानी बनने की आपकी महत्त्वाकांक्षा भी कम उत्तरदायी नहीं है। फिर दो अनुचित बातें मिलकर एक उचित बात तो नहीं होती।

तिष्यरक्षिता : तो जिसे तुम माता कहते हो उसे उपदेश देने आये हो ?

कुणाल : मैं आया तो हूँ आपके बुलाने पर, किन्तु जब माता कहता हूँ तो आप कहती हैं कैसे आप मेरी माता और कैसे मैं आपका पुत्र। जब और कुछ निवेदन करता हूँ तब आप कहती हैं, जिसे तुम माता कहते हो उसे उपदेश देने आये हो !

तिष्यरक्षिता : मैंने तुम्हें उपदेश देने नहीं बुलाया था।

कुणाल : आपने जिस लिए बुलाया था वह तो मैं समझ गया, परन्तु मैं आप से स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि आप मुझसे किसी अनुचित अभीष्ट के सिद्धि की आशा न रक्खें।

[**तिष्यरक्षिता क्रोध भरी मुद्रा में नेत्रों से अग्नि-सी बरसाती हुई कुणाल की ओर देखती है। कुणाल नतमस्तक हो जाता है। कुछ देर निस्तब्धता। तिष्यरक्षिता का क्रोध थोड़ी ही देर में करुणा में परिवर्तित हो जाता है।**]

तिष्यरक्षिता : (**करुण स्वर में**) कुणाल...कुणाल !

कुणाल : (**तिष्यरक्षिता की ओर देखते हुए**) माता जी, मैंने आपसे निवेदन कर दिया कि आप मुझसे किसी अनुचित अभीष्ट के सिद्धि की आशा न रक्खें।

तिष्यरक्षिता : (**उसी प्रकार के स्वर में**) पर, कुणाल, क्या उचित

है और क्या अनुचित इसकी जगत में कभी कोई ठीक और अंतिम व्याख्या हो पायी है ?

कुणाल : देश-काल के अनुसार सदा उचित और अनुचित की व्याख्या हुई है ।

तिष्यरक्षिता : और वह सदा परिवर्त्तनशील है । एक समय था जब विवाह संस्था ही नहीं थी । पुरुष और नारी सह-जीवन के लिए स्वतंत्र थे । वरन् माता पुत्रों को इसलिए पालती-पोसती थी कि युवा होने पर वे उनके साथ पति का-सा आचरण करेंगे । भाई और बहन तो पति-पत्नियों के सदृश रहते ही थे फिर गण लग्न आये और···

कुणाल : **(बीच ही में)** आप व्यर्थ की बकवाद कर रही हैं ! मानव ने विकास के पथ से धीरे-धीरे अपनी उन्नति की है । वह कन्दरा में रहने वाला पशु या घोंसले में रहने वाला पक्षी अथवा जल के भीतर किसी बिल में रहने वाला जलचर नहीं, वह सामाजिक प्राणी है । समाज बिना नैतिक सिद्धान्तों के संगठित नहीं रह सकता । मानव ने अपने अनुभवों के आधार पर इन नैतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया और नर-नारी के सह-जीवन के लिए विवाह संस्था की स्थापना हुई । मैं उन मानवों में हूँ जो यह मानते हैं कि नर-नारी के सह-जीवन के लिए विवाह से अच्छी अन्य कोई पद्धति नहीं ।

तिष्यरक्षिता : और उस विवाह का एक रूप तुम्हारे पिता और मेरा विवाह भी है, जिसे तुमने स्वयं अभी-अभी अनुचित

बताया है ।

कुणाल : यह विवाह का कुत्सित रूप है, इसे मैं स्वीकार करता हूँ।

तिष्यरक्षिता : तब ?

कुणाल : तब भी, मैं जो कुछ आप चाहती हैं, उसे उचित नहीं मानता ।

[**तिष्यरक्षिता कुणाल की ओर देखने लगती है । कुणाल सिर नीचा कर लेता है । कुछ देर निस्तब्धता ।**]

तिष्यरक्षिता : (**प्रेम भरे स्वर में**) कुणाल, जीवन के दूसरे पहलू की ओर भी देखो, रसमय पहलू की ओर । भगवान् ने मनुष्य योनि दी है ! फिर मनुष्य योनि में सौन्दर्य का सर्वश्रेष्ठ स्थान है ! इस सौन्दर्य में युवावस्था ! कितने सुन्दर हो तुम और कितनी सुन्दर हूँ मैं ! यह जीवन सदा नहीं रहता, जीवन की तरुणाई के इस हरे-भरे उपवन में यह ऋतुराज वसन्त भी सदा रहने वाला नहीं है । धन्य हैं वही जो इस जीवन की इस अवस्था में सुखोपभोग कर इसका रस लेते हैं ।

कुणाल : (**कड़ककर**) अपने को सम्हालिये, माता जी, मैं कल ही पाटलिपुत्र छोड़ दूँगा ।

तिष्यरक्षिता : मुझसे भागना चाहते हो ?

कुणाल : पलमात्र को भी यह न सोचियेगा कि आपके प्रति मेरा तनिक भी आकर्षण है इसलिए मैं अपने को बचाने के लिए यहाँ से भाग रहा हूँ ।

तिष्यरक्षिता : तब ?

कुणाल : पिता जी की कुछ समय से इच्छा थी कि मैं तक्षशिला का राष्ट्रीय बनकर जाऊँ। आपने एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि अब मेरा जाना ही श्रेयस्कर है। **(जाने के लिए खड़ा हो जाता है।)**

तिष्यरक्षिता : **(पुन: क्रोध से)** कुणाल, तुम एक बात जानते हो ?

कुणाल : कौनसी ?

तिष्यरक्षिता : जिसके प्रणय का तिरस्कार किया जाता है वह नारी भूखी बाघिन हो जाती है।

कुणाल : भूखी बाघिन होकर आप मुझे चीर-फाड़कर खा सकती हैं, पर तीसरी बार फिर दोहराता हूँ कि आप मुझसे किसी अनुचित अभीष्ट के सिद्धि की तनिक भी आशा न रखें। *(शीघ्रता से प्रस्थान।)*

तिष्यरक्षिता : **(तमक कर खड़े हो इधर-उधर टहलते हुए दाँत पीसकर अत्यन्त क्रोध से)** अच्छा...अच्छा, कुणाल, मैं...मैं तो तुम्हें सुख देना चाहती थी, अपूर्व सुख और स्वयं भी उस सुख से सुख पाना चाहती थी। पर...पर मेरा ऐसा तिरस्कार ! इसका यदि भीषण और पूर्ण प्रतीकार न लिया तो...तो मैं तिष्यरक्षिता नहीं, सच्ची स्त्री नहीं।

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान : पाटलिपुत्र के राजभवन के गर्भागार में अशोक का कक्ष

समय : रात्रि

[कक्ष वही है जो दूसरे अंक के पहले दृश्य में था, परन्तु अब इसकी सजावट में बहुत अन्तर हो गया है। कक्ष के पीछे की भित्ति में बिन्दुसार, सुभद्रांगी, असंधिमित्रा और विगताशोक के बड़े-बड़े चित्र लगे हैं। इन चित्रों के अतिरिक्त पीछे की तथा दोनों ओर की भित्तियों के जो भाग दिखते हैं, उन पर भी पाटलिपुत्र के अशोकाराम तथा देश के अन्य विभागों में बने हुए चौरासी हजार बौद्ध विहारों में से कुछ बड़े-बड़े विहारों, शिला-स्तूपों, शिला-स्तंभों, धर्म-यात्राओं, धर्म-प्रचारकों की सभाओं, शिलालेखों आदि के चित्र हैं। कक्ष की भूमि पर शयनों, आस-न्दियों और चौकियों आदि के अतिरिक्त साँची और भारहुत के बौद्ध स्तूपों, सारनाथ के स्तंभ, लोरिया नन्दगढ़ के स्तंभ तथा अन्य स्तंभों के पाषाण के नमूने सजे हुए हैं। इनमें सबसे अधिक ध्यान को आकर्षित करने वाला सारनाथ के स्तंभ का नमूना है, जिसके चारों ओर सिंह और सिंहों के नीचे का चक्र तथा चक्र के दोनों ओर के वृषभ और अश्व स्पष्ट दीख पड़ते हैं। अशोक और कारुवाकी कक्ष में सारनाथ के स्तंभ के नमूने के सामने खड़े हुए हैं। अशोक अब वृद्ध होगया है। सारे केश श्वेत हो गये हैं, पर शरीर और मुख पर बालों की सफेदी के अति-रिक्त वृद्धावस्था का अन्य कोई चिह्न नहीं है। कारुवाकी

की अवस्था हमने उसे जब इस अंक के दूसरे दृश्य में देखा था। उससे भी कुछ अधिक हो गयी है, जो उसके केशों की श्वेतता बढ़ जाने से ज्ञात होता है।]

अशोक : प्रिये, आज मेरे राज्यारंभ को बारह-बारह वर्षों के तीन युग समाप्ति के उत्सव के कारण छत्तीस वर्षों की न जाने कितनी घटनाएँ और बातें मुझे स्मरण आ रही हैं।

कारुबाकी : ऐसे अवसरों पर बीते हुए समय की विविध घटनाओं और बातों का स्मरण आना स्वाभाविक ही है, नाथ।

अशोक : इन छत्तीस वर्षों में क्या-क्या सोचा, क्या-क्या किया और जो सोचा तथा किया वह सब सुरक्षित रहेगा। **(दाहिने हाथ की तर्जनी को कक्ष के समस्त चित्रों और पाषाण के नमूनों की ओर घुमाते हुए)** इन सब शिला-स्तूपों, शिला-स्तंभों, शिलालेखों आदि के कारण।

कारुबाकी : और इन सबमें प्रधान है यह सारनाथ वाला स्तंभ।

अशोक : अवश्य।

कारुबाकी : इस स्तंभ के ये चारों सिंह और सिंहों के नीचे का चक्र सचमुच ही कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं।

अशोक : सौन्दर्य के अतिरिक्त ये अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के सूचक और परिचायक भी हैं। **(कुछ रुककर)** राज्यारंभ के चौथे युग के इस दिवस को इन शिलालेखों में से भी कुछ महत्त्वपूर्ण शिलालेखों को पढ़ जाओ।

कारुबाकी : हाँ, इससे पुराने संस्मरण पुनः नवीन हो जायँगे जो ऐसे महत्त्वपूर्ण दिवसों के उत्सव का प्रधान लक्ष रहता है।

अशोक : (एक शिलालेख के चित्र के सम्मुख जा) पढ़ो, प्रिये, इस लेख को पढ़ो। मेरे मानसिक परिवर्तन के प्रारंभ का प्रतीक यही लेख है।

कारुबाकी : (लेख पढ़ते हुए) "कलिंग युद्ध पर देवताओं के प्रिय को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। देवताओं के प्रिय को इस बात से बड़ा खेद हुआ कि एक नये देश के विजय करने के समय कितने लोगों की हत्या करनी पड़ी, कितनों की मृत्यु हुई, कितने ही कैद किये गये।...कलिंग देश की विजय के समय जितने आदमी मारे गये, मारे या कैद हुए उनका शतांश अथवा सहस्रांश भी यदि मारा जाय या देश से निकाला जाय तो वह देवताओं के प्रिय को बड़ा दुःख का कारण होगा...देवताओं का प्रिय सब जीवों की रक्षा, संयम, समचर्या तथा हित चाहता है। धर्म की ही विजय को देवताओं का प्रिय मुख्य विजय मानता है।"

अशोक : (दूसरे लेख के चित्र के सम्मुख जाकर) अच्छा, इसे पढ़ो।

कारुबाकी : (लेख पढ़ते हुए) "सब मनुष्य मेरी सन्तान के समान हैं और जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरी सन्तान इस लोक और परलोक में सर्वप्रकार के हित और सुख को प्राप्त करे उसी प्रकार मैं चाहता हूँ कि सब

मनुष्य हित और सुख को प्राप्त करें।"

अशोक : (**तीसरे शिलालेख के चित्र के सामने जा**) अब इसे पढ़ो।

कारुवाकी : (**शिलालेख को पढ़ते हुए**) "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि धर्म का पालन करना ठीक है परन्तु धर्म क्या है ? पापों का अभाव और अच्छे कामों का करना अर्थात् दया, दान, पवित्रता और सच्चाई से जीवन निर्वाह करना।"

अशोक : (**चौथे शिलालेख के सामने जा**) अब इसे।

कारुवाकी : (**पढ़ते हुए**) "यहाँ कोई जीव मारकर बलिदान न किया जाय···पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के ही रसोईघर के लिए प्रतिदिन हजारों जीव मारे जाते थे पर जिस समय यह लेख लिखवाया गया केवल तीन जीव, दो मोर और एक हरिण मारे जाते हैं। इनमें भी हरिण नित्य नहीं मारा जाता। ये तीन जीव भी भविष्य में नहीं मारे जावेंगे।"

अशोक : (**पाँचवें शिलालेख के सामने जा**) अब इसे पढ़ो।

कारुवाकी : (**पढ़ते हुए**) "प्राचीन समय से राजा लोग आखेट तथा आमोद-प्रमोद और विहार-यात्रा के लिए निकलते थे। देवताओं के प्रिय राजा ने अपने राज्याभिषेक के दस वर्ष पश्चात् संबोधि की यात्रा की। इस प्रकार विहार-यात्रा के स्थान पर धर्म-यात्रा की प्रथा पड़ी।"

अशोक : (**छठवें शिलालेख के सामने जा**) अब इसे भी पढ़ो।

कारुवाकी : (पढ़ते हुए) "मनुष्य को दूसरे सम्प्रदायों का भी आदर करना चाहिए। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार होता है। इसके विपरीत आचरण से न केवल दूसरे संप्रदाय का अपकार ही होता है वरन् अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचती है'''अपने आपस में मिल-जुलकर रहना और दूसरे के धर्म को आदर से सुनना ही अच्छा है।"

अशोक : (सातवें शिलालेख के सामने जा) फिर, प्रिये, मैंने केवल उपदेश ही नहीं दिये, इन उपदेशों के अनुसार स्वयं कार्य भी किया है, और राजसत्ता के द्वारा अनेक कार्य कराये भी हैं।

कारुवाकी : (पढ़ते हुए) "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यह कहता है कि प्राचीन समय से कभी ऐसा पहले नहीं हुआ कि किसी भी समय राजकीय समाचार तथा अन्य राजकाज संबंधी बातें राजा के सम्मुख उपस्थित की जाती हों, परंतु मैंने यह प्रबंध किया है कि प्रत्येक समय चाहे, मैं भोजन करता होऊँ, चाहे गर्भागार में होऊँ, चाहे अव-रोधन में, चाहे पशुशाला में, चाहे देव-गृह में, चाहे उद्यान में, सब स्थानों पर प्रतिवेदक प्रजा के संबंध में मुझे सूचना दे सकते हैं। सब स्थानों में मैं प्रजा के कार्य करता हूँ। यदि किसी बात की मैंने आज्ञा दी हो उसके विषय में या ज़ो कार्य महामात्यों के ऊपर छोड़े गये हैं या उन महा-मात्यों की परिषद् में संदेह, मतभेद या पुनर्विचार की

आवश्यकता हो तो बिना विलम्ब के सब स्थानों और सब समय मुझे उसकी सूचना दी जाय। राज-कार्य में मैं कितना ही उद्योग करूँ उससे मुझे संतोष नहीं होता। सब लोगों की भलाई करना ही मैंने अपना कर्त्तव्य माना है और यह उद्योग और राज-कार्य संचालन से ही पूरा हो सकता है। सर्वलोक हित से बढ़कर और कोई अच्छा काम नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ वह इसलिए है कि प्राणी-मात्र का मेरे ऊपर जो ऋण है उससे मैं मुक्त होऊँ और उनका इस लोक तथा पर-लोक में हित बढ़े। यह धर्म-लेख इसलिए लिखवाया गया है कि यह चिरस्थायी रहे और मेरे पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र सब लोगों की भलाई के लिए सदा उद्योग करें। अत्यधिक प्रयत्न के बिना यह कार्य कठिन है।"

अशोक : (**आठवें शिलालेख के सामने जा**) अब इसे पढ़ो, प्रिये !

कारुवाकी : (**पढ़ते हुए**) "मेरे राज्य में सब जगह युक्त, राजुक और प्रादेशिक प्रति पाँचवें वर्ष शासन संबंधी दूसरे कार्यों के साथ-साथ लोगों को यह धर्मानुशासन बताने के लिए भी दौरा करें—'माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, संबंधियों, ब्राह्मणों और श्रवणों की सहायता करना अच्छा है, जीवों को न मारना अच्छा है, थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना ही ठीक है। मंत्रि-परिषद् भी युक्तों को आज्ञा दें कि वे इसकी गणना रक्खें

कि ये दौरे किन उद्देश्यों से कहाँ और किस प्रकार किये गये ।"

अशोक : (नवम शिलालेख के सामने जा) अब इसे पढ़ो ।

कारुवाकी : (पढ़ते हुए) "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी के राज्य में सब स्थानों पर तथा जो पड़ौसी राज्य हैं जैसे चोड, पाण्डय, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपरणी और सीरिया के यवन राजा अंतियोक और उसके अन्य पड़ौसी राजाओं के देशों में भी देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने मनुष्यों की और पशुओं की चिकित्सा का प्रबंध किया है। मनुष्यों और पशुओं की उपयोगी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं हैं वहाँ लाकर लगवायी गयी हैं । इसी प्रकार जहाँ-जहाँ फल और फूल नहीं होते थे वहाँ पर वे भी लाकर लगवाये गये हैं । मार्गों में मनुष्यों और पशुओं के उपभोग के लिए कुए खुदवाये गये हैं ।"

अशोक : (दसवें शिलालेख के सामने जा) और मनुष्य की अंतिम निर्बलता जो लोकेषणा है उनसे भी प्रेरित होकर मैंने यह सब नहीं किया है, यह तुम्हें इस शिलालेख के पढ़ने से ज्ञात हो जायगा ।

कारुवाकी : (पढ़ते हुए) "देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यश या कीर्ति को लाभदायक नहीं मानता, जो कुछ भी यश या कीर्ति को वह चाहता है तो केवल इसलिए कि उसकी प्रजा वर्तमान और भविष्य में सदा धर्म को सुने और धर्म का पालन करे ।"

अशोक : **(ग्यारहवें शिलालेख के सामने जा)** और अब यह अंतिम लेख अपने संबंध में भी पढ़ लो।

कारुबाकी : **(लेख पढ़ते हुए)** "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की आज्ञा से सब स्थानों के महामात्यों को सूचना दी जाय कि द्वितीय रानी की दी हुई कोई भी भेंट का, फिर वह आम की वाटिका, उद्यान, सदावृत्त अथवा दूसरा कुछ भी हो निम्न प्रकार से उल्लेख किया जाय—

'द्वितीय रानी अर्थात् तीवर की माता कारुवाकी की दी हुई।' **(कुछ रुककर)** तो आपने मुझे भी अमर कर दिया।

अशोक : **(कारुबाकी का हाथ पकड़ शयन पर बैठ तथा उसे बैठाते हुए)** तो राज्यारंभ के तीसरे युग की समाप्ति और चौथे युग के प्रथम दिवस शयन के पूर्व हमने छत्तीस वर्षों के दीर्घकाल का सिंहावलोकन कर डाला।

कारुबाकी : यद्यपि उत्तरापथ से दक्षिणापथ तक आपके सहस्रों शिलालेख फैले हुए हैं और इन सहस्रों शिलालेखों में से आपने कुछ के ही चित्र यहाँ लगवाये हैं तथा उनमें से भी हमने कुछ ही पढ़े तथापि इतने से ही सिंहावलोकन तो हो ही जाता है।

अशोक : इस सिंहावलोकन को करते हुए मुझे वैसा ही जान पड़ा जैसे उस नाटक को देखने से जान पड़ता है जिसे पहले भली भाँति पढ़ लिया हो। फिर मेरे मन में एक बात और उठी।

कारुवाकी : कौनसी ?

अशोक : किसी बीज को सरलता से नष्ट किया जा सकता है, पर जब वह बीज वटवृक्ष के सदृश वृक्ष का रूप ग्रहण कर ले तब उसे नष्ट करना इतना सरल नहीं रहता। एक और बात भी मेरे मन में आयी।

कारुवाकी : कौनसी ?

अशोक : मानव अपने कार्य में अधिकतर इसलिए असफल होता है कि आयु बढ़ने पर वह सोचने लगता है कि अब समय ही कितना बचा है ? यह कोई नहीं जानता कि किसके लिए कितना समय निर्धारित है। कार्य करते समय तो हम यही सोचें कि आनेवाले कल का काम भी हमें आज कर डालना है। परन्तु, किसी कार्य के संकल्प के समय हमें यही विचार करना चाहिए कि हम अनन्त काल तक रहनेवाले हैं। समय रूपी झंझावात में हम अपने को पतझड़ का पत्ता न मानें। पानी का बुदबुदा न समझें। हम रेणु के एक कण हैं यह अनुभव न करें।

कारुवाकी : (कुछ सोचते हुए) ठीक।

[कुछ देर निस्तब्धता।]

अशोक : प्रिये, मैंने किन विचारों से राज्य ग्रहण का प्रयत्न किया था ? उस समय मेरा आदर्श वाक्य था 'वीर भोग्या वसुन्धरा।' राज्य ग्रहण के कुछ ही समय पश्चात् मेरे विचारों में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ और कलिंग-युद्ध के पश्चात् तो विचार क्रान्ति ही हो गयी। उसी क्रान्ति

के अनुरूप आगे का कार्य भी हुआ। इस कार्य में मुझे सफलता नहीं मिली यह मैं नहीं कहता। सफलता और असफलता का संबंध यथार्थ में मनुष्य के अन्तःकरण से है। यदि मानव अपने अन्तःकरण में जो कुछ वह करता है उसके कारण आगे को उसी कृति को करने के लिए बल का अनुभव करता है, साथ ही अपने उद्देश्य में उसे पूर्ववत् विश्वास बना रहता है तो वह अपनी कृति में सफल हुआ यह मानना ही होगा। सफलता, जैसा मैंने अभी कहा, अपने अन्तःकरण से संबंधित है। अपने उद्देश्य को कार्य रूप में परिणत करने के लिए जिस बल की आवश्यकता है उसे अपने मन में दृढ़तापूर्वक पकड़े रहना आवश्यक है, क्योंकि यदि मन में इन दो में से किसी का भी फिसलना आरम्भ होता है तो फिर उसकी कोई सीमा नहीं रह जाती। जैसे एक बुझे हुए तारे से निकला हुआ प्रकाश उस तारे के बुझ जाने पर भी कुछ काल तक दिखता रहता है उसी प्रकार फिसलते हुए मानव-मन की भीतरी अवस्था के बाह्य प्रदर्शन में देर लगती है पर यथार्थ में ज्योंही फिसलन आरम्भ हुई त्योंही सब कुछ समाप्त हुआ। मेरे अन्तःकरण में किसी प्रकार की फिसलन का लवलेश भी नहीं है। इसीलिए मैंने कहा मुझे अपने कार्यों में सफलता मिली है। फिर जो कुछ मैंने जीवन में किया है उससे मुझे संतोष ही है।

कारुवाकी : आप 'संतोष ही' शब्द का प्रयोग करते हैं, नाथ !

अशोक : हाँ, प्रियतमे, इसके कारण हैं ।

कारुवाकी : कैसे ?

अशोक : तुम देखतीं नहीं कि ऐसे कार्यों के पश्चात् भी इस समय देश की कैसी अवस्था है ?

कारुवाकी : कैसी ?

अशोक : प्रजा को पूर्ण संतोष नहीं, जो मांसाहारी थे वे तो बहुत ही असंतुष्ट हैं। विहार-यात्राएँ जो धर्म-यात्राओं में परिणत हुई हैं वे कुछ लोगों को बड़ी रूखी-सूखी जान पड़ती हैं । भेरी-घोष के स्थान पर धर्म-घोष की नीति निर्बलता ला रही है, ऐसा कुछ लोगों का मत है; यहाँ तक कि अग्रामात्य राधागुप्त तक का ।

कारुवाकी : इस प्रकार का थोड़ा-बहुत मतभेद तो, नाथ, इस विश्व में सदा रहता ही है ।

अशोक : हाँ, यह तो मैं भी मानता हूँ और इसीलिए तो जीवन में मैंने जो कुछ किया उससे मुझे असंतोष नहीं है । मैंने कहा ही मुझे संतोष ही है ।

कारुवाकी : आपको परम संतोष होना चाहिए, नाथ ।

अशोक : मुझे परम संतोष होता यदि'''यदि मैं व्यक्तिगत जीवन में सुखी रहता । असंधिमित्रा को मैं पलमात्र को भी विस्मृत नहीं कर पाता । लक्ष्मण के समान अनुज विगताशोक मेरे रहते मेरे सामने ही चल बसा । महेन्द्र और संघमित्रा भिक्षु-भिक्षुणी हो गये। कुणाल सुदूर स्थान तक्षशिला में है और'''और एक बात है ।

कारुबाकी : कौनसी ?

अशोक : आज के से दिवस को जब मैं अपना आत्म-निरीक्षण करता हूँ तब मुझे अपने में भी कुछ ऐसे दोष दिख पड़ते हैं कि क्या कहूँ !

कारुबाकी : निर्दोष तो भगवान ही माने जाते हैं ।

अशोक : प्रिये, इस सृष्टि की इस सर्वश्रेष्ठ रचना मानव में मानव की भी दो इन्द्रियों का विरोध कदाचित् सबसे कठिन है।

कारुबाकी : कौनसी इन्द्रियों का ?

अशोक : रसनेन्द्रिय और शिशनेन्द्रिय का। मुझे मयूर और हरिण के मांस इतने रुचिकर थे कि अन्य जीव-हिंसा का निषेध कर देने के बहुत काल पश्चात् तक राज्य के रसोईघर के लिए नित्य दो मयूरों और कभी-कभी हरिण का वध होता रहा। अत्यधिक कठिनाई से मैं रसनेन्द्रिय का निग्रह कर सका और इन जीवधारियों की भी हिंसा समाप्त हुई; परंतु शिशनेन्द्रिय का निरोध तो इस वृद्धावस्था में भी मुझसे नहीं हुआ। इस तिष्यरक्षिता से इस अवस्था में मेरा विवाह...

[**नेपथ्य में गान सुन पड़ता है। अशोक और कारुबाकी का ध्यान उस ओर जाता है। दोनों चुप हो गान सुनने लगते हैं। गान में एक पुरुष और एक महिला का स्वर है।**]

गीत

पकड़ूँ किस अञ्चल का छोर !
पथ में भटक सिसकता दुर्बल
उत्पीडन सह घोर ।
तम-सागर में नयन खो गये,
आशा सुख उल्लास सो गये,
प्रलय निशा में डूब गया
इस जीवन का मधु भोर ।
सत्ता सौख्य समर्पित तन मन,
व्यर्थ न्याय निष्ठा का गर्जन,
पीत पत्र सा धर्म उड़ाती
झञ्झा स्वार्थ झकोर ।

अशोक : (**गीत पूर्ण होते-होते कारुवाकी से**) प्रिये, यह तो कुणाल और काञ्चनमाला का-सा स्वर जान पड़ता है ।

कारुवाकी : हाँ, मुझे भी उन्हीं के स्वरों का भास होता है ।

अशोक : देखूँ...देखूँ तो ! और प्रतिहारी को भेज बुलवाऊँ गानेवालों को । (**शीघ्रता से प्रस्थान ।**)

[**कारुवाकी कुछ ही देर में शयन से उठ कक्ष में इधर-उधर घूमकर कक्ष के चित्रों, पाषाण के नमूनों आदि को देखती है । कुछ गुनगुनाती भी रहती है । अशोक का कुणाल, काञ्चन-माला और दशरथ के साथ प्रवेश । तीनों भिखारियों के-से वस्त्रों में हैं । कुणाल अंधा होगया है और लाठी से टटोलता हुआ चलता है । काञ्चनमाला सुन्दर युवती है । दशरथ सुन्दर बालक है ।**]

अशोक : (उद्विग्नता की पराकाष्ठा से एक शयन पर गिरते हुए) कारुबाकी; कारुबाकी ! कुणाल, अन्धा !

कारुबाकी : (झपटकर इन तीनों के निकट आते हुए) हैं, हैं !

[कारुबाकी स्तब्ध-सी कुणाल की ओर देखती है। कुणाल, काञ्चनमाला और दशरथ तीनों खड़े रहते हैं। एक विचित्र प्रकार की निस्तब्धता।]

अशोक : (शयन से धीरे-धीरे उठते हुए अत्यन्त भर्राये हुए स्वर में) कुणाल ! तुम्हारी आँखें और तुम्हारा यह वेष; पुत्रवधू काञ्चनमाला इस दशा में; और यह मेरा पौत्र दशरथ ! ओह !

कुणाल : आँखें तो, पिता जी, आपने मँगवायी थीं। आज्ञा पाते ही निकालकर भेज दीं और यह वेष तो इसलिए कि आँखों के जाने के पश्चात् तक्षशिला का राजकाज कैसे चलाता, यहाँ आने का निश्चय कर आया भी नहीं हूँ; अब तो जहाँ पैर ले जाते हैं, जाता हूँ, गाता हूँ और गाकर भीख माँग कर खाता हूँ। यह काञ्चनमाला अब क्या भारत सम्राट की पुत्रवधू है ? यह दशरथ अब क्या भारत के राज-राजेश्वर का पौत्र है? काञ्चनमाला है एक अन्धे भिखारी की पत्नी और दशरथ है एक दर-दर भटकने वाले सूरदास की लाठी।

अशोक : (जो कुणाल का पहला वाक्य सुनते ही घबराकर अवाक्-सा खड़ा होगया था और जो कुणाल की शेष बातें इस प्रकार सुन रहा था जैसे स्वप्न में, कुणाल की बात

पूरी होते ही चौंककर) आँखें; तुम्हारी आँखें! मैंने मँगवायी थीं! मेरी आज्ञा का पालन कर तुमने आँखों को निकालकर मुझे भेजा था!

कुणाल : हाँ, पिता जी, आपका मुद्रा लगा हुआ आज्ञा-पत्र आया था।

अशोक : (**चिल्लाकर**) यह तो कोई षड्यंत्र, भीषण, घृणित नीच षड्यंत्र जान पड़ता है!

कारुवाकी : अवश्य, अवश्य।

[**पागलों की-सी मुद्रा में तिष्यरक्षिता का प्रवेश**]

तिष्यरक्षिता : हाँ, यह षड्यंत्र था; भीषण षड्यंत्र था; दारुण षड्यंत्र था; घृणित षड्यंत्र था; नीच षड्यंत्र था! कहा गया है न कि पाप सिर पर चढ़कर बोलता है। वह आज बोल रहा है। यह मेरा षड्यंत्र था।

[**तिष्यरक्षिता के इस भाषण से एक विलक्षण प्रकार का सन्नाटा छा जाता है। कुछ देर निस्तब्धता।**]

अशोक : (**अत्यन्त क्रोध से**) तू कितनी नीच है, इसका धीरे-धीरे पता मुझे लग रहा था, परंतु···परंतु तू इतनी नीच है इसका पता···इसका पता तो···(**गला अवरुद्ध होने के कारण आगे कुछ नहीं कहने पाता।**)

तिष्यरक्षिता : नीच ही नहीं, मैं तो इसके भी कहीं आगे हूं, मानवों में उच्च और नीच मानव होते हैं, मैं तो मानवी ही नहीं, दानवी हूँ, राक्षसनी हूँ, पिशाचिनी हूँ!

कारुबाकी : दानवी और राक्षसनी भी कदाचित् ऐसी नहीं होती होंगी जैसी तू है ।

तिष्यरक्षिता : **(क्रोध से कारुबाकी की ओर देखते हुए)** तुम···तुम बीच में मत बोलो । मुझे जो कुछ कहना होगा मैं सम्राट् से कहूँगी । **(अशोक से)** नाथ ! मैं सब कुछ बता देती हूँ, कुछ छिपाकर न रक्खूँगी । एक वाक्य क्या, एक शब्द, उसका अक्षर और उसकी मात्रा भी असत्य न कहूँगी, कुणाल के सौन्दर्य ने मेरी तरुणाई को आकर्षित किया, मैंने कुणाल से प्रणय-भिक्षा माँगी और जब उसे न देकर ये तक्षशिला चले गये तब···तब असफल प्रेम और प्रतिशोध के दहकते दावानल की ज्वलित-ज्वाला में जलते हुए मैंने आपकी मुद्रिका का उपयोग कर वह पत्र कुणाल की आँखों के लिए भेजा जिसके संबंध में ये अभी आपसे कह रहे थे। इनके नयनों पर मैं सबसे अधिक मुग्ध हुई थी वही मैंने माँगे। मैं जानती थी कुणाल आपकी आज्ञा को किस दृष्टि से देखते हैं। मुझे विश्वास था उन लोचनों के पाने का। वे आँखें आ गयीं । उनके आते ही किस प्रकार देखा मैंने उन्हें ! उन नेत्रों में निज का क्या-क्या सौन्दर्य था ? वह सुखमा तो थी उनके कुणाल के आनन पर रहने से ! उस पद से पदच्युत होते ही वे हो गये थे मांस के बीभत्स लोथड़े; घृणित दुर्गन्धयुक्त ! और···और उसी के साथ भयावह, क्योंकि···क्योंकि उनके पीछे उसके मँगाने का इतिहास जो था । और···और उन आँखों के आने के पश्चात् मेरी जो

भीषण दशा हुई है वह···वह तो वर्णन करने के परे है। अब मैं चाहती हूँ, मौत। इस कुकर्म, घोरतम कुकर्म करने के पश्चात् मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रहना चाहती।

[फिर कुछ देर निस्तब्धता।]

अशोक : **(दीर्घ निश्वास छोड़कर शयन पर बैठते हुए)** मौत··मौत से भी कहीं···कहीं भीषण दण्ड मिलना चाहिए, तुझे। पर···पर मौत से अधिक भीषण दण्ड हो क्या सकता है ?

[तिष्यरक्षिता का धीरे-धीरे प्रस्थान। फिर कुछ देर निस्तब्धता।]

कारुबाकी : चलो, कुणाल, काञ्चनमाला, दशरथ, तुम लोग मेरे साथ आओ। तुम्हें इस समय विश्राम की सबसे अधिक आवश्यकता है।

[अशोक कुछ नहीं कहता। चारों का प्रस्थान। इनके जाने के पश्चात् अशोक दोनों हथेलियों पर अपना मुख रख रो पड़ता है। राधागुप्त का प्रवेश। राधागुप्त अत्यन्त वृद्ध होगया है। राधागुप्त के आने की आहट पा अशोक अपना सिर उठाता है और राधागुप्त को देख अपनी आँखें पोंछ डालता है।]

राधागुप्त : श्रीमान् ने मुझे बुलाया था ?

अशोक : **(स्वस्थ होते हुए)** हाँ, अग्रामात्य, बैठो।

[राधागुप्त शयन के निकट ही एक आसन्दी पर बैठ जाता है।]

अशोक : मैंने आपको इसलिए बुलाया था कि मैंने अपनी समस्त

सम्पत्ति जो कुक्कुटाराम के बिहार को देने के लिए कहा था उसे आपने क्या रोक दिया ?

राधागुप्त : हाँ, महाराज, ऐसा करना अनिवार्य हो गया था।

अशोक : क्यों ?

राधागुप्त : इसलिए कि आपकी सम्पत्ति की अब राज्यकोष में आवश्यकता है।

अशोक : (**कुछ आश्चर्य से**) मेरी निज की सम्पत्ति की राज्य-कोष में आवश्यकता !

राधागुप्त : हाँ, सम्राट्, राज्यकोष से इतने अधिक दान हुए हैं कि राज्य-काज चलाने के लिए भी अब धन नहीं बचा है।

[**अशोक सिर झुका लेता है। कुछ देर निस्तब्धता।**]

अशोक : (**सिर उठाते हुए**) अग्रामात्य, मैं जानता हूँ कि जिस प्रणाली से इस समय राज्य का कार्य चल रहा है, उससे आप सहमत नहीं हैं।

राधागुप्त : हाँ, महाराज, मैं सहमत नहीं हूँ, परन्तु मेरे सहमत न रहने पर भी जब तक हो सका मैंने श्रीमान् की हर आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। मैं सोचता था अहिंसा और प्रेम के इस मार्ग से कदाचित् भारतीय साम्राज्य का एकीकरण हो समूचे जम्बूद्वीप की स्थायी भलाई हो सकेगी। पर अब मैं देखता हूँ यह सम्भव नहीं है। भारतीय साम्राज्य का एकीकरण और जम्बूद्वीप की भलाई तो दूर की बात है, अब तो मौर्य साम्राज्य में ही यत्र-तत्र विद्रोह उठ खड़े होते हैं। न सेना है और न कोष में धन।

मुझे भय है कि राजराजेश्वर सम्राट चन्द्रगुप्त ने आर्य चाणक्य की सहायता से जिस मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी उस साम्राज्य के पैर भी लड़खड़ा रहे हैं, और क्षमा कीजिए, मेरी स्पष्टवादिता को, आपके पश्चात् मुझे इस राज्य की कुशल नहीं दिखती।

अशोक : (**विचारते हुए**) मैं तो बड़ा आशावादी व्यक्ति हूँ और आशावादी व्यक्ति के लिए जीवन का क्षितिज कभी भी अन्धकारमय नहीं रहता। फिर वह अपने जीवन के जो उद्देश्य स्थिर करता है वे केवल उद्देश्य नहीं रहते वरन् उद्देश्य रहते हुए भी कृति के साधन का भी काम करते हैं। खेद की बात इतनी ही रहती है कि मानव-प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ रचना होने पर भी सदा मानव नहीं रहता। राज्य और संपत्ति पर राज्य और संपत्ति से भी ऊँचे कामों के लिए अधिकार रहे तो बुरा नहीं, पर यदि चैतन्य मानव पर जड़ राज्य और संपत्ति का अधिकार हो जावे तब तो अवस्था शोचनीय हो जाती है और यहीं हिंसा का जन्म होता है। अहिंसा और प्रेम का मार्ग ही मैं इस देश, जम्बूद्वीप और सारे संसार के लिए कल्याणकारी मार्ग मानता हूँ। मौर्यवंश का राज्य ! यह...यह, अग्रामात्य, बड़ी...बड़ी ही गौण बात है। संसार में न कोई व्यक्ति सदा रह सकता है और न किसी कुल का सदैव दौर दौरा। जो हिंसा के मार्ग से चले उन व्यक्तियों का या उनके वंश का भी क्या सदा प्रभुत्व रहा है ? सृष्टि में सभी परि-

वर्तनशील है । हमें अपने कार्य में चाहे अभी पूर्ण सफलता न मिली हो पर आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों, सौ, हजार, दस हजार वर्ष में भी क्यों न हो, इसी मार्ग से विश्व का कल्याण संभव है । मैंने जितना भी विचार किया है यही सिद्ध हुआ कि जिस मार्ग पर मैं चल रहा हूँ वही ठीक मार्ग है । बलिष्ठतम अन्तःकरण वह है जो सारे संसार के विरोध के सम्मुख भी अपने मत पर एकाकी अटल खड़ा रह सकता है । मेरे मन में इस बात पर थोड़ा भी संदेह नहीं है कि मेरा मत ही ठीक मत है। यदि अच्छाई पर मन सन्देह करने लगे तब तो जीवन जीने योग्य नहीं रह जाता । और अपने समय में जो कुछ हो रहा है वह ठीक न होने पर भी यदि यह विश्वास हो जाय कि उससे परे कुछ हो ही नहीं सकता अतः वही ठीक है तब तो संसार प्रगति नहीं कर सकता । अच्छे चित्रों में यदि कहीं छाया दिख पड़ती है तो वह इसलिए कि उस चित्र के द्युतिवन्त स्थान और भी द्युतियुक्त हो जायँ । फिर इस प्रकार के कार्यों का सच्चा फल तो युगों के पश्चात् निकलता है। यदि सिद्धान्त सही हैं तो उनका कभी न कभी सत्फल भी निश्चित है । (कुछ रुककर) अच्छा, इस विषय पर तो फिर कभी ब्यौरेवार चर्चा होगी, अभी जो अनर्थ हुआ है, वह आपने सुना ?

राधागुप्त : (कुछ घबराकर) क्या'''क्या हुआ, महाराज ?

अशोक : राजपुत्र कुणाल अन्धा होकर काञ्चनमाला और

दशरथ के साथ भिखारियों के वेष में तक्षशिला से आया है। तिष्यरक्षिता इस सारे काण्ड की अपराधिनी है। उसे मैंने प्राणदण्ड दिया है।

राधागुप्त : (अत्यन्त आश्चर्य से) अच्छा !

अशोक : मौर्य साम्राज्य का युवराज मैं कुणाल के पुत्र दशरथ को घोषित करता हूँ।

यवनिका

उपसंहार

स्थान : नयी दिल्ली

समय : प्रातःकाल, फिर रात्रि

[पीछे की ओर एक सफेद चादर है। नेपथ्य में गान की ध्वनि सुन पड़ती है। और चादर पर सिनेमा के फिल्म का प्रदर्शन प्रारम्भ होता है।]

गीत

हे अशोक ! मानव महान !

भारत गौरव ! मनुज पुजारी ! शासक करुणावान !
सुन कराह, रण में, कलिंग की, काँप उठे विजयी के प्राण;
रक्त-पात-भय-भीत मनुज ने, तुम में पाया, सच्चा त्राण।
रक्त-स्नाता विजय श्री का, मिथ्या माना, कलुषित मान;
पूर्ण अहिंसा विजित, मनुज-मन, सतत विजय का कहा प्रमाण।
हिंसा त्रस्त जगत् ने पाया, तुम में, पावन पैत्रिक प्रेम;
धर्म, सत्यता, दान, दयामय, आचारों में समझा क्षेम।
मृगया मोद-विहार गमन थे, नरपतियों के कौतुक खेल;
धार्मिक यात्रा प्रथा चलायी, नव संबोधि गमन व्रत झेल।
शिलालेख अगणित में अंकित किये अनेकों निज उपदेश;
जीवन-पथ को सरल सुसंस्कृत करना, था, पावन उद्देश।
रसना तृप्ति, एक ही क्षण की, जीवों का असंख्य बलिदान;
घृणित, विगर्हित, कर्म-त्याग, यह, मानव का कर्त्तव्य महान्।

आदरणीय धर्म अपना है, अपर धर्म भी वन्दन योग्य;
प्रजा-कार्य-तत्पर निशिवासर, नृप-हित राज्य न केवल भोग्य।
मातृ-पितृ चरणों की सेवा, परिचित सम्बन्धी हित मान;
द्विज, श्रमणों की संस्कृति रक्षा, लघु व्यय का, संचय का, ध्यान।
जल-हित कूप व्यवस्था पथ में, आरोपित वृक्षों की पाँति;
छाया सुलभ, तृषा हो अपगत, पशु की मानव की ही भाँति।
प्रतिवेशी राज्यों में, प्रचलित किये, नियम के नये विधान;
पावें पशु भी मानव सम ही चतुर चिकित्सक, औषधि-दान।
सतत प्रवर्तित धर्म-चक्र से, हिंस्र-व्याघ्र भी बने विनीत;
तेज, आत्म-बल, युक्त, अहिंसा, शासित चारों दिशा पुनीत।

[गीत चलता रहता है और गीत के साथ सफेद चादर पर कुछ दृश्य आते तथा विलुप्त होते जाते हैं।]

[पहले साँची का बौद्ध-स्तूप दृष्टिगोचर होता है, आरम्भ में दूर से और फिर उसके अनेक भाग निकट से।]

[इसके बाद भारहुत-स्तूप दृष्टिगोचर होता है, यह भी पहले दूर से और फिर नजदीक से।]

[इन स्तूपों के पश्चात् लोरिया नन्दगढ़ का अशोक स्तंभ दिखता है। वे भी पहले दूर से और फिर निकट से।]

[तदन्तर अशोक के एक के पश्चात् एक शिलालेख दिखायी देते हैं, ये भी पहले दूर से और फिर निकट से।]

[शिलालेखों के उपरान्त सारनाथ का अशोक स्तंभ दिखायी देता है, फिर इस अशोक स्तंभ के ऊपर का चार सिंहों वाला शिरोभाग दिख पड़ता है। यह कुछ देर तक निकट

से दिखता रहता है। चारों सिंह उसके नीचे हाथी, घोड़ा, बैल, और सिंह और हरेक चौपाये के बीच में एक-एक चक्र, इस प्रकार चार चक्र और इनके नीचे कमलासन बहुत निकट से दिखते हैं।]

[इसके पश्चात् दिल्ली के किले पर पंडित जवाहरलाल नेहरू भारत का राष्ट्रीय ध्वज चढ़ाते हुए दिखते हैं। तदनन्तर यह राष्ट्रीय ध्वज नजदीक से दिखता है और इस पर का अशोक चक्र। यहाँ उपर्युक्त गीत पूर्ण हो जाता है और भारत का राष्ट्रीय गीत "जन गण मन" आरंभ होता है। प्रातःकाल का सारा दृश्य रात्रि…में बदल जाता है और रात्रि को दिल्ली के कुछ हिस्से रोशनी में दिखायी पड़ते हैं। राष्ट्र-गीत के समाप्त होते ही यह दृश्य समाप्त होता है।]

यवनिका

भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु

निवेदन

भारतीय इतिहास में भारत का संसार के अनेक देशों के साथ बहुत प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध का भारत को गर्व है और वह विशेषकर इसलिए कि भारत ने किसी भी देश पर राजनैतिक प्रभुता स्थापित करने का कभी भी कोई प्रयत्न नहीं किया। भारत से बाहर जाकर अन्य देशों में यदि भरतीय बसे तो भी उन्होंने उन देशों के मूल निवासियों को मिटाने की कोई कोशिश नहीं की।

भारत का भिन्न-भिन्न देशों से यह सम्बन्ध अधिकतर सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है और यह बढ़ा उस काल में जब बौद्ध मत का प्रचार हुआ।

सन् ३५० ईस्वी के लगभग की इसी प्रकार की एक ऐतिहासिक कथा है।

कुमारायन नामक भारत का एक छोटे से राज्य का मंत्री पुत्र युवावस्था में ही अपना सारा वैभव छोड़ बौद्ध भिक्षु हो गया। (इस राज्य के भौगोलिक स्थान का अब पता नहीं लगता।) कुमारायन महान् विद्वान् था। भिक्षु होकर बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए देश-देशान्तरों में घूमता हुआ वह भारत के उत्तर में कूची (वर्त्तमान कूचा) नामक राज्य में पहुँचा। वह राज्य भारतीय संस्कृति का एक केन्द्र था, यहाँ तक कि इस राज्य के पुराने

शासकों के नाम भी 'स्वर्णपुष्य', 'हरिपुष्य', 'स्वर्णदेव', 'हरदेव' के सदृश भारतीय नाम होते थे। कूची उस समय बड़ा वैभव-शाली उन्नत नगर था। बौद्ध विहारों, संघारामों के वहाँ बड़े-बड़े विशाल भवन थे और वहाँ के प्रायः सभी निवासी बौद्ध मतावलम्बी थे। कूची में जो पुराना साहित्य मिला है, उससे पता लगता है कि कूची भारतीय संस्कृति का कितना बड़ा केन्द्र था और कूची में संस्कृत देववाणी मानकर किस प्रकार पढ़ायी जाती थी। वहाँ संस्कृत, व्याकरण 'कातंत्र' पद्धति से पढ़ाया जाता था, क्योंकि यह पद्धति पाणिनि की पद्धति की अपेक्षा अभारतीयों के लिए कदाचित् अधिक सुगम थी। वहाँ के विद्यार्थी संस्कृत का कूचीन भाषा में अनुवाद करते थे। 'उदान वर्ग' के सदृश प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ तथा ज्योतिष और आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों का कूचीन भाषा में अनुवाद हुआ था।

कुमारायन अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के कारण कूची नरेश द्वारा राजगुरु बनाया गया। उसने वहाँ 'गोमती विहार' नामक एक बौद्ध विहार स्थापित किया जिसका आगे चलकर एक कारण से बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व हो गया। नागार्जुन-कृत 'प्रज्ञा पार-मिता सूत्र' नामक ग्रन्थ की सातवीं शताब्दी में लिखी हुई चीनी भाषा में एक मुद्रित पुस्तक इस विहार में मिली, जो संसार की प्रथम मुद्रित पुस्तक मानी जाती है।

कुमारायन के कूची पहुँचने के पश्चात् उसके जीवन से संबंध रखने वाली एक विलक्षण घटना घटित हुई। कूची नरेश की जीवा नामक कन्या थी। जीवा का कुमारायन पर प्रेम होगया

और कुमारायन और जीवा का विवाह हुआ। कुमारायन और जीवा के कुमारजीव नामक पुत्र हुआ। जब कुमारजीव नौ वर्ष का हो गया तब जीवा भिक्षुणी होकर कुमारजीव को उच्च शिक्षा के लिए काश्मीर लायी। उस समय काश्मीर और संस्कृत भाषा विशेषकर बौद्ध साहित्य और बौद्ध दर्शन की शिक्षा के लिए केवल भारत ही नहीं समस्त संसार में प्रसिद्ध था। कुमारजीव को काश्मीर में बन्धुदत्त नामक शिक्षक ने अनेक विषयों में पारंगत किया। इनमें बौद्ध धर्म के 'दीघ' और 'मज्झम' निकाय प्रमुख थे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर कुमारजीव अनेक देशों में होता हुआ पुनः कूची गया। सन् ३८३ ई० में चीन और कूची के बीच एक युद्ध हुआ जिसमें कूची की हार हुई और चूँकि उन दिनों हारे हुए देशों से सौगात के रूप में विद्वान् भी लिये जाते थे इसलिए कुमारजीव चीन देश में आया। चीन देश उस समय अनेक राज्यों में बटा हुआ था, पर इनमें से अधिकांश राज्य चीनी सम्राट के आधिपत्य में थे। चीन के कनसू राज्य के अधिपति कुत्संग के पास अनेक वर्ष कुमारजीव रहा। कुमारजीव इतना बड़ा विद्वान् था कि चीनी सम्राट याओहिन ने बार-बार उसे चीन की राजधानी में आमंत्रित किया। सन् ४०७ ई० में कुमारजीव चीनी राजधानी को आया। उस बीच काश्मीर में पढ़े हुए अनेक विद्वान् चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए पहुँचे थे। पाँचवीं और छठवीं शताब्दी के बीच अकेले काश्मीर से इन विद्वानों की जितनी संख्या चीन गयी थी वह भारतवर्ष के अन्य समस्त भागों से गये हुए विद्वानों की संख्या से अधिक थी। इन

काश्मीरी विद्वानों में संगभूति, गौतम संघदेव, पुण्यत्राता विमलाक्ष, बुद्धजीव, धर्ममित्र, धर्मयश नामक विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं; परन्तु, इन सबमें कुमारजीव श्रेष्ठ माना जाता है। कुमारजीव संस्कृत और चीनी दोनों भाषाओं का दिग्गज विद्वान् था और कुमारजीव ने बौद्ध-धर्म के महायान मार्ग के दार्शनिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में सुन्दर अनुवाद किया है। इन ग्रन्थों की संख्या सौ से भी ऊपर है। माना जाता है कि कुमारजीव के अनुवाद उसके पूर्व किये हुए समस्त विद्वानों के अनुवादों से श्रेष्ठ हैं। कुमारजीव के इस अनुवाद के कार्य में जिन्होंने सहायता की उन में दो भारतीय प्रधान थे। इनके नाम हैं—बुद्धभद्र और पुण्यत्राता। फिर कुमारजीव की देख-रेख में कोई ८०० चीनी बौद्ध-भिक्षुओं ने भी अनुवाद का काम किया और इनके द्वारा कोई तीन सौ ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। कुमारजीव की विद्वत्ता के कारण चीन देश के भिन्न-भिन्न भूखण्डों के लोग सहस्रों की संख्या में कुमारजीव के शिष्य हुए। इतिहास-प्रसिद्ध भारत-यात्री फाहियान कुमारजीव का एक प्रमुख शिष्य था और वह भारत कुमारजीव की प्रेरणा से ही आया था। फाहियान जब भारत से लौटा उस समय तक कुमारजीव जीवित था। कुमारजीव 'माध्यमिक' मार्ग का प्रणेता और 'सत्यसिद्धि' तथा 'निर्वाण' संप्रदायों का आदिगुरु माना जाता है। कुमारजीव की जीवनविषयक सामग्री दो चीनी ग्रन्थों में मिलती है। इनके नाम हैं—'काओ-सेंग-पोंग' और 'चू-सांग-संग-की-सी'। इनमें से प्रथम ग्रन्थ की रचना सन् ५१९ ई० और दूसरे की रचना सन् ५२० ई० में हुई थी।

यह नाटक कुमारायन जीवा और कुमारजीव की उपर्युक्त कथा पर लिखा गया है। इस नाटक के सभी पात्र ऐतिहासिक हैं, पर कुछ के ऐतिहासिक नाम न मिलने के कारण उनके ऐतिहासिक होते हुए भी उनके नाम काल्पनिक रखे गये हैं। परन्तु, इस बात का ध्यान रखा गया है कि नाम उस काल के नामों के अनुरूप ही हों।

ऐतिहासिक नाटकों, उपन्यासों और कहानियों के संबंध में मेरा जो मत है वह मैंने अपने ऐतिहासिक 'हर्ष' नाटक की भूमिका में निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—

"मेरा मत है कि नाटक, उपन्यास या कहानी-लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी भी पुरानी कथा को तोड़-मरोड़ कर उसे नयी कथा ही बनादे। हाँ, कथा का अर्थ (Interpretation) वह अवश्य अपने मतानुसार कर सकता है।"

इस नाटक की रचना भी उपर्युक्त मत के अनुसार हुई है।

इस नाटक में कई स्थानों पर लम्बे-लम्बे स्वगत-कथन आये हैं। इस प्रकार के स्वगत-कथनों के संबंध में अपने विचार मैं अपने नाटक 'गरीबी या अमीरी' की भूमिका में व्यक्त कर चुका हूँ। 'गरीबी या अमीरी' नाटक कई जगह खेला भी गया है और दो स्थानों पर मैंने उस नाटक का अभिनय स्वयं देखा। इस प्रकार के स्वगत-कथन उस नाटक में ज़रा भी अस्वाभाविक नहीं जान पड़ते। मेरा मत है कि ऐसे स्वगत-कथन सर्वथा स्वाभाविक रूप से रंगमंच पर कहे जा सकते हैं। मैंने कुछ एकपात्री नाटक (Mono Drama) भी लिखे हैं। एकपात्री नाटक के तो

सारे कथन स्वगत-कथन ही होते हैं। मेरा 'शाप और वर' नाटक कई जगह सफलतापूर्वक खेला गया है। पश्चिमी नाटककारों में अनेक ने इस प्रकार के स्वगत-कथन लिखे हैं और एकपात्री नाटक भी। ऐसे आधुनिक नाटककारों में 'नोबल प्राइज़' प्राप्त अमरीका के यू० जी० ओ'नील प्रमुख हैं।

मेरे अन्य अधिकांश नाटकों के सदृश इस नाटक के गीत भी मेरी पुत्री रत्नकुमारी ने लिखे हैं।

—गोविन्ददास

मुख्य पात्र, स्थान और समय

मुख्य पात्र : नाटक में प्रवेश के अनुसार

कुमारायन : भारत में एक राजमंत्री का पुत्र बाद में कूची के राज्य का राजगुरु

उत्पलवर्णा : सुगतभद्रकी पत्नी, कुमारायन की माता

सुगतभद्र : कुमारायन का पिता

जीवा : कूची राज्य की राजकुमारी

मैत्रेयनाथ : कूची का राजा

भद्रांगी : कूची की रानी

कुमारजीव : कुमारायन और जीवा का पुत्र

फाहियान : प्रसिद्ध भारत यात्री, कुमारजीव का शिष्य

स्थान

भारत में कुमारायन की जन्म-भूमि
कूची
चीन

समय

ईस्वी सन् ३५० के लगभग से ४१० ईस्वी तक

'भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु' नाटक में आये हुए कुछ प्राचीन शब्दों का अर्थ

पृष्ठ ५—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान } =पंच स्कंद=बौद्धदर्शन में ये पांच स्कंद सृष्टि की रचना के वैसे ही तत्त्व माने जाते हैं जैसे आर्य दर्शन में पंचमहाभूत अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश।

उपक्रम

स्थान : सुगतभद्र के भवन में कुमारायन का कक्ष

समय : रात्रि

[कक्ष बौद्धकालीन स्थापत्यकला के अनुसार बना है। और बौद्धकालीन ढंग से सजा है। कक्ष के देखने से जान पड़ता है कि उस काल के किसी अत्यन्त सम्पन्न व्यक्ति के भवन का कक्ष है। कक्ष की तीन ओर की भित्तियाँ दिखायी देती हैं। ये पाषाण की हैं और इन पर चित्रकारी है। यह चित्रकारी अजन्ता की चित्रकारी से मिलती-जुलती है। दाहिनी ओर बाँयीं ओर की भित्तियों के सिरों पर एक-एक द्वार है, द्वार बहुत बड़े नहीं हैं। द्वारों पर चौखटों और किवाड़ों की लकड़ी पर खुदाव का काम है। कमरे की छत पर रंगीन बेल-बूटे हैं और धरती पर रंगीन बिछावन। इस बिछावन पर 'शयन' (एक प्रकार के सोफे) 'आसन्दियाँ' (एक प्रकार की कुर्सियाँ) और चौकियाँ (एक प्रकार की टेबिलें) रखी हैं। शयन और आसन्दियों पर गद्दी बिछी है तथा तकिये लगे हैं। कक्ष में गौतम बुद्ध की एक विशाल ताम्र मूर्ति रखी है। उस मूर्ति के सामने कुमारायन बैठा हुआ एक टक उस मूर्ति को देख रहा है। कुमारायन बाईस-तेईस वर्ष का गेहुँए वर्ण का अत्यन्त सुन्दर नवयुवक है। श्वेत रंग की धोती पहने है और एक श्वेत उत्तरीय ऊपर के अंग पर डाले है। उसके अंगों पर स्वर्ण के रत्न-

जटित भूषण भी हैं।]

कुमारायन : (मूर्त्ति को देखते हुए मूर्त्ति से ही) यह मानसिक संघर्ष...यह मानसिक संघर्ष, तथागत्, अब...अब तो चरम-सीमा को...पराकाष्ठा को पहुँच गया है। आठों पहर... चौंसठों घड़ी चैन नहीं, पल मात्र को भी तो चैन नहीं। एक ओर...एक ओर, देव,...राज्य के मुख्य कर्मचारी के पीढ़ी दर पीढ़ी से प्राप्त, एक विशिष्ट परम्परा वाला वैभवशाली ...महान् वैभवशाली...सुखमय...परम सुखमय जीवन है और दूसरी ओर...हाँ, दूसरी ओर अकिञ्चन...दर-दर भटकाने वाला... शीत ऋतु में कँपकँपाने वाली शीत, ग्रीष्म में झुलसाने वाली ताप, और वर्षा में सिर पर मूसलधार वर्षा को सहन कराने वाला कष्टप्रद...महान् कष्टप्रद भिक्षु का जीवन। परन्तु ...परन्तु, भगवन् आपके...आपके सामने भी तो इसी प्रकार...इसी प्रकार की समस्या उत्पन्न हुई थी।...मेरा... मेरा जीवन तो राज-कर्मचारी का जैसा वैभवशाली जीवन होता है वैसा जीवन है, पर...पर आपका...आपका जीवन तो राजकुमार का जीवन था, वह...वह तो राजा के जीवन के सदृश जीवन होने वाला था और;...और आपने... आपने उस जीवन के विपरीत...ठीक विपरीत भिक्षु...भिक्षु का जीवन अपनाया। आपने...आपने, तथागत्, संसार को एक नया आलोक दिया।...आपके ...आपके पश्चात् गत अनेक शताब्दियों में कितने...कितने जीवों को इस आलोक

से त्राण मिला, पहले...पहले भारतवर्ष में, फिर जम्बूद्वीप के अनेक देशों में, विशेषकर प्रियदर्शी अशोक के पश्चात्। परन्तु...परन्तु अभी भी इस विश्व का कितना...कितना भाग शेष है, जहाँ...जहाँ सद्धम्म और...और उस पर... उस पर अवलिम्वत भारतीय संस्कृति का संदेश पहुँचकर लोगों को त्राण...त्राण देना है। (**कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा को देखते रहने के पश्चात्**) तो...तो अनुसरण... अनुसरण करूँ आपका?...छोड़ूँ...छोड़ूँ इस...इस विलासी जीवन का मोह!...यह मोह...यह मोह, देव, कदाचित् स्वाभाविक...स्वाभाविक है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, पंचस्कंधों...इन स्कंधों...के बने हुए इस देह के लिए यह भौतिक आकर्षण अस्वाभाविक नहीं।...महा निष्क्रमण के पूर्व आपके मन में भी तो इन आधिभौतिक सुखों से मुख मोड़ने में संकल्प-विकल्प की उत्पत्ति हुई थी। पर...पर ज्यों ही आपने इस मोह से मुख मोड़ने का निर्णय किया...यह मोह आपको बन्धन में न रख सका। (**कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा को देखते रहने के पश्चात्**) मेरे लिए...मेरे लिए भी, कदाचित् निर्णय करने की ही देर है। तो...तो, तथागत्, निर्णय करता हूँ, आपके...आपके पद-चिह्नों पर चलने का। और...और ऐसा...ऐसा बल...शक्ति ...साहस दीजिए जिससे कभी भी...किसी भी परिस्थिति में पथ-भ्रष्ट न होऊँ।...संसार में काञ्चन तथा कामिनी ही सबसे अधिक आकर्षक हैं। इनमें से कोई भी मुझे विचलित

न कर सके ।...जब मेरे निर्णय को सुनेंगे माता-पिता उनका इकलौता पुत्र होने के कारण उनकी जो दशा होगी, कल्पना ...कल्पना कर सकता हूँ उसकी, देव; पर...पर माता-पिता की वह दशा भी मुझे अब विमुख न कर सके अपने निर्णय से ।

यवनिका

पहला अंक

स्थान : सुगतभद्र का कक्ष

समय : अपराह्न

[यह कक्ष और इसकी सजावट उपक्रम के कक्ष से मिलती-जुलती है। इसमें भी बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा है। उत्पल-वर्णा गाती हुई इधर-उधर उद्विग्नता से घूम रही हैं। उत्पल-वर्णा की अवस्था लगभग ४५ वर्ष की है। वह गौर वर्ण की अत्यधिक सुन्दर प्रौढ़ा स्त्री है। साड़ी धारण किये हुए है और वक्षस्थल पर वस्त्र बँधा है। उसके अंगों पर रत्न-जटित स्वर्ण के आभूषण हैं।]

गीत

हे दया-द्रवित ! हे करुणागार !
प्रभु होगा उन्मुक्त तुम्हारी करुणा का कब द्वार?
उमड़ती मोहाकुल हिल्लोल
व्यथा का विप मानस में घोल,
मूर्च्छित ज्ञान, मान, गौरव की गरिमा का गुरु भार।
पिघलते तापित-उर उद्‌गार,
नयन से बहती नीरव धार,
अवलम्बन की निर्बलता में, खोज रही ममता आधार।

नियति का लग्न निष्ठुर अभिशाप,
ध्वनित सुन संकट की पद-चाप,
व्यथित, मथित अन्तरतम आकुल, प्रतिपल तुमको रहा पुकार।

[गीत पूर्ण होने पर उत्पलवर्णा भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के सम्मुख खड़ी हो जाती है। कुछ देर चुपचाप खड़ी-खड़ी उस प्रतिमा को देखती रहती है। फिर उस प्रतिमा से ही कहना आरम्भ करती है।]

उत्पलवर्णा : देव, आपने राजपाट, पुत्र-कलत्र सब कुछ...हाँ, सब कुछ छोड़ा था सुख के मार्ग का अनुसंधान...अनु-संधान करने। और...और उस पथ की खोज होने के पश्चात् आपने अपने किसी भी उपदेश में यह...यह नहीं कहा कि निर्वाण की प्राप्ति के लिए भिक्षुक...भिक्षुक होना ही एक मात्र मार्ग है, संसार के कल्याण के लिए भिक्षुक होना अनिवार्य...अनिवार्य है। (**कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा को देखने के पश्चात्**) तथागत, आपने...आपने राजपाट को तिलाञ्जलि...तिलाञ्जलि देने के पश्चात् भी राजाओं, उस काल के सम्पन्न व्यक्तियों को अधर्मी, पापी...हाँ, अधर्मी पापी नहीं माना। उनके...उनके राजपाट, धन-सम्पत्ति न छोड़ने पर भी उनसे...उनसे संपर्क...निकट का संपर्क रखा। यदि ऐसे लोगों को आप अधर्मी अथवा पापी मानते तो... तो क्या कभी भी आप उनसे कोई संबंध...किसी प्रकार का भी सम्बन्ध रखते ? और...और, देव, यदि सभी...हाँ, सभी भिक्षु हो जायँ तो...तो यह संसार...सारा का सारा संसार

ही समाप्त हो जाय। **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्)** एक बार...केवल एक बार मैं गर्भवती हुई, कैसी...कैसी भावनाओं से भग रहता था उस समय मेरा यह मन, क्या-क्या...क्या-क्या सोचा करती थी उस समय...उस समय मैं संतान के संबंध में।...प्रसव-पीड़ा का काल शरीर को...शरीर को कष्टप्रद होने पर भी कितना...कितना आनन्द देने वाला था मेरे मानस को। और...और इस कुमारायन के जन्म के पश्चात् किस...किस प्रकार लालन-पालन किया मैंने इस पुत्र का। इसके पिता और मैं छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी अगणित...हाँ, तथागत, अगणित वस्तुओं का संग्रह किया करते थे इसके लिए; यह...यह सोचकर कि अमुक वस्तु इसके लिए इस प्रकार और अमुक वस्तु उस प्रकार उपयोगी होगी...उसे सुख पहुँचायेगी...उसे शांति देगी। और...देव, हम दोनों ही कल्पना किया करते थे अपनी पुत्रवधू के संबंध में...सोचा करते थे इस प्रकार की सुन्दर...इस प्रकार की शिष्ट...इस प्रकार की सभ्य पुत्रवधू लायेंगे...पौत्र, पौत्रियाँ...प्रपौत्र-प्रपौत्रियाँ भी हमारी कल्पना के परे नहीं थीं। इसके गृहस्थ-आश्रम...सारे गृहस्थ-आश्रम का चित्र...जीता-जागता चित्र हमारे सामने रहता...रहता क्या सदा नाचा करता था।...शिक्षित किया था इसे गृहस्थ नागरिक बनाने के लिए और ...और उसी...उसी शिक्षा ने दी इसे विरक्त भिक्षु बनने की प्रेरणा! **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के**

पश्चात्) क्या.. क्या हो रहा है यह सब...यह सब, देव ? मेरी अस्थि, मांस, रुधिर से उत्पन्न मेरा यह इकलौता पुत्र आज...आज माता-पिता की समस्त भावनाओं को कुचल-कर, रौंदकर इस सम्पन्नता...समस्त सम्पन्नता...दुर्लभ सम्पन्नता को लात मार...इससे मुख मोड़ भिक्षु हो रहा है। ...कहता है यही मार्ग...एक मात्र मार्ग है संसार के कल्याण का, निज के निर्वाण का। फेरिए...फेरिए, तथागत, इसके... इसके मन को...पलटिए...पलटिए, देव, इसकी भावनाओं को।...अन्यथा...अन्यथा मैं...मैं तो इसके बिना जीवित... क्षणमात्र भी जीवित न रह सकूँगी। **(प्रतिमा के चरण पकड़ उन पर सिर रख फूट-फूटकर रो पड़ती है।)**

[सुगतभद्र का प्रवेश। सुगतभद्र लगभग पचास वर्ष की अवस्था के कुछ साँवले रंग के ऊँचे-पूरे दुहरे शरीर के व्यक्ति हैं। श्वेत अधोवस्त्र पहने हैं और ऊपर के शरीर पर उत्तरीय है। उसके अंगों में भी स्वर्ण के रत्नजटित आभूषण हैं।]

सुगतभद्र : (पत्नी को ध्यान से देखते हुए) वही बिलख ! वही उद्विग्नता ! उसी प्रकार बार-बार आर्त्त-प्रार्थना !

उत्पलवर्णा : (पति का शब्द सुन उठकर उसकी ओर देखते हुए) अच्छा, तुम हो ?

सुगतभद्र : (पत्नी की लाल आँखें और गीले कपोलों को ध्यान से देखते हुए) दिन और रात वही अविरल अश्रुधार !

[उत्पलवर्णा कुछ न कह पति के निकट आ अपना सिर उसके कंधे पर टिका दीर्घ निःश्वास छोड़ती है।]

सुगतभद्र : (पत्नी के दोनों हाथ पकड़ एक शयन पर उसे बिठा स्वयं बैठते हुए) इस विह्वलता से क्या होगा ? यदि तुम अपनी दीर्घ निःश्वासों से विश्व का सारा वायुमण्डल भी भर दोगी, यदि अपनी इस अश्रुधारा से विश्व को बहा भी दोगी तो भी क्या होगा; क्या होगा इससे !

उत्पलवर्णा : क्या दीर्घ निःश्वास कुछ प्राप्त करने के लिए निकलती है ? क्या आँसू किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए बहते हैं ! हाँ, प्रार्थना अवश्य होती है कुछ पाने के लिए। सुना था सच्ची प्रार्थना, सच्चे हृदय से निकली हुई प्रार्थना, सच्ची भावनाओं से भरी हुई प्रार्थना कभी निरर्थक नहीं जाती। परन्तु...परन्तु **(चुप हो जाती है)**...

सुगतभद्र : किन्तु यदि सच्ची, सच्चे हृदय से निकली हुई, सच्ची भावनाओं से भरी हुई साथ ही एक दूसरे से ठीक विपरीत दो प्रार्थनाओं की टक्कर हो जाय।

उत्पलवर्णा : (पति की ओर देखते हुए) अर्थात्...

सुगतभद्र : अर्थात् यह कि तुम प्रार्थना कर रही हो कुमारायन के किसी भी प्रकार गृहस्थ आश्रम में बने रहने के लिए और कुमारायन प्रार्थना कर रहा है इस मोह-बन्धन को काटने की उसे शक्ति देने के लिए। तुम्हारी प्रार्थना है उसे इस जीवन से आसक्ति बनाये रखने के लिए, उसकी है अनासक्ति की। एक में पूर्ण आसक्ति के भाव हैं, दूसरी में उसके ठीक विपरीत विरक्ति के। मैं समझता हूँ दोनों प्रार्थनाओं में पूरी-पूरी सचाई है। दोनों सच्चे से सच्चे हृदय से की जा

रही हैं। दोनों में सच्ची से सच्ची भावनाएँ कूट-कूटकर भरी हैं। पर दोनों चाहती हैं एक दूसरे के ठीक विपरीत बातें। तब भगवान क्या करें।

उत्पलवर्णा : **(कुछ विचारते हुए)** कुछ समझ में नहीं आता।

[**कुछ देर निस्तब्धता।**]

सुगतभद्र : देखो; मानव मन, मस्तिष्क और हृदय दोनों से शासित है। मस्तिष्क का कार्य तर्क से समस्याओं का निर्णय कर और हृदय का कार्य भावनाओं को भर—कृति के लिए मन को प्रेरणा देना है। तुम इस समय मस्तिष्क का उपयोग न कर केवल हृदय की भावनाओं में बह रही हो।

उत्पलवर्णा : तो, तुम समझते हो कि जो कुछ कुमारायन करने जा रहा है वह ठीक है?

सुगतभद्र : यदि तुम्हारे पक्ष में कुछ कहने को है तो कुमारायन के पक्ष में भी कुछ कहा जा सकता है।

उत्पलवर्णा : ओह! तुम भी यह कह रहे हो! कदाचित् पिता का मन भी माता के मन के सदृश नहीं होता।

सुगतभद्र : मैं माता नहीं हूँ अतः माता के मन को कदाचित् नहीं समझ सकता, पर क्या पिता के मन में सन्तान के लिए स्नेह नहीं होता?

उत्पलवर्णा : **(विचारते हुए)** होता है, पर संतान के सम्बन्ध में भी उसका मन मस्तिष्क और हृदय दोनों से प्रेरित होता है। और माता का मन केवल हृदय से।

सुगतभद्र : पर जानती हो बिना मस्तिष्क के योग के हृदय से प्रेरित

हो मन ऐसी कृति भी कर सकता है जो कल्याणकारी न हो।

उत्पलवर्णा : तुम यह क्यों कह रहे हो जानते हो?

सुगतभद्र : क्यों?

उत्पलवर्णा : इसलिए कि पिता के मन में सन्तान के लिए कुछ महत्त्वाकांक्षाएँ भी रहती हैं पर माता के मन में केवल उसकी कुशल-भावना। किस प्रकार...किस प्रकार मैंने कुमारायन को गर्भ में रखा, किस प्रकार...किस प्रकार मैंने उसका लालन-पालन किया! उसके सुख, आमोद-प्रमोद, कुशलतापूर्वक उसके जीवनयापन के लिए क्या-क्या जुटाया, क्या-क्या संग्रह किया और आज वह मेरी समस्त भावनाओं पर कुठाराघात कर इन समस्त सामग्रियों से मुख मोड़कर भिक्षु होने जा रहा है और तुम...तुम...उसके पिता तुम भी यह कहते हो कि उसके पक्ष में भी कुछ कहा जा सकता है।

सुगतभद्र : अवश्य कहा जा सकता है।

उत्पलवर्णा : ओह्!

सुगतभद्र : देखो, इस संसार में कितने सम्राट्, राजा, राजकर्मचारी, व्यापारी अर्थात् सम्पन्न व्यक्ति हुए और हैं, पर किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए कितनों ने उस सम्पन्नता को ठोकर मारी है। हमारा पुत्र वह करने जा रहा है जो विरल व्यक्तियों ने किया है। एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसका यह त्याग और साहस क्या तुम्हारे मन को आत्मगौरव और अभिमान की भावनाओं से नहीं भरता?

उत्पलवर्णा : मैंने कहा न, पिता के मन में संतान के लिए कुछ

महत्त्वाकांक्षाएं भी रहती हैं परन्तु माता के मन में केवल उसकी कुशल-भावना।

सुगतभद्र : पर तुम यह कैसे कह सकती हो कि गृहस्थ ही कुशलतापूर्वक रह सकता है और भिक्षु नहीं। सुख और आमोद-प्रमोद के अगणित साधनों के रहते हुए भी क्या गृहस्थों को कोई मानसिक अथवा शारीरिक कष्ट या व्याधि नही होती? इस सृष्टि की रचना ही कुछ ऐसी है कि सभी को समय-समय पर मानसिक तथा शारीरिक हर्ष और विषाद, सुख और दुःख भोगना ही पड़ता है।

[कुमारायन का प्रवेश। अब वह बौद्ध भिक्षुओं के पीत-चीवर पहने हुए है, शरीर पर कोई भूषण नहीं है, सिर मुँडा हुआ। इस वेष में भी कुमारायन अत्यन्त सुन्दर दीख पड़ता है।]

कुमारायन : बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

[कुमारायन के ये शब्द सुन उत्पलवर्णा उठकर जिस ओर से कुमारायन आता है, चपलता से बढ़ती है। सुगतभद्र उसके पीछे जाता है।]

उत्पलवर्णा : **(कुमारायन यह वेश-भूषा देख चिल्लाकर)** हे भगवन्! हे भगवन्! यह...यह हुआ अन्त में!

कुमारायन : **(झपटकर माँ के पैर पकड़कर)** माता जी! 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय', जो होना उचित था वही हुआ। यह तो ... यह तो आपके और **(पिता की ओर देखकर)**

पिताजी के सुख का...सच्चे सुख का कारण होना चाहिए।

सुगतभद्र : मेरा मस्तिष्क एक बात कहता है, कुमारायन, और हृदय दूसरी। मैं प्रधानतया मस्तिष्क से शासित होता हूँ, हृदय से नहीं; पर ... पर बेटा! तुम्हारी माँ के मस्तिष्क की तो इस समय सारी शक्ति ही समाप्त हो गयी है। इनके मन पर हृदय का ही साम्राज्य है। कदाचित् स्वाभाविक भी है। माता का मन है, है न!

[**उत्पलवर्णा रो पड़ती है।**]

कुमारायन : माता जी, मैं आपको माता कौशल्या का स्मरण दिलाता हूँ। भगवान् राम के वन-गमन के समय किन भावनाओं से उन्होंने विदा दी थी।

उत्पलवर्णा : (**एक आसन्दी पर बैठती क्या गिरती हुई-सी हिचकियाँ लेते हुए**) माता कौशल्या! ...राम का वनगमन! ... बेटा राम का वनगमन पिता की आज्ञा के कारण हुआ था...।

कुमारायन : माता जी, राम का वनगमन यदि पिता की आज्ञा के कारण हुआ था तो मेरा यह वेष मेरी अन्तरात्मा की आज्ञा के कारण हुआ है।

उत्पलवर्णा : (**सिसकते हुए**) और...और, बेटा, उस वनवास की एक...एक निश्चित अवधि थी।

कुमारायन : इसकी भी अवधि है, माता जी !

उत्पलवर्णा : (**कुमार को देखते हुए उत्सुकता से**) निश्चित अवधि है?

कुमारायन : इस सृष्टि में अवधि-विहीन कुछ नहीं। मानव का जीवन क्या अवधि के परे है?

उत्पलवर्णा : (सिर झुकाकर) ओह...ओह !

सुगतभद्र : (पत्नी के निकट ही एक दूसरी आसन्दी पर बैठते हुए) मैंने कहा था न, इस विह्वलता से क्या होगा? यदि तुम अपनी दीर्घ निःश्वासों से विश्व का सारा वायु-मण्डल भी भर दोगी, यदि अपनी इस अश्रुधारा से सारे विश्व को बहा भी दोगी तो भी क्या होगा; क्या होगा इससे?

उत्पलवर्णा : और मैंने उत्तर नहीं दिया था, क्या दीर्घ निःश्वास कुछ प्राप्त करने के लिए निकलती है? क्या आँसू किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए बहते हैं? न पिता माता के हृदय को समझ सकता है और न पुत्र ही माता के हृदय को। तुम्हें क्या मालूम (पति की ओर देख) पुरुष जिस तरह मुक्ति चाहता है, नारी माँ बनना चाहती है। इसके लिए माँ का पद ही नारी-जीवन की चरम परिणति है। कितनी साध, कितने नियम-संयम से पाया है मैंने यह पद! और ... और आज वही मुझसे छीना जा रहा है! अब ... अब कौन कहेगा मुझसे माँ? और...

कुमारायन : (बीच ही में) परन्तु, माता जी, 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय,' आप अपने इकलौते पुत्र को देकर समस्त मानव-समाज की माता बन गयी हैं। अब आप बिदा दीजिए अपने इस प्रिय पुत्र को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'। मैं निरन्तर धम्मचर्चा कर सारे संसार में सद्धम्म की ध्वजा

उड़ा मानव मात्र का मंगल कर संसार का कल्याण करूँगा; आपकी कोख तथा पिता जी के नाम को धन्य करने का प्रयत्न कर आपके माँ के पद को सार्थक करूँगा।

सुगतभद्र : (**आँखों में आँसू भरकर**) मैं तो ऐसे सुत को पाकर धन्य हो गया हूँ। (**पत्नी से**) माता पुत्र का मङ्गल-चिन्तन करते हुए क्या बिदा-वेला में पुत्र को आशीर्वाद न देगी ?

कुमारायन : पिताजी, आपके चरणों से लिपटने की उत्कट अभिलाषा रहते हुए भी भिक्षु धम्म के अनुसार अब आपको केवल प्रणाम कर सकता हूँ, परन्तु माता के चरण-स्पर्श में तो कोई भी धम्म बाधक नहीं है।

[सुगतभद्र को झुककर प्रणाम करता है। पिता उसे हृदय से लगाता है। कुमारायन पुनः माता के पैरों में सिर रखता है, माता रोती और हिचकियाँ लेती हुई कुछ भी कहने में असमर्थ रहने के कारण कुमारायन के सिर पर हाथ रखती है।]

कुमारायन : बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

सुगतभद्र : 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'।

यवनिका

दूसरा अंक

स्थान : कूची के राजप्रासाद में जीवा का कक्ष

समय : सन्ध्या

[यह कक्ष भी उपक्रम और पहले अंक के कक्ष के सदृश ही है। इस में भी बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा है। जीवा गाती हुई इधर-उधर घूम रही है। जीवा लगभग अठारह वर्ष की गौर वर्ण की अत्यन्त सुन्दर युवती है; मुख के अवयव और सारे अंग ढले हुए से। कौशेय वस्त्र की साड़ी पहने है और वैसा ही वस्त्र उभरे हुए वक्षस्थल पर बँधा है। सब अंगों में स्वर्ण के रत्नजटित आभूषण हैं।]

गीत

मुग्ध शिशुना क्यों सकुचती मृदुल अपने अवयवों में ?
मौन का अभिमान द्विगुणित, मुखरता अब है दृगों में।
मधुर पीड़ा की कसक में, विवश से क्यों प्राण धँसते ?
लोचनों की विकलता लख, वक्र से हो प्राण हँसते।
पूर्णता में इन्दु की छिपती, अमा की निशि अँधेरी।
इन अधूरे से क्षणों में, उलझती उद्भ्रान्ति मेरी।
दूर से आये पथिक ने, हृदय में पाया बसेरा,
शिथिल तम-पट यामिनी का, दूर है अब भी सवेरा।

जीवा : (गीत पूर्ण होने पर बुद्ध की प्रतिमा के सामने जा

प्रतिमा से) देव, कहा जाता है राजा शुद्धोदन के यहाँ गौतम के रूप में जन्म लेने के पूर्व आपके...आपके...अनेक ...अनेक जन्म हुए थे। तो...तो कुमारायन के रूप में क्या आप ने पुनः ...पुनः जन्म ग्रहण किया है, तथागत ? **(चुप होकर प्रतिमा की ओर देखती रहती है।)**

[कुमारायन का प्रवेश। जीवा इस प्रकार खड़ी है कि वह कुमारायन को नहीं देख पाती। कुमारायन आगे बढ़ने ही वाला है। जीवा का प्रतिमा के प्रति प्रथम शब्द सुनते ही कुमारायन आगे न बढ़ खड़ा रह जाता है।]

जीवा : देव, कहते हैं, आप...आप अत्यन्त सुन्दर थे...भारत... भारत देश से आये हुए इस भिक्षु कुमारायन...कुमारायन का सौन्दर्य भी कितना...कितना मनमोहक है,...कितना... कितना आकर्षक है? कहते हैं, तथागत, आप...आप महान् तेजस्वी थे, कितना...कितना तेज...तेज है कुमारायन में ! कहते हैं, देव,...आप बड़े विद्वान् थे। कुमारायन...कुमारा-यन से बड़ा विद्वान यहाँ...कूची राज्य में तो कभी कोई नहीं आया। कूची की संस्कृति शताब्दियों से भारतीय संस्कृति, हाँ, भारतीय संस्कृति के सदृश ही है। ...आपके सद्धम्म का प्रचार भी यहाँ ... यहाँ शताब्दियों से ही है, पर ... पर इस भिक्षु ... इस भिक्षु ने कूची में सद्धम्म की जैसी ... जैसी दुन्दुभि बजायी वैसी... वैसी इसके पूर्व कभी...कभी न बजी थी। ... **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्)** तो ... तो क्य आपने...आपने ही कुमारायन के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण

किया है ? परन्तु कहा जाता था बुद्ध-पद प्राप्त करने के पश्चात् आप...आपने तो पुनर्जन्म से छुटकारा पा निर्वाण-पद प्राप्त कर लिया। फिर...फिर क्या आपके ही सदृश सुन्दर, तेजस्वी, कुशाग्र बुद्धि विद्वान् एक द्वितीय...द्वितीय गौतम ... गौतम ने जन्म लिया है, आपके ही रहे हुए कार्य को पूर्ण करने के निमित्त? सारे संसार में सद्धम्म की स्थापना के लिए पिता जी को कितना...कितना जन-ज्ञान है ? अपने...अपने देश में सद्धम्म का प्रचार करते कहाँ-कहाँ ...हाँ, कहाँ-कहाँ...कितने देशों में घूमते-भटकते कुमारायन कूची आये और पिता जी ने उन्हें राजगुरु का पद दे दिया। उनके देश में कदाचित् कोई ऐसा ... ऐसा जन-ज्ञानी न था जो उनको पहचान ... पहचान पाता, उनका ... उनका मूल्यांकन करता । (**कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्**) परन्तु...परन्तु सद्धम्म के प्रचार के लिए क्या...क्या भिक्षु होना अनिवार्य है ? अबतक जिन-जिन ने सद्धम्म का प्रचार किया वे क्या सब...सब भिक्षु थे?...प्रियदर्शी अशोक से अधिक किस...किसने अपने देश और देश-देशान्तरों में सद्धम्म की दुन्दुभि बजायी ? इसके ... इसके लिए उन्होंने तो राजपाट छोड़ना आवश्यक नहीं माना। वरन्...वरन् उन्होंने तो राजसत्ता को सद्धम्म के प्रचार के लिए सबसे बड़ा साधन ... हाँ, सबसे बड़ा साधन माना। और...और उन्होंने ही माना हो यह बात नहीं, अशोक की राजसत्ता सद्धम्म के प्रचार के लिए सबसे ...

हाँ, सबसे अधिक सफल साधन सिद्ध हुई। (**फिर कुछ रुक कर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्**) कुमारायन की यह ... यह अवस्था क्या भिक्षु होने की अवस्था है ? ... निसर्ग ने इन्द्रियों को क्या निरोध ... निरोध के लिए ही दिया है ? फिर...फिर यदि सभी...सभी बाल-ब्रह्मचारी तो भिक्षु ... भिक्षु हो जायँ तब ... तब तो सन्तानोत्पत्ति ही समाप्त हो जायेगी। और ... और इस सृष्टि की प्रगति ... प्रगति ही रुकेगी यह नहीं, सृष्टि के सदृश कोई वस्तु...वस्तु ही न रह जायगी। मैं... मैं भारत के वैदिक ... वैदिक धर्म की भी भक्त हूँ। वैदिक...वैदिक धर्म में चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ...गृहस्थ आश्रम अन्य किसी आश्रम से हेय नहीं माना जाता, वरन् ... वरन् अन्य आश्रमों का पोषक होने के कारण अनेक ऋषि महर्षि उसे अन्य आश्रमों से श्रेष्ठ...श्रेष्ठ मानते थे। युवावस्था तक ब्रह्मचर्य रहना था, ... युवावस्था आते ही गृहस्थ आश्रम आता था ... इन्द्रियों को तोष होता था और योग्य संतान की उत्पत्ति। फिर...फिर वानप्रस्थ और संन्यास का विधान था। (**कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा को देखने के पश्चात्**) तथागत, कहते हैं मेरे... मेरे सदृश सुन्दर भी दुर्लभ है। ... नहीं जानती यह ... यह कथन कितना ... कितना सत्य है; क्योंकि कुरूप भी अपने को सुन्दर...सुन्दर ही समझता है। पर...पर यदि यह सत्य है तो...तो सुन्दर...सुन्दरतम कुमारायन...सुन्दर...सुन्दरतम जीवा...कुमारायन और जीवा...

जीवा और कुमारायन...विवाह...सुख...सुख की पराकाष्ठा और...और संतान...सत् संतान !...(**कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्**) देव, कैसे ... कैसे भाव सतत उठते रहते हैं मेरे ... मेरे मन में, इस भारतीय भिक्षु कुमारायन के लिए; उदधि...उदधि की ऊर्मियों ... ऊर्मियों के सदृश एक पर एक ... जिस ... जिस दिन से उसे...उसे देखा उसी दिन...उसी घड़ी...उसी पल से। ऐसे...ऐसे भाव, तथागत, जीवन में...जीवन में इसके...इसके पूर्व कभी... कभी...कभी भी नहीं उठे थे, किसी ··· किसी के लिए भी। ...नया एक दम नया अनुभव है यह मेरे लिए। और...और, देव, कुमारायन के मन में मेरे लिए कैसे भाव हैं ! कहना कठिन है। बोलने से भी अधिक एक विशेष प्रकार से देखना, मुस्कराना, हँसना आदि, भावनाओं का पता देते हैं। पर वहाँ तो न बोलना है, न देखना, न मुस्काना और न हँसना।

कुमारायन : (आगे बढ़कर) राजकुमारी...राजकुमारी !

[कुमारायन का शब्द सुन जीवा एक दम चौंक पड़ती है। बुद्ध प्रतिमा की ओर से घूम कुमारायन को देखती है। पर कुमारायन को देखते ही उसकी आँखें मुख सहित नीचे झुक जाती हैं और उसके मुख से जान पड़ता है, जैसे एकाएक उसके मन में एक पर एक न जाने कितनी बातें उठी रही हैं, पर उसका मन ऐसी अवस्था में नहीं आ रहा है कि उसके ओठों से एक शब्द भी निकल सके। कुछ देर एक विचित्र प्रकार की निस्तब्धता।]

कुमारायन : दुर्भाग्य से या...या सौभाग्य से भगवान् बुद्ध की

प्रतिमा से जो बातें आप कर रहीं थीं उन्हें मैंने सुन लिया। और...

जीवा : (सिर उठाकर कुछ क्रुद्ध हो बीच ही में) अच्छा, आप छिपकर मेरी बातें सुन रहे थे!

कुमारायन : छिपकर!...छिपकर तो नहीं कहा जा सकता किन्तु...

जीवा : (बीच ही में) किन्तु...परन्तु कैसा? मेरे बिना जाने मेरी बातें; ऐसी बातें जो मैं अपने इष्टदेव से कर रही थी, सुनते रहे, यह छिपकर सुनना नहीं तो किस प्रकार सुनना है?

कुमारायन : छिपकर...छिपकर सुनना तो तब कहा जा सकता था, राजकुमारी, जब...जब मैं उन्हें सुनने के उद्देश्य से आता या सुनकर आपको बिना जनाये चला जाता। मैं आया था नित्य नियम के अनुसार आपको सद्धम्म का एक प्रकरण सुनाने। आप बातें कर रही थीं भगवान् बुद्ध की प्रतिमा से और...और इतनी तल्लीन थीं आप उन बातों, भावनाओं से ओत-प्रोत भरी हुई उन बातों में कि मैं स्तब्ध रह गया। न अपने आने की सूचना देने के लिए पैर बढ़े और न लौट कर जाने के लिए ही। वाणी को भी पक्षाघात के सदृश किसी ने अवरुद्ध कर दिया। जब आपकी बातचीत समाप्त हुई एकाएक पुनः चेतना आयी, पैर आगे बढ़े, वाणी खुली, पहला शब्द निकला आपका नाम और...और अपराध की स्वीकृति के लिए वाक्य निकला कि दुर्भाग्य या सौभाग्य से भगवान् बुद्ध की प्रतिमा से जो बातें आप कर रही थीं उन्हें मैंने सुन लिया।

[जीवा का सिर झुक जाता है। वह कुछ नहीं कहती, कुमारायन उसकी ओर एकटक देखता रहता है। कुछ देर निस्तब्धता।]

कुमारायन : जो कुछ हो, राजकुमारी, परन्तु यह परिस्थिति अत्यन्त गम्भीर है और अब तो इस विषय पर चर्चा अनिवार्य जान पड़ती है। (कुछ रुककर) अभी चर्चा की जाय या जब आप आज्ञा दे?

जीवा : (थोड़ा सिर उठाकर भर्राये हुए स्वर में) नहीं, अब तो जितनी जल्दी हो सके इस चर्चा को कर ही डालना ठीक होगा। मुझे इस समय कोई अन्य कार्य नहीं है। (एक आसन्दी पर बैठती है। उसका सिर नीचे झुक जाता है।)

[कुमारायन जीवा के निकट ही एक दूसरी आसन्दी पर बैठता है। कुछ देर फिर निस्तब्धता।]

कुमारायन : (धीरे-धीरे) मैं...मैं अपने को परम सौभाग्यशाली मानता हूँ, राजकुमारी, कि आपका मुझ पर इतना...इतना प्रेम है। परन्तु आप जानती हैं, राजकुमारी, मैं भिक्षु हूँ।

[जीवा कुछ उत्तर न दे सिर से पैर तक कुमारायन को देखती है। यह अवलोकन बिजली की चमक के सदृश एक निमिष में हो जाता है—और उसकी दृष्टि पूर्ववत् नीचे झुक जाती है। फिर निस्तब्धता।]

कुमारायन : भिक्षु के धर्म और कर्त्तव्य से आप अपरिचित नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में अब आप ही आज्ञा दीजिए कि मैं क्या करूँ?

[कुमारायन उत्सुकता से जीवा की ओर देखता है। जीवा उसी प्रकार मूर्त्ति के सदृश बैठी रहती है; कुछ नहीं बोलती। फिर निस्तब्धता।]

कुमारायन : तो फिर ?

जीवा : (सब ओर से साहस को बटोरते हुए थोड़ा सिर उठा भर्राये हुए स्वर में) भिक्षु धर्म साध्य है या साधन?

कुमारायन : नहीं, साध्य तो है बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, भिक्षु धर्म इसके लिए साधन है।

जीवा : तब ?

कुमारायन : तब ?

जीवा : तब...तब 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ध्येय के लिए क्या मेरी भावनाएँ बाधक हैं?

[कुमारायन का सिर झुक जाता है। जीवा उसकी ओर एकटक देखती रहती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

कुमारायन : (सिर उठाकर धीरे-धीरे) आपकी भावनाएँ चाहे बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय ध्येय के लिए बाधक न हों परन्तु उस ध्येय की पूर्त्ति के लिए जो मार्ग मैंने चुना है उसके विपरीत हैं।

जीवा : (साहस से) अब आप तो मेरी भावनाओं से अवगत हो ही चुके हैं इसलिए मैं आपसे साहसपूर्वक कहना चाहती हूँ कि 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ध्येय के लिए आप का मार्ग ही मैं ठीक नहीं मानती।

कुमारायन : भगवान् बुद्ध आपके भी इष्ट हैं और भगवान् बुद्ध

का बताया हुआ मार्ग आप ठीक नहीं मानतीं ?

जीवा : भगवान् बुद्ध ने यह कभी नहीं कहा कि 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ध्येय की पूर्ति के लिए भिक्षु होना ही एक-मात्र मार्ग है। फिर, आर्य, इस मार्ग को में आपकी इस अवस्था में अस्वाभाविक मानती हूँ।

कुमारायन : इन्द्रिय-निग्रह किसी भी अवस्था में हो सकता है।

जीवा : इसीलिए तो बौद्ध विहारों और संघारामों के संबंध में अनेक चर्चाएँ सुन पड़ने लगी हैं।

कुमारायन : इनमें अधिकांश चर्चाएँ मिथ्या अपवाद हैं।

जीवा : हो सकता है। पर आप भी अधिकांश शब्द का ही उप-योग करते हैं। देखिए, आर्य, इस विषय में भारत के वैदिक धर्म की आश्रम-व्यवस्था को मैं सर्वोत्तम मानती हूँ।

कुमारायन : वह तो आप अभी बौद्ध प्रतिमा से कह ही रही थीं।

जीवा : और इसी के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमद्भगवद्-गीता के एक कथन को भी मैं सही समझती हूँ।

कुमारायन : कौन से कथन को?

जीवा : कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।

[कुमारायन का सिर फिर झुक जाता है। कुछ देर निस्तब्धता।]

कुमारायन : **(धीरे-धीरे सिर उठाते हुए)** जो कुछ हो, राज-कुमारी, मैंने 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ध्येय की पूर्ति के लिए एक मार्ग चुन लिया है। और उस मार्ग पर चलना

मेरा अब धर्म है। (कुछ रुककर) राजकुमारी, मैं इस राजगुरु पद से मुक्त हो कल कूर्चा राज्य छोड़ दूँगा।

जीवा : **(घबराकर खड़े हो एकदम भर्राये हुए स्वर में)** ऐसा !

कुमारायन : (जीवा के खड़े होने के कारण स्वयं खड़े हो, भर्राये हुए स्वर में) विवश हूँ, राजकुमारी !

जीवा : **(साहस से)** एक ललना की भावनाओं को जानने के पश्चात् उन्हें रोंदकर, एक युवती के हृदय को मसोसकर, एक तरुणी के सारे जीवन के हरे-भरे उद्यान को मरुस्थल बनाकर आप कल जा रहे हैं !

कुमारायन : हृदय पर पत्थर रखकर, जा रहा हूँ, राजकुमारी। विवश हूँ।

जीवा : **(अत्यन्त साहस से)** आप जानते हैं आप एक पाप कर रहे हैं।

कुमारायन : **(आश्चर्य से)** पाप ! राजकुमारी ?

जीवा : **(उसी प्रकार साहस से)** घोर पाप !

[**दोनों एक दूसरे की ओर एकटक देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता।**]

जीवा : **(उसी प्रकार साहस से)** आर्य, आपने मेरे इष्ट देव से की हुई सारी बातों को सुन लिया है। इसलिए अब संकोच करने या कुछ छिपा रखने की आवश्यकता नहीं है। मैं एक पवित्र...पवित्रतम महिला हूँ। आपके कूची आने के पूर्व यह हृदय किसी ओर भी आकर्षित न हुआ था। इस आत्म पर आधिपत्य की किसी की भी क्षणमात्र को छाया न पड़ी

थी। पर...पर प्रथम दर्शन में ही आपके पदों में मैंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया और...और वह सर्वथा शुद्ध भावनाओं से। जनकपुर की वाटिका में राम के प्रथम दर्श के समय सीता के हृदय में उनके लिए यदि प्रेम का पयोधि उमड़ा तो क्या उसमें किसी प्रकार की रञ्चमात्र भी अपवित्रता थी? सत्यवान के लिए सावित्री ने यदि अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया तो क्या उसमें किसी प्रकार की अशुद्धता थी? कूची की ललनाओं के लिए सीता और सावित्री का प्रेम आदर्श है और जब तक कूची में भारतीय संस्कृति का अस्तित्व है तब तक कौन कह सकता है कि किसी भी सती साध्वी महिला की सच्चे प्रेम की दीप्त-शिखा में मलिनता का आभास भी हो सकता है। फिर मनुष्य में देवत्व और पशुत्व दोनों का निवास है यह मानकर चलने पर ही मनुष्य मनुष्य को समझ सकता है; उसकी निर्बलता को भी। सच्ची दया, सहानुभूति और सहनशीलता तब तक उत्पन्न हो ही नहीं सकती, जब तक इसे मानकर न चला जाय कि निसर्ग ने मनुष्य को देवत्व और पशुत्व दोनों के मिश्रण से रचा है। आप जानते ही हैं कि भगवान् तथागत ने सच्ची दया, सहानुभूति और सहनशीलता मानव के सर्वश्रेष्ठ गुण माने हैं। (कुछ रुककर) जाइए आर्य, आप जाइए; और जानते हैं आपके गमन के पश्चात् मैं क्या करने वाली हूँ? आपकी प्रतिमा को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर आजन्म उसका पूजन! संसार में कौन

मुझे उससे विमुख कर सकता है ? आपका भिक्षुव्रत है मेरा होगा आजीवन कौमार्यव्रत ।

[कुमारायन का सिर एक दम नीचे झुक जाता है । जीवा उसकी ओर एकटक देखती रहती हैं । कुछ देर निस्तब्धता ।]

कुमारायन : (धीरे-धीरे सिर उठाते हुए बौद्ध प्रतिमा की ओर देखकर) भगवन् !...भगवन् !

यवनिका

तीसरा अंक

स्थान : कूची में कुमारायन का कक्ष

समय : अर्धरात्रि

[कक्ष अब तक के अन्य कक्षों के सदृश ही है। इस कक्ष में भी बुद्ध की एक विशाल मूर्त्ति है। कुमारायन खड़ा हुआ इस मूर्त्ति से बातें कर रहा है।]

कुमारायन : देव, विचित्र...विचित्र परिस्थिति है! ...मैं अपने को हाँ,...अपने को ही नहीं समझ...पा रहा हूँ। इतना...इतना अवश्य जान पड़ता है कि मेरे अब तक के विश्वासों रूपी भवन में दरारें पड़ गयी हैं। और...और मैं मानसिक दृष्टि से अन्धा होता जा रहा हूँ, बहरा होता जा रहा हूँ। पर... पर जीवा...जब जीवा दिख पड़ती है तो उस बहरे के समान हो जाता हूँ जिसकी दृष्टि तेज हो जाती है और जब कहीं उसका शब्द सुनायी देता है तब उस अंधे के समान जिसके कान। मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी इसलिए है कि निसर्ग ने उसे ज्ञान शक्ति दी है। उस शक्ति के कारण वह विचारप्रधान प्राणी है। पर...पर सुना था प्रेम ऐसी बला है जो विचार तक का स्थान ले लेता है। और जहाँ...जहाँ विचार की शक्ति का स्थान प्रेम ने लिया प्रेम को छोड़कर और सब कुछ ... हाँ, सब कुछ भुला जाता है। कहते हैं,

देव, प्रेम ऊँची...वहुत ऊँची वस्तु है, और...और वह सब कुछ भुलाकर मानव को पूर्णता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा देती है। इस...इस परिस्थिति में जो अन्य सभी वस्तुओं की विस्मृति होती है उसमें बुरी वातों की भी विस्मृति हो जाती है। परन्तु...परन्तु, जव सभी वातों की विस्मृति होती है तब बुरी के साथ अच्छी वातों की भी विस्मृति हो जाती होगी? **(कुछ रुककर)** और...और उस प्रेम से अधिक बलवान् कदाचित् अन्य कोई...कोई भी प्रेम न होता होगा, जिसमें प्रेम पात्र भी कष्ट देने वाला हो। **(फिर कुछ रुककर)** जान...जान पड़ता है, देव, मेरी बुद्धि में कहीं न कहीं से विष...हाँ, विष का समावेश हो गया है। बौद्धिक विष कदाचित् शारीरिक विष से कई गुना अधिक...अधिक भयानक होता है। **(कुछ रुककर)** समझ में नहीं आता, भगवन्, मेरी कैसी...कैसी दशा हो गयी है?

[जीवा का प्रवेश। कुमारायन इस प्रकार खड़ा है कि वह जीवा को नहीं देख पाता। जीवा कुछ और छिपकर खड़ी हो जाती है और ध्यान से कुमारायन की बातचीत सुनने लगती है।]

कुमारायन : क्या, तथागत, अपने...अपने को समझना ही सबसे कठिन है?...घर...घर के वैभवशाली...महान् वैभवशाली जीवन को परिवर्त्तित करते समय क्या मैंने अपने को ठीक...ठीक प्रकार समझा था? उस...उस जीवन के परिवर्तन के समय भी संकल्प-विकल्प मन में...मन में उठे

थे, किन्तु ..किन्तु, निर्णय के पश्चात् कोई बाधा ..माता के स्नेह की बड़ी से बड़ी बाधा भी मेरे मार्ग को अवरुद्ध न कर सकी।...घर...घर से निकला, देश-देशान्तरों में घूमता-घामता कूची पहुँचा।...प्रण किया था परिव्राजक के सदृश सतत पर्यटक रहने का, यहाँ...यहाँ आते ही यह राजगुरु का पद क्यों...क्यों स्वीकार किया?...इस...इस पद को स्वीकार करने के पूर्व देखा था जीवा को। ...जीवा कहती थी प्रथम दर्शन में ही उसने मुझे अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। ...उसने...उसने यह अनजान में.. अनजान में नहीं किया है, पर...पर मानव अनजान में भी बहुत सी बातें कर बैठता है, तथागत। मैंने...मैंने भी अनजान में वही तो नहीं किया था जो जीवा ने जानकर। और...और यथार्थ में यही... यही कारण तो नहीं था इस...इस राजगुरु पद को स्वीकार करने का। (**कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्**) देव, जीवा...जीवा सचमुच अद्वितीय सुन्दरी है। और...और सौन्दर्य...सौंदर्य के साथ कितना बुद्धिमान है उसका मस्तिष्क। साथ ही कोमल और दृढ़ दोनों एक दूसरे से विरुद्ध गुणों वाला हृदय। और...और इन सारे सद्‌गुणों के संग कितनी पवित्रता है उसमें जिसके कारण शील की तो वह प्रतिमा...मूर्तिमन्त प्रतिमा ही हो गयी है। ...उस दिन...उस दिन उसका आजन्म कौमार्य व्रत का संकल्प! ओह!...ओह!...कहती थी मैं एक ललना की भावनाओं को जानने के पश्चात् उन्हें रौंदकर, एक युवती

के हृदय को मसोसकर, एक तरुणी के सारे जीवन के हरे-भरे उद्यान को मरुस्थल बनाकर जा रहा हूँ। क्या...क्या, तथागत, यह सचमुच...सचमुच ही पाप है ?...इसीलिए... इसीलिए क्या उस दिन...उस दिन उससे जो यह...यह कहकर आया था कि मैं राजगुरु पद से मुक्त हो कल कूची राज्य छोड़ दूँगा, उस निर्णय को अब तक दिन पर दिन... सप्ताह पर सप्ताह...पक्ष पर पक्ष...मास पर मास व्यतीत होने पर भी कार्यरूप में परिणत...परिणत नहीं कर पा रहा हूं ?...मस्तिष्क उस...उस कृति की प्रेरणा ही नहीं देता... पैरों में सीसा भर गया है...वे उठते ही नहीं। यह...यह जीवा के कहे हुए पाप...पाप के भय से अथवा अनजाने... अनजाने ही में भी उसे अपना...अपना जो सर्वस्व समर्पित कर चुका हूं, उसके कारण जीवा के प्रेम-पयोधि में...डूब जाने के कारण ? सारे तर्क इस प्रेम के विरुद्ध जाते हैं, पर... पर मस्तिष्क जितना तर्क करता है उतना ही हृदय उन तर्कों पर पानी फेर देता है। हृदय...हृदय की सोती हुई भावनाएँ भी मस्तिष्क के जागते हुए तर्कों से अधिक...कहीं अधिक बलवान् जान पड़ती हैं। यह क्या इसलिए...इसलिए, देव, कि तर्क मानव की सृष्टि है और भावनाएँ अन्य किसी अनजानी शक्ति की। क्या...क्या इसीलिए तर्क चाहे स्पष्ट और भावनाएँ अस्पष्ट हों, परन्तु,तर्क से भावनाएँ अधिक बलवती हैं और...और इसीलिए क्या हृदय जब तक मस्तिष्क का साथ न दे तब तक मस्तिष्क चाहे तर्क कितनी ही क्यों

न किया करे कृति संभव नहीं रहती। मस्तिष्क और हृदय के इस युद्ध में मैं देखता हूँ, मन वही...वही सोचता है जो ...जो वह नहीं सोचना चाहता और जो उसे नहीं सोचना चाहिए। कहा...कहा न, देव, विचित्र...विचित्र परिस्थिति है। मैं अपने को हाँ,...अपने को ही नहीं समझ पा रहा हूँ। मेरी दशा...दशा क्या सचमुच भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमद्-भगवद्गीता में कहे हुए उस...उस कथन के सदृश हो गयी है जो...जो जीवा ने उस दिन कहा था? (**कुछ रुककर चुप-चाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्**) निसर्ग ने ये इन्द्रियाँ क्या निरोध करने के लिए ही दी हैं? जीवा...जीवा क्या...क्या ठीक नहीं कहती थी कितना...कितना सुख हो यदि उसका और मेरा विवाह हो जाय! और कैसी...कैसी हो हमारी संतति!...संतति की उत्पत्ति ही भारतीय संस्कृति में विवाह का मुख्य उद्देश्य माना जाता है, और... और,तथागत,सचमुच ही यदि सब बाल-ब्रह्मचारी भिक्षु हो जायँ तब...तब तो सन्तानोत्पत्ति ही समाप्त हो जाय। और...और इस सृष्टि की प्रगति...प्रगति रुके ही नहीं इस सृष्टि के सदृश कोई वस्तु ही न रह जाय।...कैसी...कैसी भावनाएँ हैं जीवा...जीवा के हृदय में मेरे लिए! देव, वह... वह तो मुझे आपका...आपका ही अवतार मानती है।... तो...तो फिर (**एकदम चौंककर**) हैं...कहाँ...कहाँ जा रहा हूँ मैं? पथभ्रष्ट...पथभ्रष्ट हो रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि जीवन मछुवे के जाल के समान हो गया है, जितना

...जितना अधिक सुधारने का यत्न करता हूँ, उतने ही छेद बढ़ते जाते है, देव । क्या ..क्या जीवन में कुछ बातों को रोकना वैसा ही असम्भव है जैसा प्राकृतिक झंझावातों को? क्या ..क्या मै यथार्थ में इन्द्रिय-निग्रही न होकर इन्द्रिय-लोलुप ही हूं? ...क्या...क्या मनुष्य अपनी जिन...जिन वासनाओं पर विजय पाने में मन ही मन प्रसन्न हो अपनी सराहना करने लगता है, वे वासनाएँ यथार्थ में उसकी गौण वासनाएँ होती हैं; मुख्य वासनाओं पर विरले को ही विजय मिलती है ? मेरे मन के लिए तो यह सबसे बड़ा झंझावात आगया, ज्वालामुखी फट पड़ा, भू-कम्प हो गया, समुद्र ने सीमा छोड़ दी । मेरी मानसिक सृष्टि में जो कुछ...जो कुछ हो रहा है, वह यदि किसी तरह बाह्य सृष्टि में भी हो जाता और मेरा वह किसी प्रकार विनाश...विनाश कर देता ! कैसी...कैसी विलक्षण परिस्थिति उत्पन्न हो गयी, जिसे उत्पन्न करने या रोकने के लिए हम उत्तरदायी भी नहीं हैं। कभी...कभी सुना था स्त्रीत्व की ओर से इस प्रकार के सत्कार स्वागत से अधिक सुखदायी और रंगीली हाँ, सुखदायी और रंगीली मानसिक अवस्था तरुणाई के लिए और कोई नहीं हो सकती । परन्तु, क्या...क्या सोच-कर मैंने अपना घर, माता-पिता, अपना देश सबको छोड़ा था ? काञ्चन और कामिनी को पास न फटकने दूँगा, यह प्रतिज्ञा की थी ।

जीवा : (आगे बढ़कर साहस भरे स्वर में) काञ्चन निर्जीव होता

है, आर्य ! कामिनी सजीव।

[कुमारायन जीवा का शब्द सुन चौंककर उसकी ओर देख तत्काल अपना सिर झुका लेता है। जीवा एकटक उसकी ओर देखती रहती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

जीवा : उस दिन...उस दिन, आर्य, आपने...आपने तो मेरा भगवान् बुद्ध से वार्तालाप छिपकर नहीं सुना था। मेरा वार्तालाप चल रहा था आप अचानक पहुँचकर स्तब्ध हो गये थे। न आप में आगे बढ़ने की शक्ति रही थी और न पीछे लौटने की। पर मैंने तो भगवान् बुद्ध से आपका वार्तालाप छिप कर सुना, और वह न जाने कितने प्रयत्न के पश्चात् सुनने को मिला। मेरी भावनाओं को आप दैवयोग से ही क्यों न हो, जान गये थे और मेरी भावनाओं के आपके प्रति प्रकट होने के पश्चात् आप मानेंगे मेरा यह अधिकार था कि मैं भी अपने प्रति आपकी भावनाओं को जानने का प्रयत्न करूँ।

कुमारायन : (सिर उठाते हुए) आपके इस अधिकार को मैं स्वीकार करता हूँ।

जीवा : साधुवाद। आज पता लग गया मुझे आपकी भी भावनाओं का। भगवान् तथागत के सामने आपने अपनी एक प्रकार की भावनाओं को दूसरी प्रकार की भावनाओं के परकोटे से घेरकर अपनी रक्षा करना चाही पर वह हो न सकी। साथ ही मुझे एक बात और ज्ञात हुई।

कुमारायन : कौनसी ?

जीवा : मनुष्य हर वस्तु को छोड़ सकता है, हर वस्तु से भाग

सकता है, पर स्वयं को न छोड़ा जा सकता है और न स्वयं से भागा जा सकता।

कुमारायन : (विचारते हुए) जान तो ऐसा ही पड़ता है।

जीवा : (एक आसन्दी पर बैठते हुए) आप यहाँ से न जा सके इसका कारण जानते हैं ?

कुमारायन : (उसी प्रकार विचारते हुए) वह अपने को ही छोड़ देना और अपने से ही भागना था।

जीवा : आपके प्रस्थान की किस प्रकार प्रतीक्षा की मैंने। वह यामिनी मेरे लिए काल-रात्रि थी। और...और कितनी लम्बी हो गयी थी वह निशा, उसका एक-एक प्रहर और प्रहर की एक-एक घटिका ही नहीं एक-एक पल एक-एक युग के सदृश हो गया था।

कुमारायन : (जो जीवा के बैठते ही उसके निकट एक दूसरी आसन्दी पर बैठ गया था, बीच ही में) और निद्रा तो उस निशा में आयी ही न होगी ?

जीवा : निद्रा ? निद्रा तो उस निशा में ही क्यों, उसने तो उस दिन के पश्चात् मेरा संग ही छोड़ दिया है। और निद्रा की सखी है क्षुधा। जहाँ निद्रा नहीं वहाँ क्षुधा कहाँ ?

कुमारायन : (चिंताकुल स्वर में) तो उस दिन के पश्चात् आप सोयी नहीं, आपने कुछ खाया नहीं ?

जीवा : कुछ ऊँघा अवश्य है। खाया नहीं यह तो न कहूँगी। माता जी के कारण खाना तो पड़ता ही है पर, आर्य, क्षुधा से नहीं।

कुमारायन : (दीर्घ निःश्वास छोड़कर) ओह !

जीवा : आर्य, जब वह रात बीती, उषा का प्रकाश फैला, जान पड़ा दशों दिशाओं में दावानल लगा है। थोड़ी ही देर पश्चात् पूर्व से अग्नि का एक गोला निकला, दशों दिशाओं को सारे भू-मण्डल को भस्मीभून करता हुआ। मैं जलती-भुनती हुई झपटकर आपके कक्ष की ओर आयी। यह देखने कि आपका कब प्रस्थान होता है।

कुमारायन : आपको यह देखकर आश्चर्य हुआ होगा कि प्रस्थान की कोई तैयारी ही न थी?

जीवा : अत्यधिक आश्चर्य हुआ। जब आप उस दिन न गये, सोचा दूसरे दिन जायेंगे, पहली निशा और उसके पश्चात् के दिवस को जो हुआ था वही दूसरी निशा और दूसरे दिवस हुआ। पर...पर उसके पश्चात् जो आशा मर गयी थी, और आशा के मरण के पश्चात् जीवन में जीवन कहाँ रह सकता है, उसे संजीवनी बूटी मिली। मरी हुई आशा से पुनः आशा की एक क्षीण रेखा दिखायी दी। एकाएक मन में उठा अब ... अब आप न जायँगे। मेरा हरा-भरा जीवन रूपी उपवन जिसे निराशा के दावानल ने मरुस्थल-सा बना दिया था उसमें आशा की वृष्टि से पुनः नये कोपल निकल आये, मेरे जीवन रूपी भवन की चित्रकारी जिसे निराशा ने एकाएक पोंछकर मिटा दिया था उसमें आशा रूपी तूलिका ने फिर से नये रंग भर दिये।

कुमारायन : दूसरे दिन के पश्चात् ही आपके मन में इस आशा का उदय हो गया?

जीवा : हाँ, दूसरे दिन के पश्चात् ही। और फिर तो ज्यों-ज्यों दिन पर दिन बीतते गये यह आशा बढ़ती गयी। उस आशा के साथ एक इच्छा की उत्पत्ति हुई, अपने प्रति मैं आपकी भावनाओं को जानूँ।

कुमारायन : यह इच्छा स्वाभाविक थी, राजकुमारी।

जीवा : उसके पश्चात् कितने चक्कर काटे आपके कक्ष के दिन और रात में, उषा और सन्ध्या में, मध्याह्न और अपराह्न में। छिपकर, किसी प्रकार की आहट भी न होने पावे इस पर हर प्रकार का ध्यान रखकर, और आज, आर्य, वह इच्छा, वह आकांक्षा, वह उत्कण्ठा पूर्ण हुई। आपने अकस्मात् मेरी भावनाओं को जान लिया था, मैंने प्रयत्न कर यह गुरुतर अपराध किया है। क्या आप क्षमा न करेंगे ?

कुमारायन : नहीं, राजकुमारी, आपने कोई अपराध नहीं किया। मैंने स्वीकार किया है कि वह आपका अधिकार था।

जीवा : **(दीर्घ निःश्वास लेकर)** अब आप एक बात जानते हैं ?

कुमारायन : कौनसी ?

जीवा : इतने दिनों निद्रा तथा क्षुधा का बलिदान कर, और निद्रा तथा क्षुधा ही क्या, अपने से सम्बन्धित सब कुछ का बलिदान कर, मैंने जो साधना, जो तपस्या की वह आज सफल हो गयी, मुझे वर मिल गया। अब मुझे इसकी चिंता नहीं कि आप आजन्म भिक्षु रहते हैं एवं मैं आजन्म कौमार्य व्रत का पालन करती हूँ।

कुमारायन : **(आश्चर्य से)** ऐसा!

जीवा : जी हाँ, मुझे इधर एक नवीन...नवीनतम अनुभव हुआ है। प्रेमी...सच्चे प्रेमी को कदाचित् सबसे बड़ी अभिलाषा यह जानने की रहती है कि जिससे वह प्रेम करता है उसकी उसके प्रति क्या भावनाएँ हैं ? आज मुझे ज्ञान हो गया, आर्य, कि मैं अभागिनी असफल प्रेमिका नहीं हूँ। अनजाने ही क्यों न हो आप...आपके हृदय में भी मेरे प्रति वैसी ही भावनाएँ हैं जैसी मेरे हृदय में आपके प्रति। इन दिनों मेरा जीवन दूभर हो गया था। मुझे अनुभव होने लगा था कि जब प्रेम से प्रेम नहीं किया जाता तब प्रेम मृत्यु से प्रेम करने लगता है। **(नेत्रों से टपाटप आँसू की बूंदें गिरने लगती हैं। जान पड़ता है कि उसकी सारी कोमलता इन आँसुओं के रूप में झर रही है।)**

कुमारायन : मनुष्य एकान्त में ही पूर्णरूप से निष्कपट रह पाता है। कपट अन्य के प्रवेश के साथ आता है, इसीलिए अनेक बार मनुष्य जो सोचता है वह किसी भी परिस्थिति में किसी भी अन्य के समक्ष मुँह से नहीं निकल सकता। परन्तु यदि छिपकर उसे सुन लिया जाय तो वह कर ही क्या सकता है? आपके जीवन रूपी उपवन को अब निराशा का दावानल कभी मरुस्थल न बना सकेगा, आपके जीवन रूपी भवन की चित्रकारी अब निराशा पोंछकर कभी न मिटा सकेगी। आपने मुझे सिद्ध कर दिया, देवि, कि इहलोक और परलोक दोनों का सर्वश्रेष्ठ उपभोग ही सच्चा जीवन है। **(आसन्दी से उठ जीवा के पैर पकड़कर)** आपने मुझे

परास्त कर दिया, देवि! प्रेम की वैराग्य पर विजय हो गयी।

जीवा : **(जो कुमारायन के पैर पकड़ते ही चौंककर खड़ी हो गयी थी और जिसने अपने पैर प्रयत्न कर छुड़ा लिये थे)** यह... यह आप क्या करते हैं, आर्य ?...तो मैं सचमुच...सचमुच ही भाग्यशालिनी, परम सौभाग्यशालिनी हूँ!

[दोनों अत्यन्त प्रेम भरी दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखते रहते हैं, मानो एक दूसरे को नेत्र-मार्ग द्वारा अपने भीतर प्रविष्ट कर रहे हों। कुछ देर निस्तब्धता।]

जीवा : **(कुमारायन के दोनों हाथ पकड़कर शयन पर बिठाते हुए तथा स्वयं उसके निकट बैठते हुए)** और देखिए, आप यह तो नहीं मानते न कि आप पथभ्रष्ट होकर कोई अनुचित कार्य कर रहे हैं ?

कुमारायन : मेरा मन इस प्रकार का विचार अथवा निर्णय करने की अवस्था में ही नहीं है।

जीवा : पर मेरा मन है और इस संबंध में मैं आप से चर्चा करना चाहूँगी, क्योंकि मैं यह नहीं चाहती कि भावोद्वेग में आप कोई ऐसी बात कर बैठें जिससे आगे चलकर आपको कोई पश्चात्ताप हो तथा उसका कारण मैं बनूँ। मुझे यदि आशा की किरण के दर्शन हुए तो उससे मेरी दृष्टि चकाचौंध होकर इस प्रकार धूमिल तो नहीं होनी चाहिए जिससे मैं अन्धी के समान हो जाऊँ। ऐसे अवसरों पर तो शान्तिपूर्वक विचार करने की और अधिक आवश्यकता होती है। देखिए, आर्य, इस निसर्ग की सृष्टि को, थोड़ा व्यापक दृष्टि

से देखिए और फिर विचार कीजिए कि हमारा एक दूसरे के प्रति यह आकर्पण क्या किसी भी प्रकार अस्वाभाविक समझा जा सकता है ? आकर्पण और प्रत्याकर्पण ही इस सृष्टि का सर्वप्रधान नियम हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र सब एक दूसरे के आकर्पण और प्रत्याकर्पण में बँधे हुए हैं। हमारी इस पृथ्वी में जड़-चेतन सभी में हमें वही आकर्पण और प्रत्याकर्पण दिखायी देता है। यदि आकर्पण और प्रत्याकर्पण न हो तो यह सृष्टि ही समाप्त हो जाय। उत्पत्ति, विकास, क्षय और पुन: उत्पत्ति समस्त रचना का क्रम है। यदि उत्पत्ति ही नहीं तो विकास, क्षय और पुन: उत्पत्ति कहाँ? और उत्पत्ति आकर्पण और प्रत्याकर्पण का फल है। हमारी पृथ्वी की सर्वश्रेष्ठ रचना इस मानव में निसर्ग ने जो ज्ञान-शक्ति दी है, प्रेम उसकी सर्वोत्कृष्ट भावना है। प्रेम निर्गुण नहीं, वह सगुण है। और गुणों में आकांक्षाएँ तथा वासनाएँ दोनों ही रहती हैं। शरीर रहते उन्हें विनष्ट करने का प्रयत्न नैसर्गिक सीमाओं का उल्लङ्घन है। प्रेम क्षुधा की श्रेणी की एक अवस्था है। बिना क्षुधा के जिस प्रकार स्वस्थ शरीर का नाश हो जाता है उसी प्रकार बिना प्रेम के स्वस्थ मन का। प्रेम की तुष्टि के लिए भी उचित सीमा तक इन्द्रियों का अवलम्बन आवश्यक होता है और इन्द्रियों के अवलंबन के पूर्ण अभाव में तो किसी भी ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। उद्भिज सृष्टि और प्राणि जगत् दोनों में आत्म-रक्षण और वंश-वर्धन की प्रेरणा नैसर्गिक है।

वंशवर्धन भी यथार्थ में आत्म-रक्षण ही है। इन्द्रियों का संयम, निग्रह आदि बलात्कार वाले शब्दों के स्थान पर इन्द्रियों का संयोजन शब्द का उपयोग उचित जान पड़ता है। इसीलिए आपकी भारतीय संस्कृति में पत्नीत्व और मातृत्व का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। मातृत्व का जो सर्वोच्च पद माना जाता है वह क्या पत्नीत्व के बिना संभव है ? तब...तब हमारे प्रेम का हम दोनों के लिए कौनसा स्थान है इस पर आप स्वयं विचार कर सकते हैं। संसार में सबसे अधिक कष्टप्रद स्थिति सच्चे साथी का अभाव है और पति-पत्नी से अधिक सच्चा साथ किसका हो सकता है ?

कुमारायन : आपका यह तर्क तो अकाट्य है, पर फिर, देवि, संन्यास का कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

जीवा : अवश्य रहता है।

कुमारायन : कैसे?

जीवा : मैंने अभी निवेदन किया उत्पत्ति, विकास, क्षय और पुनः उत्पत्ति इस सृष्टि का स्वाभाविक नियम है। जब क्षय का समय आता है तब संन्यास को स्थान मिलता है, विकास के पूर्व नहीं ? मैंने उस दिन भी कहा था, मैं भारतीय संस्कृति की आश्रम-व्यवस्था को ठीक व्यवस्था मानती हूँ।

कुमारायन : पर, ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् भी संन्यास आश्रम में जाने वाले क्या भारत में नहीं हुए ?

जीवा : जिस प्रकार हर एक अपवाद अस्वाभाविक होता है उसी प्रकार ऐसे व्यक्ति भी। आप यदि इनके जीवन का

अध्ययन करेंगे तो अधिकांश में आपको अनेक प्रकार की अस्वाभाविकताएँ दृष्टिगोचर होंगी। यदि नीति और विवेक दो कगारों के बीच जीवन-सरिता को स्वाभाविक रूप में बहने दिया जाय तो...तो बाँध टूटकर जो प्रलयंकर दृश्य उपस्थित होता है, न वह होगा और न मलिनता आयेगी। मानव केवल सामाजिक जीव ही नहीं वह गार्हस्थ्य जीव भी है। बिना पुरुष के संपर्क के न स्त्री सच्ची स्त्री हो सकती है और न स्त्री के संपर्क के बिना पुरुष सच्चा पुरुष। यदि ऐसा न होता तो प्रकृति स्त्री और पुरुष दोनों बनाती ही क्यों? बिना इस संपर्क के तो जीवन रूपी आकाश में स्त्री-पुरुष एकाकी और निराश्रित मेघ-खण्डों के सदृश भटकते रहते।

कुमारायन : (मुस्कराकर) कई ऐसे प्राणी भी हैं, जो द्विलिंग होते हैं।

जीवा : (मुस्कराते हुए) वे प्राणी जगत् की आरंभिक अवस्था के द्योतक हैं। प्राणी जगत् की उन्नत अवस्था पृथक्-पृथक् लिंग वाले प्राणियों से आरंभ हुई और अंत में सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी हुए स्त्री और पुरुष। फिर अनेक पुरुषों और स्त्रियों की आत्मा, या उसे जो कुछ भी आपको कहना हो कहिए, उनके शरीर के लिए बहुत बड़ी होती है, जैसे आपकी।

कुमारायन : ऐसा!

जीवा : जी हाँ; और ऐसी आत्मा अनेक भावनाओं के कारण जब और अधिक फूलती है, बढ़ती है, तब उसे ऐसे साथी

की आवश्यकता होती है जो **(मुस्कराते हुए)** कोमल हो, मधुर हो, और जिसमें अत्यधिक सहानुभूति हो। ऐसे ही साथी मिलने पर उस महान् आत्मा को वैसा आश्रय मिल सकता है, जिससे आत्मा के फुलाव और बढ़ाव से शरीर फट न पड़े।

कुमारायन : (मुस्कराते हुए) मैं यह तो नहीं जानता कि मेरी आत्मा ऐसी है, पर तुम से अधिक कोमल, मधुर और सहानुभूति वाला आश्रय मुझे मिलना संभव न था। फिर तुमने अपने में जिन गुणों का वर्णन किया उनमें मैं शिव और सुन्दर दो गुणों को और जोड़ देता हूँ।

जीवा : (मुस्कराते हुए) ऐसा !

कुमारायन : जी हाँ।

[**कुछ देर दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता।**]

कुमारायन : तो...तो अब तो हमारे इस नवीन संबंध में एक ही बाधा आ सकती है।

जीवा : कौनसी ?

कुमारायन : आपके माता-पिता की अस्वीकृति।

जीवा : (अपने दोनों कंधे हिलाकर मानो उन पर रखे हुए किसी बोझ से मुक्त हो गयी हो) अल्पायु वाले सत्यवान् से भी विवाह करने के लिए सावित्री को उसके माता-पिता न रोक सके तो मुझे कौन रोक सकता है, आर्य ? प्रेम के... सच्चे प्रेम के ढाई अक्षरों में जो बल, जो शान्ति है, वह

किसी में नहीं। (**कुछ रुककर**)हमारा आज का यह निर्णय एक बात का और प्रमाण है।

कुमारायन : किस बात का ?

जीवा : जिन बातों का हम पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है और जो बातें हमारे हृदय का ही एक भाग हो जाती हैं, उनके अनुसार अपने आप हमारा चिन्ता चलतन रहता है और उस संबंध में हम वही निर्णय करते हैं जो निर्णय करना चाहते हैं। भगवान् तथागत से इतनी ही प्रार्थना करती हूँ कि इस निर्णय के बाद स्वर्ग के देवता हमारी आत्माओं में निवास करें और पृथ्वी के देवता हमारे शरीरों में।

[**दोनों एक दूसरे की ओर अत्यन्त प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। कुछ देर फिर निस्तब्धता।**]

कुमारायन : (**कुछ देर पश्चात्**) कभी-कभी चुपचाप एक दूसरे को देखते रहना कदाचित् संभाषण से भी अधिक आनन्द-दायक होता है।

जीवा : इसीलिए कि हर प्रकार की पूजा के लिए अपने-अपने ढंग का मन्दिर होता है। (**कुछ रुककर**) अब एक ही निवेदन और है।

कुमारायन : कौनसा ?

जीवा : जलाने का काम केवल अग्नि ही नहीं करती, पर शीत भी करती है। प्रेम तो ऐसी वस्तु है, जिसे विप्रलंभ की विरह-वह्नि चाहे और अधिक प्रज्वलित कर सके पर ठण्डा मन उसे जला देता है। हमारे प्रेम-संबंध में यह शीत कभी

न आवे।

कुमारायन : इस शीत का आना असंभव है। हमारे प्रेम से प्लावित उष्ण हृदय एक दूसरे में संजीवनी शक्ति का संचार करते रहेंगे।

[अब जीवा एक गीत आरंभ करती है।]

गीत

सुभग कल्पना जगत् मुग्ध नयनों में।
नव विकास का हास खिला सुमनों में।
वासन्ती सौरभ कुसुमाकुल कुञ्जों में।
लघु नीड़ छिपा हो नव पल्लव पुञ्जों में।
युगल विहङ्गम सी प्राणों में ममता।
मिली न मानव जग में जिसकी समता।
गूँज उठे कलरव में एक कहानी।
चिर अभिन्न हों जीवन में युग प्राणी।

यवनिका

चौथा अंक

स्थान : कूची में कुमारायन और जीवा का कक्ष

समय : प्रातःकाल

[कक्ष लगभग उसी प्रकार का है जैसे कक्ष अब तक चले आते हैं। इस कक्ष में भी भगवान् बुद्ध की एक विशाल मूर्त्ति है। इस समय जीवा इस मूर्त्ति की पूजा कर एक गीत गा रही है। जीवा का उदर भारी है, अतः जान पड़ता है वह गर्भवती है।]

गीत

हे चिर नूतन ! हे छबि धाम !
क्षण-भंगुर जगती में केवल तुम ही हो अभिराम।
पुरातन अचल शिला का भार
दवाता प्राणों का मधु-ज्वार;
शान्ति, मौन, संयम की शाला करती तन निष्काम।
मानवोचित दाक्षिण्य अपार
दयामय, तव शिक्षा का सार;
निठुर क्रूरता मानव मन की, धो देता तव नाम।
विगत संसृति के स्वप्न विकार,
विगत भय, रोग, भोग उद्गार,
कृपा-करुण दृग कोर, नियति की, हरती, द्रुत गति वाम।

[गीत पूर्ण होते-होते प्रतिमा का पूजन भी पूरा होता है।]

जीवा : तथागत, आपने...आपने मेरी अब तक कितनी...कितनी इच्छाएँ, अभिलाषाएँ, आकांक्षाएँ पूर्ण कीं। उच्च-कोटि की शिक्षा प्राप्त करना चाहती थी, वह ... वह प्राप्त हुई। जिसके प्रति आकर्षित हुई वह...वह उस आकर्षण का उप-युक्त...उपयुक्त पात्र था; और ... और कितना कठिन था उसका...उसका प्राप्त होना, पर...पर वह...वह भी प्राप्त हुआ और...और कैसा ... कैसा बीत रहा है यह वैवाहिक जीवन। सचमुच योग्य पुरुष के बिना नारी का जीवन क्या है ? और...और उसी प्रकार पुरुष का जीवन भी नारी के बिना क्या ? इसीलिए...इसीलिए तो प्रभात से निशा तक और...और निशा से प्रभात तक न मुझे अब ... अब उनके अतिरिक्त किसी की आवश्यकता है और ... और न उन्हें मेरे अति रिक्त किसी की। इस ... इस विवाह के पूर्व हम दोनों अधूरे थे। पर...पर अब हो गये हैं पूर्ण। इसीलिए... इसीलिए तो, देव, निसर्ग ने पुरुष और नारी द्वैत का निर्माण किया है। दो अधूरे मिलकर एक...एक पूर्ण होता है। कैसा ...कैसा प्रेम...अगाध प्रेम है हम दोनों का। न...न मैं उन्हें निरखते-निरखते अघाती और...और न...न वे मुझे। ... फिर हमारी बातें... बातें भी कभी समाप्त नहीं होतीं। ... कदाचित्...कदाचित् दो...दो सच्चे स्नेहियों के सम्भाषण के सदृश खुले हृदय का वार्त्तालाप सम्भव ही नहीं है। ... एक दूसरे में अपने को विलीन किये बिना कोई सच्चे प्रेमी हो नहीं सकते। और...और ऐसे स्नेहियों का सम्भाषण

जहाँ एक दूसरे के लिए चलता है, वहाँ...वहाँ अपने आपके लिए भी। ...फिर...फिर मुझे तो इस सम्भाषण में त्रिविध समीर का सुख मिलता है। जिस प्रकार वह समीर मन्द-मन्द चलता है...उस...उस प्रकार यह सम्भाषण भी। ...जिस... जिस प्रकार उस ... उस समीर से शीतलता प्राप्त होती है, उसी... उसी प्रकार इस सम्भाषण से। और ... और जिस प्रकार उस समीर में सुगन्ध रहती है उसी प्रकार इस...इस सम्भाषण में स्नेह की सुवास। फिर...फिर हमारा सम्भाषण केवल वाणी द्वारा ही नहीं चलता अनेक ... अनेक बार वह मूक भाषा में चलता रहता है। ...तथागत, प्रेम-पथ...प्रेम-पथ ही कदाचित् ऐसा पथ है जिसके पथिक अपने पथ पर उसे सदा नवीन समझते हुए चल...चल सकते हैं। ... एक ही...एक ही बात को बिना ... बिना उसकी नवीनता नष्ट किए बार-बार कह सकते हैं। एक ही ... एक ही कृति को बिना...बिना ऊबे निरन्तर...निरन्तर कर सकते हैं। हमारे इस...इस प्रणय का... प्रादुर्भाव...प्रादुर्भाव हुआ था एक... एक दूसरे के दर्शन से। हमने...हमने सर्वप्रथम...सर्वप्रथम देखा था एक दूसरे के स्वरूप को। ... मन का मिलन इस ...इस आकर्षण के पश्चात् का सोपान था। ...एक दूसरे के तनों पर एक दूसरे का अधिकार हुआ, परिणय के पश्चात्। परन्तु ... परन्तु इस अधिकार के पश्चात् जान पड़ा कि यह आत्मा...आत्मा को समीप लाने का एक...एक साधन मात्र है। ...प्रेम और वासना का सबसे बड़ा...सबसे बड़ा अन्तर

कदाचित् यही...यही है । ... देहधारियों के लिए देह...देह को पृथक् रख स्नेह की उत्पत्ति और उत्पत्ति के पश्चात् उसका पोष तथा सन्तोष कदाचित् सम्भव नहीं है ।...परन्तु...परन्तु, जहाँ स्नेह में शरीर साधन रहता है वहाँ वासना में वह साधन और साध्य दोनों ही हो जाता है । ... और ... और दिनों दिन किस...किस प्रकार बढ़ रहा है यह...यह प्रणय । और ... और इस प्रेम से कैसे .. कैसे अद्भुत विश्वास की उत्पत्ति हुई है । फिर ... फिर इस विश्वास ने किस...किस प्रकार कर दिया है और अधिक प्रेम को । ... प्रेम और विश्वास...विश्वास और प्रेम दोनों का कैसा अन्योन्य संबंध है । जितना...जितना यह बढ़ता जाता है, उतना ही गहरा भी हो जाता है । इस...इस प्रेम की उपमा कदाचित् ... कदाचित् उस...उस पौधे से दी जा सकती है जो जिस परिमाण में पृथ्वी के ऊपर अपनी शाखाएँ बढ़ाता है उसी ... उसी प्रकार पृथ्वी के भीतर अपनी जड़ें ।... फिर ... फिर यह प्रेम मानवों ... मानवों में ही हो सकता है, अन्य ... अन्य जीवों में नहीं । अन्य जीवों का जीवन अन्तर्प्रवृत्ति के अनुसार चलता है; मानवों का उनकी ... उनकी मेधा के अनुसार । प्रेम मस्तिष्क की वस्तु न हो हृदय की वस्तु है, पर उसी के साथ केवल अन्तर्प्रवृत्ति नहीं, उससे परे...कहीं परे । यह... यह यथार्थ में पवित्र है । ...काम चेतना ... काम चेतना तो उसके साथ इसलिए ... इसलिए आ जाती है कि ... कि मानवों के भी शरीर तो है ही ।...इसी...इसीलिए तो पत्नीत्व

का इतना...इतना महत्त्व है। इसी...इसी पत्नीत्व ने मुझे... मुझे, देव, पहुँचाया है जीवन ... जीवन रूपी शैल के उस ...उस उच्च और आलोकमय शिखर पर जहाँ मलीन मेघों की पहुँच...पहुँच नहीं रहती। और जहाँ हर साँस में पवित्र सुख की एक आलोकमय ज्योति निकलती है। और...और इस शिखर पर पहुँचने के पश्चात् हमारा ... हमारा सुख किसी ...किसी विशिष्ट वस्तु तक ही सीमित नहीं रहा है; वह...वह तो अब हमें हर विचार और हर कृति में मिलता है, उसका...उसका दायरा इतना...इतना विशाल हो गया है कि समस्त विश्व का उसमें समावेश...समावेश हो जाता है। कितना महान् है हमारे सुख का यह कोष! और फिर इस सारे कोष की कुञ्जी मेरे...मेरे पास। इस कोष में इतना सुख संचित है कि मैं उसे सारे संसार को बाँट सकती हूँ। **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा को देखने के पश्चात्)** देव, अब...अब मैं पत्नीत्व से...पत्नीत्व से मातृत्व ... मातृत्व के सोपान पर चढ़ रही हूँ। जब से ... जब से ज्ञात हुआ है कि इस प्रणय रूपी पुष्प का फल निकलने वाला है, मैं ... मैं नवीन...नवीन जीता-जागता निर्माण करने वाली हूँ, तब से...तब से तो एक नये सन्तोष...हाँ, सन्तोष का प्रादुर्भाव हुआ है। निर्माण से अधिक आनन्द देने वाली कदाचित् अन्य कोई ... कोई वस्तु नहीं। हर जीवित वस्तु किसी न किसी प्रकार का निर्माण करती ही है। उनसे अधिक कोई मन्दभागी नहीं जो अपनी निर्माण-शक्ति का अनुभव न करें।

फिर...फिर निर्मित की जाने वाली वस्तु यदि जीती-जागती हो तब तो ... तब तो पूछना ही क्या? जब से यह ज्ञात हुआ है कि मेरे द्वारा एक जीते-जागते प्राणी का निर्माण होने वाला है तब से...तब से तो मेरे...मेरे आनन्द का पारा-वार...पारावार नहीं रहा है। कितनी ... कितनी आकर्षित करती है आजकल मुझे शुक्ल पक्ष...शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन ...प्रतिदिन बढ़ने वाली चन्द्र की कलाएँ। कितने...कितने भले जान पड़ते हैं, मुझे आजकल उठते...उठते हुए बादल। कितने ... कितने सुन्दर दीखते हैं मुझे आजकल कुसुमित और फलित तरु। निसर्ग ... निसर्ग यथार्थ में माता है, इसी ...इसीलिए माँ का पद नारी-जीवन की चरम परिणति है। और ... और इसीलिए मानव-जीवन में मातृत्व का पद सर्वोच्च पद है। ... मैं कुछ ... कुछ उत्पन्न करने वाली हूँ, यह भावना ही जब...जब इतनी सुखद...इतनी सन्तोषप्रद है तब ... तब उस उत्पत्ति के पश्चात् उसके दर्शन उसके निर्माण के प्रयास कितने आनन्ददायक, कितने सन्तोषकारक होंगे ? **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्)** देव, उनकी और मेरी यह ... यह सन्तान तो हमारे... हमारे अनुरूप ही होनी चाहिए। ... हमारे जीवन रूपी मन्दिर के कलश...कलश के सदृश। ... उनका संकल्प था आपके द्वारा प्रतिदिन सद्धम्म की देश-देशान्तर में स्थापना। इसी... इसीलिए अपना ... अपना सारा राजसी वैभव त्याग वे भिक्षु हुए थे।...अपना घर-द्वार...हाँ, अपना

घर-द्वार छोड़ा था, अपना देश हाँ, वह पुण्यमयी भारत-भूमि छोड़ी थी। विवाह कर वे संकल्प-भ्रष्ट हुए हैं, यह...यह मैं ...मैं कदापि...कदापि मानने को प्रस्तुत नहीं...परिणय के पूर्व और परिणय के पश्चात् भी वही...वही संकल्प उनके दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न रहता है। हमारी... हमारी यह सन्तान उस ... उस संकल्प को और अधिक साकार...और अधिक स्थायी रूप दे... यही...यही आप से प्रार्थना है। ... उसके द्वारा सारे संसार में सद्धम्म की दुन्दुभी निनादित हो उठे यही...यही मेरी अब एक ... एक मात्र अभिलाषा और आकांक्षा है।...जिस प्रकार, तथागत, आपने अब तक मेरी... मेरी सारी इच्छाएँ पूर्ण कीं क्या ... क्या उसी प्रकार...उसी प्रकार यह इच्छा भी पूर्ण न होगी?

[कुमारायन का प्रवेश। अब वह भिक्षु वेष में नहीं है। सिर के बाल बढ़ गये हैं। पीत-चीवर के स्थान पर कौशेय-वस्त्र आगये हैं, आभूषण भी धारण हैं। वह वैसा ही दिखता है जैसा उपक्रम के समय था।]

कुमारायन : **(मुस्कराते हुए)** इस विश्व में दो प्रकार के मानव होते हैं, प्रिये, जानती हो? **(एक आसन्दी पर बैठता है।)**

जीवा : **(कुमारायन का शब्द सुन उसकी ओर बढ़ उसी के निकट की दूसरी आसन्दी पर बैठते हुए)** किस प्रकार के?

कुमारायन : **(उसी प्रकार मुस्कराते हुए)** एक भाग्यशाली और दूसरे अभागे।

जीवा : **(मुस्कराते हुए)** मैं प्रथम प्रकार के मानवों में हूँ। क्यों ?

कुमारायन : इसमें भी क्या कोई सन्देह है? जो चाहती हो, तत्काल होता है, असम्भव भी सम्भव होकर। भिक्षु को गृहस्थ बना डाला, यह भी ऐसे-वैसे पाखण्डी, प्रपञ्ची भिक्षु को नहीं, पर सच्चे भिक्षु को। फिर चाहा सन्तान हो उसमें भी विलम्ब न लगा।

जीवा : **(मुस्कराते हुए)** ईर्ष्या तो तुम्हें तब होनी चाहिए, प्रियतम, जब तुम मुझसे कम भाग्यशाली हो।

कुमारायन : **(कुछ विचारते हुए गंभीरता से)** तुम समझती हो मैं भी तुम्हारे सदृश भाग्यशाली हूँ?

जीवा : **(गंभीरता से)** क्यों, तुम्हें इसमें सन्देह है?

कुमारायन : **(उसी प्रकार गंभीरता से)** देखो, प्रिये, साधारण मानवों को यदि हम छोड़ दें और कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को लें तो इन विशिष्ट व्यक्तियों में किसी के जीवन का कोई उद्देश्य होता है और किसी के जीवन का कोई। अनेक बार ये उद्देश्य एक दूसरे के ठीक विपरीत होते हैं। दृष्टान्त के लिए एक चाहता है अखिल विश्व का साम्राज्य और दूसरा पैरों में लोटते हुए साम्राज्य से छुटकारा। अतः भाग्यशाली वह कहा या माना जा सकता है जिसकी अपनी चाह पूर्ण हो।

जीवा : तो तुम अपने को इसलिए भाग्यशाली नहीं मानते कि कूची आने के पश्चात् तुम्हें जो कुछ करना पड़ा वह तुम्हारी

इच्छा के प्रतिकूल था ?

कुमारायन : यहाँ मैंने जो कुछ किया वह मुझे करना नहीं पड़ा है, मैंने स्वयं किया है। परन्तु...परन्तु इतने पर भी (**चुप हो जाता है।**)

जीवा : (**कुमारायन की ओर देखते हुए**) चुप क्यों हो गये; आगे बढ़ो।

कुमारायन : (**जीवा की ओर प्रेम भरी चितवन से**) देखो, प्रिये, एक बात के लिए मैं अपने को भाग्यशाली...परम सौभाग्यशाली मानता हूँ कि तुम्हारे सदृश मुझे पत्नी मिली। फिर इस परिणय के पश्चात् जो प्रेम मैंने पाया, इस विश्व में वह विरल व्यक्ति को ही मिलता है। परन्तु मैंने अपने जीवन को जिस पथ पर चलाना चाहा था उससे मेरा वर्त्तमान जीवन ठीक विपरीत है, इसे तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और...और जीवन को जिस पथ पर मैंने चलाना चाहा था वह पथ ठीक नहीं था, यह मेरा मन अब तक भी स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं है।

जीवा : जिस दिन रात्रि को अचानक आकर तुमने मेरी बातें सुनी थीं उस दिन और फिर जिस दिन मैंने प्रयत्न कर तुम्हारी भावनाओं को जानना चाहा था, उस दिन मैंने तुम से एक बात कही थी, वह तुम्हें स्मरण है ?

कुमारायन : कौनसी ?

जीवा : मैंने तुम से कहा था कि मैं भारत के वैदिक धर्म की आश्रम-व्यवस्था को मानने वाली हूँ। जीवन में गृहस्थ-

आश्रम और संन्यास आश्रम दोनों का स्थान है। हम दोनों जब एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए तब मैं कुमारी थी और तुम भी कुमार। अन्तर इतना ही था कि मैं भिक्षुणी नहीं हुई थी तुम भिक्षु हो गये थे। मैंने तुम से एक बात और भी कही थी।

कुमारायन : कौनसी ?

जीवा : आकर्षण और प्रत्याकर्षण निसर्ग का एक स्वाभाविक नियम है। तुम भिक्षु तो हो गये, परन्तु उस समय भिक्षु होना तुम्हारे लिए एक अस्वाभाविक बात थी। अतः तुमने अपने पर ही जो बलात्कार किया था उसका तुम्हीं को परिमार्जन करना पड़ा।

कुमारायन : हाँ, मैंने स्वयं कहा भी कि कूची आकर जो कुछ मैंने किया वह मुझे करना नहीं पड़ा है, मैंने स्वयं किया है।

जीवा : पर मैं यह जानती हूँ कि जो कुछ तुमने किया उसकी कसक सदा तुम्हारे मन में रही है और वह कसक तुम्हें समय-समय पर व्यथित करती रही है।

कुमारायन : **(दीर्घ निःश्वास छोड़कर)** क्या कहूँ ?

जीवा : तुम्हारी यह कसक भी मैं समय पर मिटाने वाली हूँ।

कुमारायन : **(प्रसन्नता से)** कैसे ?

[**प्रतिहारी का प्रवेश।**]

प्रतीहारी : **(अभिवादन कर कुमारायन से)** आर्य, भारत से आपके माता-पिता का रथ समय के पूर्व ही पहुँच गया। स्वागतार्थ नगर-सीमा पर महाराज आपको लेकर पधारने

वाले थे पर अब तो वे स्वयं ही सीधे यहीं पधार रहे हैं।

कुमारायन : (शीघ्रता से जीवा से) चलो, कम से कम कक्ष के बाहर तक चलकर तो हम उनका स्वागत कर लें।

[तीनों का शीघ्रता से प्रस्थान। सुगतभद्र और उत्पलवर्णा तथा मैत्रेयनाथ और भद्रांगी के सहित कुमारायन और जीवा का पुनः प्रवेश। सुगतभद्र और उत्पलवर्णा के शरीर पर आज कोई आभूषण नहीं है, वे श्वेत वस्त्र धारण किये हुए हैं। मैत्रेय-नाथ अधेड़ अवस्था का गेहुँए रंग का ऊँचा-पूरा दोहरे शरीर का व्यक्ति है। कौशेय के वस्त्र पहने हुए है। स्वर्ण के रत्नजटित आभूषण भी धारण हैं। भद्रांगी की अवस्था मैत्रेयनाथ से थोड़ी कम है। उसका वर्ण गौर है। प्रौढ़ावस्था में भी वह सुन्दर दिख पड़ती है। वह कौशेय की साड़ी पहने है और कौशेय का ही एक वस्त्र वक्षःस्थल पर बाँधे है। इन वस्त्रों पर सुनहरी काम है। उसके अंगों पर भी सुवर्ण के रत्नजटित आभूषण हैं।]

कुमारायन : (अपने पिता से) आप...आप कैसे हो गए, तात ! और (माता की ओर देख)...और आप भी कैसी हो गयीं माता जी; फिर आपका यह वेश !

सुगतभद्र : तुम्हारे वियोग में तुम हम लोगों के लिए क्या और कोई आशा करते थे? और अपनी माता के वेश के संबंध में तुमने खूब ही पूछा ! जिस दिन तुमने भिक्षु होकर बिदा ली उसी दिन से तुम्हारी माता भिक्षुणी होने के सिवा भिक्षुणी के सारे धर्मों का पालन कर रही हैं।

भद्रांगी : माता से और क्या करने की आशा की जा सकती है ?

मैत्रेयनाथ : अच्छा, अब सब सुख से बैठें और फिर वार्तालाप हो।

[सब लोग आसन्दियों पर बैठ जाते हैं।]

सुगतभद्र : (भद्रांगी से) महादेवी, आप ठीक कहती हैं। इकलौते पुत्र के भिक्षु होने के पश्चात् माता और क्या कर सकती थी? इन्होंने अपना वेष बदला यही नहीं, मुझे प्रेरित किया समस्त सम्पत्ति के दान करने के लिए और...और कुमारायन के जन्म के पश्चात् इन्होंने कुमारायन के उपयोग के लिए, इसके सुख के लिए, जिन अगणित वस्तुओं का संग्रह किया था वे भी बाँट दीं उपयुक्त पात्रों को।

कुमारायन : (आश्चर्य से) अच्छा!

उत्पलवर्णा : (कुमारायन से) तुमने 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ही तो 'बुद्धं शरणं गच्छामि', 'धम्मं शरणं गच्छामि', 'संघं शरणं गच्छामि' का पाठ कर संन्यास लिया था। मेरे इकलौते पुत्र के भिक्षु होने के पश्चात् उस सब सम्पत्ति, उस सब संग्रह का भी 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ही समर्पण स्वाभाविक नहीं था?

सुगतभद्र : (मैत्रेयनाथ से) इसीलिए, महाराज, जब आपने कुमारायन के विवाह का संवाद भेजा, तब हम यहाँ आ न सके, क्योंकि हमारे पास ऐसी कोई वस्तु बची ही न थी जिसे हम अपनी राजपुत्री पुत्रवधू के लिए उपहार में लाते।

भद्रांगी : (अश्रुपूरित नेत्रों से) ओह! ...ओह!

उत्पलवर्णा : और विवाह के पश्चात् भी हम अपने इस पुत्र को पुत्रवधू के साथ बुला न सके, क्योंकि हम अपना निवास-

स्थान भी दे चुके थे और जिन कुटियों में हम रहते हैं वह न राजा के जामात्र के योग्य हैं और न राजपुत्री पुत्रवधू के योग्य।

मैत्रेयनाथ : त्याग की यह पराकाष्ठा है।

सुगतभद्र : **(जीवा के पिता से)** पर...पर एक बात जानते हैं, महाराज, ?

मैत्रेयनाथ : कौनसी ?

सुगतभद्र : यह त्याग विराग के कारण नहीं हुआ।

मैत्रेयनाथ : तब ?

सुगतभद्र : पुत्र के राग के कारण।

भद्रांगी : इसे महाराज कदाचित् पूर्ण रीति से न समझ सकेंगे; मैं समझती हूँ।

उत्पलवर्णा : हाँ, माता का हृदय वही समझ सकता है जो स्वयं माता है।

सुगतभद्र : इसीलिए, जब संवाद आया कुमारायन के विवाह का, उसके भिक्षु से पुनः गृहस्थ होने का, आनन्द के अतिरेक में जो दशा कुमारायन की माता की हुई वह वर्णनातीत है।

कुमारायन : माता न होते हुए भी मैं उस दशा का अनुमान कर सकता हूँ।

सुगतभद्र : और... और, महाराज, जब आपने यह संवाद भेजा कि आपके दौहित्र होने की भी तैयारी है तब ... तब तो कुमारायन की माता कूची आने से अपने को रोक न सकीं।

उत्पलवर्णा : हम अकिञ्चन आपके जामात्र और आपकी पुत्री

को बुला तो न सकते थे पर यहाँ आ तो सकते ही थे ।

जीवा : **(उत्पलवर्णा से)** माता जी, आप और **(सुगतभद्र की ओर संकेत कर)** पिता जी, बार-बार यह क्या कह रहे हैं ! यथार्थ में मेरा घर तो अब यह राजप्रासाद नहीं, भारत देश में वह कुटी ही है जहाँ आपका निवास है ।

कुमारायन : निस्सन्देह; और...और मुझे तो उस कुटी के निवास में आपके पुराने प्रासाद की अपेक्षा कहीं...कहीं अधिक सुख और आनन्द का अनुभव होगा ।

[**कुछ देर निस्तब्धता ।**]

उत्पलवर्णा : **(भद्रांगी से)** महादेवी, आपने और **(मैत्रेयनाथ को संकेत कर)** महाराज ने हम पर जो उपकार किया है, उस उपकार के ऋण से क्या हम कभी उऋण हो सकते हैं ?

मैत्रेयनाथ : तब तो मैं एक दूसरी बात कहूँगा ; आपने अपने पुत्र को पहचाना ही नहीं ।

भद्रांगी : हाँ, कदाचित्, हमने अपने जामात्र को अधिक जाना है ।

[**एक विनोदपूर्ण अट्टहास ।**]

मैत्रेयनाथ : हमें क्या कभी कुमारायन से अच्छा जामात्र मिलना संभव था ?

भद्रांगी : **(उत्पलवर्णा से)** कुमारायन आपके इकलौते पुत्र हैं, जीवा हमारी इकलौती कन्या । अतः जितनी आपको कुमारायन की चिन्ता थी हमें जीवा की उससे कम नहीं । जीवा को क्या इनसे अच्छा पति प्राप्त हो सकता था ?

[जीवा कनखियों से कुमारायन को देखती है। कुमारायन सिर झुका लेता है।]

मैत्रेयनाथ : और आज के इस आनन्द के अवसर पर एक गुप्त भेद और बताऊँ ? जीवा के लिए हम योग्य वर ढूंढ रहे थे। जब कुमारायन कूची में आये और इनकी विद्वत्ता के कारण इनकी यश-पताका कूची राज्य की राज्य-पताका से भी कहीं ऊँची फहरायी, इनके राजगुरु-पद पर प्रतिष्ठित होते ही मेरे मन में उठा कि कुमारायन कहीं मेरे जामात्र हो सकते ?

भद्रांगी : हाँ, इन्होंने मुझ से यह कहा भी। पर मैं तो इनकी कल्पना पर हँस पड़ी; भिक्षु-जामात्र !

[फिर एक विनोदपूर्ण अट्टहास।]

भद्रांगी : आज हम से अधिक कौन सुखी है ? कहा जाता है न, कन्या से अधिक जामात्र प्रिय होता है। मैं तो अब इस सत्य को अनुभव कर रही हूँ।

उत्पलवर्णा : और...और मुझे...मुझे तो यह भी नहीं भासता कि हमारा यह सुख किसी प्रकार भी 'बहुजन हिताय; बहुजन सुखाय' के विरुद्ध जाता है।

[नेपथ्य में एक गान होता है। सब का ध्यान उस ओर आकर्षित होता है।]

गीत

पल रहा सुख आज मेरा विश्व के करुणा भवन में।
लोचनों में नीर के कण, उमड़ता आह्लाद मन में।

युग युगों की यवनिका को पार करती दृष्टि मेरी।
चेतना को घेर छायी निठुर जड़ता की अंधेरी।
अस्त्र हिंसा क्रूर-कर गत, उदर-रत उत्क्रुद्ध पशु-सम
विषय कानन में भटकता, मनुज, जीवन, घोर निर्मम।
हे महामानव ! निबल का सुन विकल आह्वान तुमने
सुप्त मानवता जगायी, दे दया का दान तुमने।
शान्त लोचन-युग्म से, झरती सतत कारुण्य धारा।
गगन सा सीमा रहित, औदार्य-मय अन्तर तुम्हारा।
तप्त जगती के असंख्यक मानवों के प्राण हो तुम।
भव-उदधि में मग्न होती भावना के त्राण हो तुम।

यवनिका

पाँचवाँ अंक

स्थान : भारत में सुगतभद्र की कुटी

समय : उष:काल

[कुटी के तीन ओर की भित्तियाँ दिखायी देती हैं। ये भित्तियाँ कच्ची मिट्टी की हैं, यह इनके देखने से ज्ञात हो जाता है। दोनों ओर की भित्तियों में दो द्वार हैं। द्वारों की चौखटें बाँस की हैं और उनमें टट्टे के कपाट हैं। भित्तियों पर कुछ रंगीन चित्रकारी है। कुटी की छावनी फूस की है और कुटी की भूमि पर चटाई बिछी है। एक ओर भगवान् बुद्ध की मूर्त्ति है। मूर्त्ति के सामने एक काष्ठ के पटे पर पूजा की सामग्री रखी है। कुमारायन और जीवा के पुत्र कुमारजीव की आज दसवीं वर्ष-गाँठ है। अतः सारी कुटी कदली-वृक्षों, पत्र-पुष्पों की बन्दनवारों आदि से सजायी गयी है। कुटी का सारा दृश्य अत्यन्त स्वच्छ और सुन्दर है। जीवा कुमारजीव से बुद्ध प्रतिमा की आरती करा रही है। आरती के साथ वह गाती भी जाती है और उसके गीत की एक-एक पंक्ति कुमारजीव दुहराता जाता है। कुमार-जीव गौर वर्ण का सुन्दर बालक है। कौशेय के वस्त्र पहने है। परन्तु न उसके शरीर पर कोई भूषण है और न जीवा के।]

गीत

सघन ध्वान्त, पथिक क्लान्त

पथ में अलसाया।

रुद्ध ज्ञान, वृद्धि ग्लान
भान भी भुलाया।
संसृति का श्रम अनन्त मोह भ्रान्ति लाया।
विगत शाप, विगत ताप,
निर्मल मन काया।
'बहु हिताय, बहु सुखाय'
त्यक्त विश्व-माया।
धन्य धरा चरण परस अमित श्रेय पाया।
मनुज अज्ञ, चिर कृतज्ञ,
विनत शरण आया।
दंभ द्वेष, कर अशेष
शान्ति में समाया।
हे महान्! करो दान, करुणा की छाया।

जीवा : **(गीत पूर्ण होने पर)** बेटा कुमारजीव, आज तुम्हारी दसवीं वर्षगाँठ है। उषःकाल के इस शुभ मुहूर्त्त में स्नानादि से निवृत्त हो भगवान् बुद्ध का पूजन ही तुम्हारा आज का प्रथम कार्य था।

कुमारजीव : वह पूजन आपने विधिवत् करा दिया, माताजी।

जीवा : नो वर्ष की आयु में ही, तुमने ऐसा ज्ञान प्राप्त किया है जो वयस्क होने पर भी विरलों को प्राप्त होता है।

कुमारजीव : इसका श्रेय तो मुझे न होकर आपको और पिताजी को ही है। आप अनेक बार कहती ही हैं कि मुझे तो गर्भावस्था से ही आपने पंडित बनाने का प्रयत्न किया है।

जीवा : परन्तु, प्रकृति ने यदि तुम्हें प्रचक्षण बुद्धि न दी होती तो तुम्हारे पिता का और मेरा यह प्रयत्न कभी सफल होना संभव था ? अभी तुम्हारी उच्च शिक्षा शेष है, परन्तु अब तुम बहुत कुछ जानने-समझने लगे हो। अपनी दसवीं वर्ष-गाँठ के इस शुभ अवसर पर प्रार्थना करो, भगवान् तथा-गत से जो कुछ भी होना चाहते हो उसके लिए।

[**कुमारजीव बौद्धप्रतिमा की ओर ध्यान लगाकर देखते हुए हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है।**]

कुमारजीव : भगवन् ! मेरी माता ने गर्भावस्था से ले आज पर्यन्त और मेरे पिता ने जब से मुझे सुधि हुई तब से लेकर अब तक मुझे जो ज्ञान और शिक्षा दी है, उसका उपयोग मैं 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' करूं। जीवन के इस पथ पर निर्भीक हो साहस के साथ अपना सर्वस्व त्याग कर चलूँ, शिक्षा पूर्ण होते ही मैं भिक्षु बनूँ...

जीवा : (**घबराकर बीच ही में रोक**) क्या-क्या प्रार्थना कर रहा है, बेटा ! शिक्षा पूर्ण होते ही बिना गृहस्थ हुए भिक्षु !

कुमारजीव : (**बौद्ध प्रतिमा की ओर से दृष्टि हटा जीवा की ओर देख**) माता जी, यह प्रार्थना के बीच में आपने कैसा विघ्न कर दिया ?

जीवा : पर, बेटा, जन्म-दिन के इस शुभ अवसर पर तू अनुचित वर माँग रहा था; फिर आज तेरी साधारण वर्षगाँठ नहीं है। दसवें वर्ष से पौगण्ड अवस्था का प्रारम्भ होता है जिस अवस्था से बालक का वयस्क होना आरम्भ होता है। उस

...उस जन्म दिन पर...यह वर !

कुमारजीव : परन्तु, माता जी; मैं प्रार्थना सोच-सोच कर नहीं कर रहा था, वह तो आत्मा की प्रेरणा थी जो अपने आप मेरे मुख से निकल रही थी। आपने अभी कहा था न, नौ वर्ष की अवस्था में मुझे ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ है जो विरलों को ही प्राप्त होता है। आप यह भी कहा करती हैं, मानव विकास करते-करते अनेक जन्मोपरान्त सच्चा मानव बन पाता है। आपने आज्ञा दी मैं भगवान् तथागत से प्रार्थना करूँ अपनी इस दसवीं वर्षगाँठ पर जो कुछ मैं होना चाहता हूँ, उसके लिए। और जब मैं प्रार्थना करने लगा तब आपने मुझे बीच ही में रोक दिया।

[**कुमारायन का प्रवेश। वह भिक्षु वेश में तो नहीं है, परन्तु उसके शरीर पर भी कोई आभूषण नहीं है।**]

जीवा : (कुमारायन को देख कुमारजीव से) लो, बेटा, तुम्हारे पिता आगये। दसवीं वर्षगाँठ पर उन्हें भी प्रणाम करो।

[**कुमारजीव आगे बढ़ कुमारायन के पैरों में सिर रखता है।**]

कुमारायन : (कुमारजीव के सिर पर हाथ रखते हुए) चिरजीवी हो वत्स! *'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'* संसार में तुम्हारे द्वारा सद्धम्म की दुन्दुभी बजे।

जीवा : परन्तु, शिक्षा पूर्ण होने पर प्रथम गृहस्थ हो, अपनी परम्परा प्रतिष्ठित रखने के लिए सन्तानोत्पत्ति कर उसे योग्य बनाने के उपरान्त भिक्षु होकर, शिक्षा पूर्ण कर विना गृहस्थ हुए तुरन्त भिक्षु होकर नहीं।

कुमारायन : (कुछ आश्चर्य से) यह कैसा विवाद है ?

जीवा : (एक आसन पर बैठते हुए) भगवान् तथागत के पूजन के पश्चात् मैंने इससे कहा—अपनी इस दसवीं वर्षगाँठ पर भगवान् बुद्ध से प्रार्थना करो जो कुछ होना चाहते हो उसके लिए। और इसने प्रार्थना की कि शिक्षा पूर्ण होते ही 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' तुरन्त भिक्षु होने की। यह, नाथ, कैसी अस्वाभाविक वायु चल रही है, सद्धम्म में इस समय ? सहस्रों की संख्या में बालक और युवक, बालिकाएँ और युवतियाँ भिक्षु-भिक्षुणी हो रही हैं। परन्तु निसर्ग के नियमों से तो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान पंच स्कंधों का यह शरीर अप्रभावित नहीं रह सकता। केवल आवेश में आकर जो बात की जाती है, उसमें स्थायित्व नहीं रह पाता। बालक-बालिकाओं, युवक-युवतियों के इस प्रकार भिक्षु-भिक्षुणी होने से सद्धम्म के विहारों, संघारामों में जो भ्रष्टाचार होने के समाचार सुनायी देने लगे हैं, उनसे उन भिक्षु-भिक्षुणियों के ही जीवन नष्ट नहीं हो रहे हैं पर 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ही भिक्षु-भिक्षुणी होकर जो अपना जीवन न्यौछावर कर रहे हैं, उनका उद्देश्य भी पूर्ण नहीं हो रहा है। मेरा निश्चित मत है कि यह अस्वाभाविक कार्य सद्धम्म के विकास और प्रचार में आगे चलकर सबसे बड़ी बाधा सिद्ध होगा। कुमारजीव के जीवन पर इसी वायुमण्डल का प्रभाव है। इसीलिए बिना समझे-बूझे यह भगवान् तथागत

से अपने भावी जीवन को एक अस्वाभाविक रीति से चलाने के लिए इस प्रकार की प्रार्थना कर रहा था।

कुमारायन : **(जो जीवा के आसन पर बैठते ही स्वयं भी एक दूसरी आसन्दी पर बैठ गया था और जिसने कुमारजीव को अपनी गोद में बिठा लिया था)** यह, जीवा, तुमने एक बालक के सामने बड़ा विवादग्रस्त विषय छेड़ दिया।

जीवा : मैं जानती हूँ। इस संबंध में तुम्हारा और मेरा मतैक्य नहीं है।

कुमारजीव : पाठशाला का समय हो रहा है, क्या मैं चलूँ?

जीवा : हाँ, आज जन्म-दिवस पर तुम्हें पाठशाला में समय के कुछ पूर्व पहुँच गुरु की पद-वन्दना भी करनी चाहिए।

[कुमारजीव का प्रस्थान। कुछ देर निस्तब्धता।]

कुमारायन : लगभग दस वर्ष हुए तुमने जो एक बात कही थी और जिसके स्पष्टीकरण की अनेक बार प्रार्थना करने पर भी अब तक उसका स्पष्टीकरण नहीं किया, कुमारजीव की इस दसवीं वर्षगाँठ के दिन क्या मैं उसके स्पष्टीकरण की आशा करूँ?

जीवा : **(मुस्कराकर)** वही तुम्हारी कसक को समय पर मिटाने वाली बात।

कुमारायन : हाँ, वही।

जीवा : **(कुछ विचारते हुए)** हाँ, मैं समझती हूँ अब उसके स्पष्टीकरण का समय आ गया है। **(कुछ रुककर)** प्रियतम, तुम जानते हो आश्रम-व्यवस्था में मेरी अकाट्य और अडिग

आस्था है। मैं संन्यास के विरुद्ध नहीं हूं, परन्तु समय पर ; और विरुद्ध नहीं इतना ही नहीं समय पर मैं उसे आवश्यक मानती हूं। तुम्हारी भारतीय संस्कृति में दो ही प्रकार की मृत्युएँ महान् मानी जाती हैं। एक युद्ध में योद्धा की आहुति और दूसरी उचित अवस्था में संन्यास ले लोक-कल्याण करते हुए संन्यासी की समाधि। मैं इससे सहमत हूं। भारत देश में बड़े-बड़े चक्रवर्ती नरेश भी जीवन के सन्ध्या-काल में राजपाट छोड़ वन-गमन करते थे। मृत्यु तक व्यक्ति आधिभौतिक वस्तुओं से चिपटा रहे इसे मैं नारकीय मानती हूं।

कुमारायन : मैं तुम्हारे मत से भली भाँति परिचित हूं।

जीवा : **(मुस्कराकर)** परन्तु, मेरे मत से सहमत नहीं।

कुमारायन : हाँ, तुम्हारे कुछ मतों से मैं सहमत तो नहीं हूं।

जीवा : पर, अब असहमति का समय निकल गया। जब सहमत नहीं थे, उस समय मेरे मत के अनुसार चले और अब तुम अपने मत के अनुसार चलो इस में मुझे कोई बाधा न होगी जिन्हें कदाचित् अभी भी बाधा होती वे तुम्हारे माता-पिता और मेरे भी माता-पिता अब संसार में नहीं रहे।

कुमारायन : **(प्रसन्नता से)** तो अब मुझे अपने पूर्व संकल्पित भिक्षु-पथ में प्रवृत्त होने की तुम सहर्ष अनुमति दोगी ?

जीवा : इतना ही नहीं, नाथ।

कुमारायन : तब ?

जीवा : मैं स्वयं भी उसी पथ की पथिक बनूंगी।

कुमारायन : (और भी प्रसन्नता से) अच्छा!

जीवा : मैं सद्धम्म के आर्यधर्म की भी उपासिका हूँ। सद्धम्म को मैं आर्यधर्म का ही एक रूप मानती हूँ। आर्यधर्म में जो दोष आ गये थे उनकी निवृत्ति के लिए भगवान् पुनः बुद्ध रूप में अवतीर्ण हुए और उन्होंने उन दोषों का निवारण किया।

कुमारायन : हाँ, यह तो सत्य है।

जीवा : आर्यधर्म में सब वर्णों को समान अधिकार नहीं था, स्त्रियों को समानाधिकार नहीं था, भगवान् बुद्ध ने वह दिया। आर्यधर्म में स्त्रियाँ संन्यासिनी नहीं हो सकती थीं; सद्धम्म में यदि पुरुष भिक्षु हो सकते हैं तो स्त्रियाँ समान रूप से भिक्षुणी। अब मैं भिक्षुणी-धर्म ग्रहण करूँगी।

कुमारायन : इसके लिए तुम अब परिपक्व समय मानती हो।

जीवा : हाँ, मैंने कई बार कहा, फिर कहती हूँ, अस्वाभाविक बात नहीं चलती। संन्यास भी समय पर स्वाभाविक हो सकता है। पत्नीत्व में मैंने अपूर्व प्रेम पाया; मातृत्व के उच्चतम सोपान पर मैं चढ़ी। सृष्टि की अबाधित गति चलती रहे इसलिए भारतीय संस्कृति का एक नियम है कि वह व्यक्ति मोक्ष तक का अधिकारी नहीं होता जो सन्तानोत्पत्ति कर पितृ ऋण से उऋण नहीं होता। हमारे साहचर्य से कुमारजीव के सदृश पुत्र की उत्पत्ति हुई। उसका ठीक प्रणाली से लालन-पालन हुआ, शिक्षा भी। उच्च शिक्षा शेष है, वह मैं उसे भिक्षुणी होकर कश्मीर में प्रसिद्ध विद्वान्

बन्धुदत्त से दिलाऊँगी। कश्मीर इस समय इस देश का मुख्य प्रमुख शिक्षा-केन्द्र है। और...और प्रयत्न करूँगी कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वह भी पहले गृहस्थ हो। तुम्हारे कार्यों की शृङ्खला कुमारजीव के कारण न टूट पायेगी। उसके कार्यों की शृङ्खला न टूटे इसके लिए उसे भी तो सन्तानोत्पत्ति आवश्यक है। इस प्रकार तुम अब अपने संकल्पित पथ पर चलने के लिए मुक्त होगे। और...और एक बात हृदय से निकाल दो, यह भी मैं कहना चाहती हूँ।

कुमारायन : कौनसी ?

जीवा : यह कि तुम पथभ्रष्ट हुए थे। देखो, प्रियतम, तप के पश्चात् भोग और भोग के पश्चात् तप के क्या भारतीय इतिहास में अनेक दृष्टांत नहीं हैं ? ब्रह्मचर्य के अनन्तर अनेक ऋषि-महर्षियों ने तप किया। तप के पश्चात् इनमें से भी अनेक ने विवाह किए। तुम्हारा भिक्षु होना मैं एक प्रकार का तप मानती हूँ। और इस तप के अनन्तर विवाह तथा सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् पुनः भिक्षु के निर्णय से मुझे उसी प्रकार के एक भारतीय प्राचीन युग्म का स्मरण हो आता है।

कुमारायन : किस युग्म का ?

जीवा : महर्षि कर्दम और देवहूति का। तप के पश्चात् कर्दम ने देवहूति से विवाह किया। एक विमान की रचना कर ऐसा विहार किया जैसा विरल व्यक्तियों ने ही कर पाया होगा। उनके साहचर्य से भगवान् ने कपिलदेव के रूप में अवतार ग्रहण किया और अपने पुत्र को शिक्षित करने के उपरान्त

महर्षि कर्दम पुनः तप करने चल दिये। उस युग्म और हमारे युग्म की कृति में एक ही अन्तर होगा।

कुमारायन : कौनसा ?

जीवा : आर्यधर्म में स्त्रियों को संन्यास का अधिकार न था। अतः माता देवहूति संन्यासिनी न हो सकीं। वे पुत्र पर आश्रित रहीं और उन्हें तारा कपिलदेव ने। सद्धम्म में स्त्रियों के वे ही अधिकार हैं जो पुरुषों के। अतः जो देव-हूति न कर सकीं वह मैं करूँगी। मैं भी भिक्षुणी होऊँगी। मैं कुमारजीव पर आश्रित रहने वाली नहीं। मैं आर्यधर्म की उस उक्ति को ही नहीं मानती जिसमें कहा गया है, नारी बाल्यावस्था में पिता, युवा अवस्था में पति और वृद्धा-वस्था में पुत्र पर आश्रित रहती है।

कुमारायन :(मुस्कराकर) हाँ, तुम पिता पर कब आश्रित रहीं ? जिससे चाहा विवाह किया और मैं तो तुम्हारे आश्रित रहा हूँ, भला तुम कभी पुत्र पर आश्रित रहने वाली हो !

जीवा : तुम मुझ पर आश्रित रहे ?

कुमारायन : इसमें कोई सन्देह है !

जीवा : नहीं; नहीं; यह मिथ्या बात है। यथार्थ में मैं तुम पर आश्रित रही हूँ और भिक्षुणी होने पर भी तुम्हीं पर आश्रित रहूँगी **(अश्रुपूरित नेत्रों से)** प्रियतम, जिस दिन, जिस घड़ी, जिस पल तुम्हारे दर्शन हुए, मेरा सारा जीवन तुम पर आश्रित हो गया। तुम्हारा स्नेह, तुम्हारा प्रेम, तुम्हारा प्रणय ही मेरे जीवन का संबल रहा है। मेरे जीवन के सारे

सुख और सारी स्फूर्त्ति के केन्द्र तुम्हीं रहे हो। और मेरे हृदय...हृदय ही नहीं आत्मा में तुम्हारा रूप प्रतिष्ठित है, वही...वही मेरे भावी जीवन का भी आश्रय रहेगा।

कुमारायन : **(आँखों में आँसू भरकर)** तुम...तुम, प्रिये, मुझे पत्नी के रूप में नहीं, अब तो...अब तो जान पड़ता है तुम मुझे मेरी सच्ची पथ-प्रदर्शिका, सच्ची गुरु के रूप में मिली हो। तुम्हारे...तुम्हारे सदृश पत्नी पाकर मेरा जीवन सफल...सफल हो गया...सार्थक हो गया। मैं धन्य...धन्य हूँ। मेरे सदृश इस विश्व में विरले ही धन्य होंगे।

[कुछ देर निस्तब्धता।]

कुमारायन : विदा की इस वेला में क्या कोई ऐसा गान न होगा जो हमारे भावी जीवन में हमें सदा स्फूर्त्ति देता रहे।

जीवा : अवश्य, अवश्य होगा। हम क्या रो-धोकर एक दूसरे से विदा लेंगे। **(गाती है।)**

गीत

लो विदा विगत के मधु सुन्दर !
उलटी गगरी की लघु बूँदें, बरसें नयनों से झर-झर।
हो निरभ्र ढलता दिनमान,
रवि, शशि दीपित गगन वितान,
नव प्रकाश कणिकागण पूरित भावी का उन्मुक्त विधान।
स्नेह-शोक-जय, राग द्वेष क्षय,
लोभ, मोह, मद विगत दंभ भय
मिल मानस की लहरों का अवसित हो चिरपतनोत्थान।

जीवा : (गीत पूर्ण होने पर) तुम्हारे सहवास में मैंने सच्चे जीवन का दर्शन किया है। सारे विश्व का किसी एक व्यक्ति में समावेश और फिर उसी व्यक्ति का सारे विश्व में दर्शन ही सच्चा जीवन-दर्शन है। अब हमारे जीवन का आदर्श हो— न उत्पाद है न उच्छेद, न निरोध है न शाश्वत, न एकार्थ है न नानार्थ, न आगम है न निर्गम।

कुमारायन और जीवा : (भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के सम्मुख जा एक साथ)

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।
बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

यवनिका

उपसंहार

स्थान : चीन की राजधानी में कुमारजीव के
सङ्घाराम का एक विशाल कक्ष

समय : सन्ध्या

[कक्ष के तीन ओर की भित्तियाँ दिखती हैं, जिन पर भगवान् बुद्ध की जीवन-घटनाओं के अनेक चित्र बने हैं, परन्तु इन चित्रों में बुद्ध के आनन के अवयव चीनियों के समान हैं। कक्ष की छत काष्ठ के स्तम्भों पर है और कक्ष की भूमि पर रंग-बिरंगी चीनी चटाई है। चटाई पर कुछ आसन रखे हुए हैं। कुमारजीव एक आसन पर बैठा हुआ ध्यानपूर्वक लिख रहा है। उसके चारों ओर अनेक पोथियाँ दिखायी देती हैं; कुछ बस्तों में बँधी हुई और कुछ खुली। उसकी अवस्था लगभग चालीस वर्ष की है। यद्यपि वह युवावस्था को पार कर चुका है तथापि देखने में युवावस्था के लक्षण अभी भी उसके मुख और शरीर पर से विलुप्त नहीं हुए हैं। उसका वर्ण गौर है और मुख तथा शरीर अत्यन्त सुन्दर। सिर घुटा हुआ है और वह शरीर पर भिक्षु के पीत-चीवर धारण किये हैं। जीवा का प्रवेश। अब वह वृद्ध हो गयी है और भिक्षुणी के वेष में है।]

जीवा : कुमारजीव, अब तो तुम महायान दर्शन के लगभग सौ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कर चुके होगे? (कुमार-

जीव के निकट बैठती है ।)

कुमारजीव : नहीं, माता जी, अभी सौ में थोड़ी कसर है ।

जीवा : तुम्हारे पिता भी चीन आ रहे हैं !

कुमारजीव : हाँ, माता जी, मैं आपको सूचना देने ही वाला था कि वे आज ही पहुँचने वाले हैं ।

जीवा : कितना...कितना हर्ष है मुझे सद्धम्म के संसार में और उसमें चीन के सदृश विशाल देश में तुम्हारा यह स्थान देख-कर । देश-देशान्तरों और इस विशाल भूमि के भिन्न-भिन्न भूखण्डों में कितना विशाल समुदाय है तुम्हारे शिष्यों का। कितने ... कितने जन आते हैं तुम्हारे इस संघाराम में और कैसी शान्ति पाते हैं यहाँ आकर । तुम्हारे पिता को कितना आत्म-संतोष होगा यह सब देखकर !

कुमारजीव : परन्तु, माता जी, इस सबका यथार्थ श्रेय किसे है ? आपने किस प्रकार मुझे शिक्षित कराया, कश्मीर तक ले जा कर मुझे शिक्षा दिलायी और भिक्षुणी होने पर भी जब तक मेरी शिक्षा पूर्ण न हो गयी तब तक एक प्रकार से मुझे अपने अंक में ही रखा । यदि आप यह सब न करतीं तो क्या मेरे द्वारा संसार में सद्धम्म की यह सेवा संभव थी ?

जीवा : मुझे इस बात का गर्व है, बेटा, कि तुम्हारे पिता को मैंने भिक्षु से गृहस्थ बना तुम्हारे सदृश संतान की उत्पत्ति करायी। मैं अभी भी यही मानती हूँ कि जीवन में सारे आश्रम समय-समय पर ही उपयुक्त होते हैं। इसलिए जानते हो एक कसक मेरे मन में अभी भी सदा बनी रहती है ।

कुमारजीव : (**मुस्कराकर**) कि पिताजी की सदृश मेरा विवाह न हुआ, मेरे द्वारा आप पिता जी को जो परम्परा प्रतिष्ठित रख सकीं वह आगे...आगे...

जीवा : हाँ, वह आगे विलुप्त हो जायगी।

कुमारजीव : परन्तु, माताजी; पिताजी को तो आप सदृश पत्नी प्राप्त हो गयी थीं। क्या सब इस प्रकार सौभाग्यशाली हो सकते हैं ?

[**फाहियान का प्रवेश। फाहियान एक सुन्दर तरुण चीनी भिक्षु है। वह अपने साथ यात्रा का कुछ सामान लिये हुए है।**]

कुमारजीव : (**फाहियान को देखकर**) अच्छा तुम तो भारत-यात्रा के लिए तैयार होकर आये हो।

फाहियान : हाँ, आर्य, आप कहा करते हैं न, 'शुभस्य शीघ्रम्'।

कुमारजीव : बड़े हर्ष, बड़े उत्साह से मैं तुम्हें भारत भेज रहा हूँ, फाहियान। चीनी और भारतीयों का यह आवागमन दोनों विशाल देशों के संबंध को दृढ़ से दृढ़तर करता जायगा।

फाहियान : हाँ, गुरुदेव, भारतीयों का तो चीन आना बहुत पहले आरम्भ हो गया या। अब चीन-निवासियों को भी उस पुण्यभूमि में अधिकाधिक जाना चाहिए जहाँ भगवान् ने बुद्ध शरीर धारण किया था।

कुमारजीव : वहाँ तुम सद्धम्म सम्बन्धी अध्ययन तो करोगे ही इसी के साथ वहाँ के जीवन का भी अध्ययन उसे भी समझना, क्योंकि बिना इसके एक देश; दूसरे के समीप नहीं आ सकता।

फाहियान : आपकी हर आज्ञा का पालन होगा !

जीवा : और, देखो, फाहियान, अपनी भारत-यात्रा का वृत्त ब्योरेवार लिखकर लाना।

फाहियान : अवश्य लाऊँगा, माताजी।

कुमारजीव : मेरी यही आकांक्षा है, कि तुम्हारे भारत से लौटने तक मैं जीवित रहूँ और तुम्हारी यात्रा का वृत्त पढ़ सकूँ।

फाहियान : यह आप क्या कहते हैं, आर्य, आपकी शत वर्ष की आयु हो, हम आपके शिष्य तो भगवान् तथागत से सदा यही प्रार्थना किया करते हैं।

[नेपथ्य में हर्षोल्लास का कोलाहल सुनायी देता है। कुमारजीव, जीवा और फाहियान का ध्यान उस ओर आकर्षित होता है।]

कुमारजीव : **(उठते हुए)** जान पड़ता है कि पिता जी आगये। उन्हीं के स्वागत का यह हर्षोल्लास हो रहा है।

जीवा : **(खड़े होते हुए)** कितने...कितने वर्षों के पश्चात् उनके दर्शन होंगे ?

[कुमारजीव, जीवा और फाहियान आगे बढ़ते हैं। कुमारायन का अनेक चीनी बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के साथ प्रवेश। कुमारायन अब वृद्ध हो गया है। वह भिक्षु वेष में है। जीवा को देख कुमारायन निमिष मात्र के लिए ठिठक-सा जाता है। कुमारायन को देख जीवा के नेत्रों में आँसू छलछला आते हैं।]

जीवा : **(आगे बढ़कर कुमारायन से)** देखते हैं आप यह कुमार-

जीव कितना बड़ा हो गया है !

[**कुमारजीव आगे बढ़ कुमारायन के चरण-स्पर्श करता है कुमारायन उसे हृदय से लगा लेता है ।**]

फाहियान : माताजी ने कहा कुमारजीव कितने बड़े हो गये हैं । मैं उस वाक्य में यह और जोड़ देता हूँ कि बड़े होने के साथ ही उन्होंने हमारे चीन देश में सद्धम्म का इतना बड़ा कार्य किया है जितना इसके पूर्व कोई न कर सका था ।

कुछ भिक्षु-भिक्षुणियाँ : (एक साथ) अवश्य, अवश्य ।

भिक्षु समुदाय : (एक साथ) भगवान् बुद्ध की जय ! भिक्षु कुमारायन की जय ! भिक्षुणी जीवा की जय ! भिक्षु कुमारजीव की जय !

कुमारजीव : सान्ध्य-प्रार्थना का समय हो गया, अब पहले प्रार्थना होकर, पश्चात् वार्तालाप होगा ।

[**सब लोग बैठ जाते हैं और सान्ध्य-प्रार्थना होती है ।**]

जय प्रबुद्ध ! जय जय अमिताभ !
तव निर्देशित पथ ही है, प्रभु, जीवन का चिर लाभ ।
सन्ध्या की आभा रङ्गीन
चमक गगन में होती लीन,
मधुर मनुज-जीवन जगती का पल में प्रलयाधीन ।
अजर अमर प्रभु तव सन्देश
त्रिविध ताप करता निःशेष
सतत शान्ति सागर में निश्चल चञ्चल माया मीन ।

ऊर्मिल भावों का अवसान,

आत्मेक्षणरत जाग्रत ज्ञान,

आशा तृष्णा के युग प्रहरी करते बन्धन क्षीण।

यवनिका

समाप्त

हर्ष

निवेदन

यह नाटक मेरी तीसरी जेल-यात्रा के समय नागपुर-जल में लिखा गया है। मैंने इस बात पर ध्यान रखने का प्रयत्न किया है कि सम्राट हर्ष के चरित्र का जैसा वर्णन इतिहासकारों ने किया है, मेरा वर्णन उसके विपरीत न हो। सम्राट हर्ष भारत के उन सम्राटों में हैं जिनका वीरता और सच्चरित्रता दोनों ही दृष्टियों से, इतिहासों में सर्वोच्च स्थान है। महाकवि बाण और चीनी यात्री यानचांग दोनों ने उनके चरित्र का जो वर्णन किया है उससे पद-पद पर उनके इन महत् गुणों का परिचय मिलता है।

हर्ष विवाहित थे या अविवाहित; इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। महाकवि बाण के 'हर्ष-चरित' में यद्यपि हर्ष की बहन राज्यश्री के विवाह का विस्तार से वर्णन है तथापि हर्ष के विवाह के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं। यानचांग ने भी उनके विवाह अथवा उनकी रानी का कोई उल्लेख नहीं किया। एक स्थान पर उन्होंने यह अवश्य लिखा है कि हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह वल्लभी-नरेश सेनापति ध्रुवसेन से किया था। मैंने हर्ष को अविवाहित ही माना है और उनकी इस पुत्री को उनकी पालित पुत्री।

इतिहासकारों ने यह भी माना है कि हर्ष ने अपनी बहन राज्यश्री के साथ आर्यावर्त का राज्य किया। नाटक में सौन्दर्य लाने के लिए मैंने राज्यश्री का अभिषेक कराया है।

हर्ष का शिव, सूर्य एवं बुद्ध का संयुक्त पूजन, सर्वस्व-दान तथा कुछ धर्मान्ध ब्राह्मणों द्वारा हर्ष की हत्या का यत्न एवं इस संयुक्त पूजन के समय मण्डप में अग्नि लगाया जाना ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। हाँ, शिव, सूर्य एवं बुद्ध का संयुक्त पूजन कान्यकुब्ज में तथा सर्वस्व-दान प्रयाग में होता था। सुविधा और सौन्दर्य-वृद्धि के विचार से मैंने इन दोनों घटनाओं का एकीकरण कर दिया है।

हर्ष और शशांक नरेन्द्रगुप्त का संघर्ष तथा हर्ष के मित्र माधवगुप्त का गुप्तवंशज होना ये भी ऐतिहासिक बातें हैं। माधवगुप्त का पुत्र आदित्यसेन भी ऐतिहासिक व्यक्ति है। हर्ष का आर्य और बौद्ध-धर्म पर समान रूप से प्रेम तथा शशांक नरेन्द्रगुप्त की आर्य-धर्म में कट्टरता, बौद्ध-धर्म से द्वेष और बुद्ध-गया के बोधिवृक्ष को कटवाना ये बातें भी इतिहास-सिद्ध हैं। हाँ, वर्द्धन और गुप्त-वंश के संघर्ष का जो स्वरूप नाटक में दिया गया है उसके लिए मैं जिम्मेदार हूँ।

राज्यश्री की सखी अलका को छोड़कर नाटक के शेष सब पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। हर्ष की पालित पुत्री और माधव-गुप्त की स्त्री के नाम ज्ञात न हो सकने के कारण मैंने उनके नाम जयमाला और शैलबाला रख दिये हैं।

इस प्रकार ऐतिहासिक घटनाओं के क्रम में परिवर्त्तन न करते हुए भी, सुविधा और सौन्दर्य के लिए, मैंने उन्हें आगे-पीछे करने की स्वतन्त्रता ली है, परन्तु, यथाशक्य इससे भी बचने का प्रयत्न किया है।

मेरा मत है कि नाटक, उपन्यास या कहानी-लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी भी पुरानी कथा को तोड़-मरोड़कर उसे एक नयी कथा ही बना दे। हाँ, कथा का अर्थ (Interpretation) वह अवश्य अपने मतानुसार कर सकता है। मैंने इस नाटक के लिखने में यही नीति अपने समक्ष रखी है तथा सर्वत्र इसी का पालन किया है।

प्राचीनता की झलक लाने के लिए मैंने सम्बोधन प्राचीन काल के ही रखे हैं; साथ ही, प्राचीनता की यही झलक लाने के लिए भाषा में अरबी और फारसी शब्दों से बचने का यत्न किया है। भाव, दृश्य और वेश-भूषा भी प्राचीन काल के अनुरूप रहे इसका भी ध्यान रखा है।

इस नाटक के पद्यों में दो पद्यों को छोड़कर शेष मेरे लिखे हुए हैं। लकड़ी उठाने वाली स्त्रियों द्वारा गाया हुआ पद्य कविता-कौमुदी के पाँचवें भाग ग्राम-गीत से लिया गया है और दूसरे अंक के पहले दृश्य में नेपथ्य में गाया हुआ गीत मेरी पुत्री रत्नकुमारी का लिखा हुआ है।

इस नाटक के लिखने में, निम्नलिखित ग्रन्थों से सहायता ली गयी है (१) विन्सेन्ट स्मिथ द्वारा लिखित 'हिस्ट्री ऑफ एन्शेण्ट इण्डिया', (२) सी० बी० वैद्य द्वारा लिखित 'हिस्ट्री ऑफ मेडिवल हिन्दू इण्डिया', (३) महाकवि बाण द्वारा लिखित 'हर्ष-चरित्' और (४) चीनी यात्री यानचांग का थॉमस वाल्टर्स द्वारा सम्पादित, यात्रा-वर्णन।

गोविन्ददास

मुख्य पात्र

शिलादित्य	: स्थाण्वीश्वर का राजकुमार, पीछे से हर्षवर्द्धन नाम धारण कर स्थाण्वीश्वर का राजा
माधवगुप्त	: शिलादित्य का मित्र
अवन्ति	: स्थाण्वीश्वर का महामन्त्री
सिंहनाद	: स्थाण्वीश्वर का महासेनापति
भण्डि	: स्थाण्वीश्वर का सेनापति, पीछे से कान्यकुब्ज का महासेलापति
आदित्यसेन	: माधवगुप्त का पुत्र
शशांक नरेन्द्रगुप्त	: गौड़ का राजा
यशोधवलदेव	: गौड़ का सेनापति
यानच्वांग	: चीनी यात्री
राज्यश्री	: शिलादित्य की बहन, पीछे से उत्तर भारत की सम्राज्ञी
अलका	: राज्यश्री की सखी
जयमाला	: शिलादित्य की पालित पुत्री
शैलबाला	: माधवगुप्त की स्त्री, आदित्यसेन की माता

स्थाण्वीश्वर की राजसभा के सदस्य और सैनिक, विन्ध्याटवी के राजा और सैनिक, कान्यकुब्ज के ब्राह्मण, पुरवासी और बौद्ध-भिक्षु, नालन्द के अध्यापक और विद्यार्थी, महाधर्माध्यक्ष, प्रतिहारी इत्यादि

स्थान

स्थाण्वीश्वर, विन्ध्याटवी, कान्यकुब्ज, कर्णसुवर्ण

'हर्ष' नाटक में आये हुए कुछ प्राचीन शब्दों का अर्थ

पृष्ठ ५—महामात्य = प्रधान मंत्री

,, —परम भट्टारक = सम्राट

पृष्ठ ६—महाबलाधिकृत = प्रधान सेनापति

पृष्ठ ३६—बलाधिकृत = सेनापति

ष्ठ ३८—दंडपाशिक = कारागृह का प्रधान राज्यकर्मचारी

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान : स्थाण्वीश्वर के राज-प्रासाद में राज-सभा-कक्ष

समय : सन्ध्या

[विशाल कक्ष है। कक्ष की छत स्थूल पाषाण-स्तंभों पर स्थित है। प्रत्येक स्तंभ के नीचे गोल कमलाकर कुंभी (चौकी) और ऊपर भरणी (टोड़ी) है। प्रत्येक भरणी में दोनों ओर पाषाण की एक-एक गज-शुण्ड बनी है, जो ऊपर की ओर उठकर छत को स्पर्श किये हुए है। कुंभियों, भरणियों और स्तंभों पर खुदाव का काम है। तीन ओर भित्ति (दीवाल) हैं। छत और भित्ति सुन्दर रंगों से रँगी हुई हैं, जिन पर चित्रावली है। दाहिनी ओर बाँयीं ओर की भित्ति के सामने के सिरों पर एक-एक द्वार है। द्वार खुले हुए हैं और उनमें से बाहर के उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है, जो डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों से रँग रहा है। द्वारों की चौखटों और कपाटों की लकड़ियों में भी खुदाव का काम है। कक्ष की भूमि पर हरित रंग की बिछावन बिछी हुई है और उस पर तीन पंक्तियों में दस आसंदियाँ (चौकियाँ) रखी हैं; सामने की पंक्ति में चार और उसके दोनों ओर की दो पंक्तियों में तीन-तीन। आसंदियाँ काष्ठ की हैं और उन पर गद्दियाँ बिछी हैं, जिन पर तकिये लगे हैं। गद्दियाँ और तकिये श्वेत वस्त्र से ढके हुए हैं। सामने की पंक्ति के बीच की

दो आसन्दियों पर अवन्ति और सिंहनाद बैठे हुए हैं। अवन्ति की अवस्था लगभग ५५ वर्ष की। वह गौर वर्ण का है ऊँचा, किन्तु इकहरे शरीर का मनुष्य है। सिर, मूँछों और दाढ़ी के लम्बे बाल आधे श्वेत हो गये हैं। श्वेत रंग का एक उत्तरीय (दुपट्टा) और अधोवस्त्र (धोती), इस प्रकार दो वस्त्र, धारण किये है। इनकी किनार सुनहरी है। सिर खुला है और मस्तक पर केशर का त्रिपुण्ड है। कानों में कुण्डल, गले में हार, भुजाओं पर केयूर, हाथों में वलय और अँगुलियों में मुद्रिकाएँ धारण किये हुए है। सब भूषण रत्न-जटित हैं। पैरों की काष्ठ-पादुकाएँ आसन्दी के नीचे उतरी हुई रखी हैं। सिंहनाद की अवस्था लगभग ४० वर्ष की है। वह गेहुँएँ रंग का ऊँचा और गठे हुए शरीर का कुछ मोटा व्यक्ति है। सिर, मूँछों और गलमुच्छों—सब के बाल काले हैं। उसके वस्त्राभूषण भी अवन्ति के सदृश ही हैं। सिर खुला है और मस्तक पर वह भी त्रिपुण्ड लगाये है। वह आयुध भी धारण किये है। बाँयें कन्धे पर धनुष, पीठ पर तरकश और कमर में खड्ग है। शेष आठ आसंदियों पर राजसभा के अन्य सदस्य बैठे हैं। सबकी अवस्था ४० और ४५ वर्ष के बीच में है और सबकी वेशभूषा अवन्ति और सिंहनाद के समान है, परन्तु सभी आयुधों से रहित हैं। किसी का वर्ण गौर है और किसी का गेहुँआँ। किसी के केवल मूँछें हैं, किसी के गलमुच्छे और किसी के दाढ़ी भी। सब की काष्ठ-पादुकाएँ आसंदियों के नीचे उतरी हुई रखी हैं। सब के मुख कुछ नीचे झुके हुए हैं और उन पर गहरी चिन्ता झलक रही है। सभा-कक्ष में

निस्तब्धता छायी हुई है।]

अवन्ति : **(कुछ समय पश्चात् सिर उठाते हुए धीरे-धीरे)** तो इस समय गौड़ाधिपति शशांक नरेन्द्रगुप्त से बदला लेने के विचार को छोड़कर केवल राज्य-रक्षा की ओर लक्ष रखा जाय, यही राज-सभा का निर्णय है?

एक सदस्य : **(सिर उठाकर)** हाँ, महामात्य, और तो कोई उपाय नहीं दिखता।

अवन्ति : परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन के कैलाश-वास होते ही स्थाण्वीश्वर के राज्यवंश और राज्य की यह दशा होगी कि हम परमभट्टारक महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के हत्यारे शशांक से बदला तक न ले सकेंगे, यह मैं स्वप्न में भी न सोच सकता था। स्थाण्वीश्वर के भूत-काल की शक्ति और वैभव की यह दुर्दशा!

सिंहनाद : **(सिर ऊँचा कर)** यदि हम लोग राजपुत्र शिलादित्य को किसी प्रकार सिंहासन ग्रहण करा सकें तो भविष्य के पुनः उज्ज्वल होने में, कम से कम मुझे सन्देह नहीं है। महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन ने सिंहासनासीन होकर मालवेश देवगुप्त से कान्यकुब्जाधिपति के वध करने एवं राजपुत्री राज्यश्री के वैधव्य का तथा उन्हें बन्दी बनाने का तत्काल बदला लिया ही था, महामात्य। यह तो शशांक ने छल से परमभट्टारक की हत्या की, अन्यथा उन्होंने समस्त भारत के दिग्विजय करने के लिए प्रस्थान ही किया था।

अवन्ति : आप ठीक कहते हैं, महाबलाधिकृत। यदि हम राजपुत्र शिलादित्य को सिंहासन पर बिठा सकें तो अब भी सब कुछ सम्भव है, परन्तु उनका सिंहासन ग्रहण करना ही तो सबसे बड़ी कठिनाई है। महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वध का समाचार पाते ही उन्हें सिंहासनासीन होना था। राज्यसिंहासन तो क्षणमात्र भी रिक्त नहीं रह सकता, परन्तु वे स्वीकार कहाँ कर रहे हैं ? जब महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के सदृश सहोदर भ्राता के नीचतापूर्वक वध होने और राजपुत्री राज्यश्री सदृश सहोदरा भगिनी के बन्धन-मुक्त न होने पर भी राजपुत्र सिंहासन ग्रहण न करने की अपनी टेक पर स्थित हैं तब यह आशा कैसे की जा सकती है कि भविष्य में वे सिंहासन ग्रहण करने के लिए तैयार हो जायँगे।

सिंहनाद : यद्यपि मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता, किन्तु राजपुत्र का सिंहासन ग्रहण करना कदाचित् अब संभव हो सकेगा।

अवन्ति : **(उत्सुकता से)** यह कैसे, महाबलाधिकृत ?

एक सदस्य : यही यदि हो जाय तो क्या पूछना है ?

दूसरा सदस्य : अवश्य।

अन्य कुछ सदस्य : **(एक साथ)** निस्सन्देह, निस्सन्देह।

सिंहनाद : बात यह है कि महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वध और राजपुत्री राज्यश्री के बन्धन का राजपुत्र के हृदय पर कोई प्रभाव न पड़ा हो, यह बात नहीं है।

अवन्ति : प्रभाव पड़ना तो स्वाभाविक बात है, महाबलाधिकृत। सहोदर भ्राता के इस प्रकार वध और सहोदरा भगिनी के इस प्रकार वैधव्य और बन्दी होने का प्रभाव भला क्योंकर न पड़ता ? परन्तु इन प्रभावों की अपेक्षा बौद्ध धर्म तथा कुछ विचित्र विचारों का प्रभाव उनके हृदय पर कहीं अधिक है।

एक सदस्य : हाँ, अब तो राजवंशजों के सदृश वेश-भूषा तक उन्होंने परित्याग कर दी है। बौद्ध-भिक्षुओं के सदृश पीत चीवर धारण किए हुए, बिना किसी आभूषण और आयुध के, बिना परिचारकों और वाहन के, वे यत्र-तत्र घूमा करते हैं।

सिंहनाद : परन्तु, मुझे विश्वसनीय सूत्र से पता चला है कि इधर एक-दो दिवसों से उनकी मानसिक अवस्था में परिवर्तन हो रहा है।

अवन्ति : यह पता आपको किससे लगा ?

सिंहनाद : उनके परम मित्र कुमारामात्य माधवगुप्त से।

[माधवगुप्त का नाम सुनकर सब लोग चौंक पड़ते हैं। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है और सब लोग विचारमग्न हो जाते हैं।]

अवन्ति : **(कुछ देर पश्चात् धीरे-धीरे)** देखिए, महाबलाधिकृत, राजसभा के सम्मुख तो सब बातें स्पष्ट कही जा सकती हैं, अत: मैं माधवगुप्त के सम्बन्ध में स्पष्ट ही कहूँगा, क्योंकि किसी के कथन पर विचार करने के पूर्व कहनेवाला कौन है, इस पर विचार करना आवश्यक है।

सिंहनाद : हाँ, हाँ, अवश्य ।

अवन्ति : माधवगुप्त की ज्ञानशक्ति उनकी अवस्था से कहीं आगे चलती है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु उन पर मेरा थोड़ा भी विश्वास नहीं है, यह बात, कम से कम, राजसभा के अधिकांश सभ्य जानते हैं। जिस समय से परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन ने मालव देश पर विजय कर उन्हें और उनके भ्राता कुमारगुप्त को मालव देश से लाकर राजपुत्रों के संग रखा, उसी समय से मैं इस सहवास को उचित नहीं समझता । मगध के प्राचीन गुप्त-वंशज, चाहे वे मालव देश में राज्य करते हों और चाहे गौड़ में, पराजित होकर कहाँ तक वर्द्धन-वंश के शुभचिन्तक रहेंगे यह विचारणीय है; क्योंकि मौखरि-वंश और गुप्त-वंश की परम्परागत शत्रुता है और मौखरि तथा वर्द्धन-वंश का निकट का सम्बन्ध ।

सिंहनाद : परन्तु, कुमारगुप्त और माधवगुप्त अपने ज्येष्ठ भ्राता मालवेश देवगुप्त का वध होने पर भी वर्द्धनों के शुभचिन्तक रहे और माधवगुप्त तो महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के कारण कुमारगुप्त के वध होने पर भी राजपुत्र शिलादित्य के स्नेह के कारण उनके संग हैं ।

अवन्ति : महाबलाधिकृत, क्षमा कीजिएगा, यदि मैं यह कह दूँ कि सैनिक राजनैतिक दाव-पेंचों से प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। मुझे माधवगुप्त पर अत्यधिक सन्देह है और जब उन्होंने यह संवाद दिया है कि राजपुत्र की मानसिक अवस्था में परिवर्तन हो रहा है तब मैं इस संवाद को केवल सन्देह ही नहीं, भय की

दृष्टि से देखता हूँ। आप जानते हैं कि माधवगुप्त का राजपुत्र पर कितना अधिक प्रभाव है ?

सिंहनाद : परन्तु, महामात्य, मुझे तो यही संवाद मिला है कि राजपुत्र की मानसिक अवस्था में सिंहासन ग्रहण करने के पक्ष में परिवर्त्तन हो रहा है, इसमें माधवगुप्त का क्या षड्यंत्र हो सकता है ?

अवन्ति : **(कुछ सोचते हुए)** सो तो कहना इस समय कठिन है, परन्तु माधवगुप्त से प्रभावित होकर ही राजपुत्र ने सिंहासन न ग्रहण करने का निश्चय किया था और अब माधवगुप्त ही संवाद लाते हैं कि सिंहासन ग्रहण करने के पक्ष में राजपुत्र की प्रवृत्ति हो रही है। इन सब बातों में मुझे कुछ न कुछ रहस्य दिखायी देता है।

[**फिर कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।**]

अवन्ति : **(कुछ देर पश्चात्)** अच्छा, इस समय माधवगुप्त का विषय छोड़ दीजिए, क्योंकि आप तथा मैं सभी जानते हैं कि राजपुत्र उन पर अत्यधिक प्रेम रखते हैं और यह सहवास छूटना सरल नहीं है। इस समय तो मैं यह जानना चाहता हूँ कि जब तक राजपुत्र अपने सिंहासन ग्रहण न करने के निश्चय पर स्थित हैं, तब तक राजसभा राज-रक्षा के अतिरिक्त और कुछ करने के लिए तैयार नहीं, यह तो अन्तिम निर्णय है न ?

सिंहनाद : **(सब सदस्यों की ओर देखते हुए)** यही तो सबका मत जान पड़ता है।

एक सदस्य : हाँ, क्योंकि अन्य कोई उपाय ही नहीं है। हूण-युद्ध में हमारी बहुत सी शक्ति का व्यय हो गया, रही-सही शक्ति मालवेश देवगुप्त से युद्ध करने में लग गयी, महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के संग में गयी हुई सेना और बलाधिकृत भण्डि अब तक लौटे नहीं हैं। इसके अतिरिक्त हमारे पास इस समय न यथेष्ट सेना है, न धन।

दूसरा सदस्य : और जन एवं धन देकर शशांक से बदला लेने के लिए प्रजा को हम उत्तेजित कर सकेंगे इसकी हमें आशा नहीं।

तीसरा सदस्य : हमें प्रतिकार के प्रयत्न में इस समय सफलता मिल ही नहीं सकती; शत्रु-पक्ष अत्यन्त प्रबल है।

चौथा सदस्य : और यदि हम असफल हुए तो स्थाण्वीश्वर पर भयानक आपत्ति आने में कोई सन्देह ही न रहेगा।

तीन सदस्य : (एक साथ) ठीक।

अवन्ति : (कुछ ठहरकर विचार करते हुए) तब मैं राजसभा के सम्मुख यह प्रस्ताव उपस्थित करना चाहता हूँ कि हम लोग राजपुत्र से स्पष्ट कह दें कि या तो वे सिंहासनासीन होना स्वीकार करें अथवा हम सब राजसभा से अपने-अपने पदों का त्याग करते हैं।

[अवन्ति का प्रस्ताव सुनते ही कुछ सदस्य चौंक पड़ते हैं, कुछ विचार-मग्न हो जाते हैं। कुछ देर को फिर निस्तब्धता छा जाती है।]

सिंहनाद : (धीरे-धीरे) महामात्य का यह प्रस्ताव कितना

गम्भीर है, इस पर हम सब को अत्यन्त ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। (कुछ ठहरकर) यदि राजपुत्र ने सिंहासन ग्रहण करना स्वीकार कर लिया तब तो कोई बात ही नहीं, परन्तु यदि उन्होंने यह न किया तो फिर हम सबों को अपने पद छोड़ने ही होंगे और ऐसी अवस्था में स्थाण्वीश्वर के राज्य की क्या दशा होगी ?

अवन्ति : देखिए, महाबलाधिकृत, शताब्दियों से इस देश में प्रजातन्त्र सत्ता नहीं है। हमारी यह राजसभा तथा इस सभा के सदृश जितनी भी राज-सभाएँ इस देश में हैं, वे सब एक प्रकार से राजाओं को मंत्रणामात्र देने का अधिकार रखती हैं। राजा ही उन्हें नियुक्त और वे ही उनमें परिवर्त्तन करते हैं। सम्राटों और राजाओं के हाथों में सारी सत्ता के केन्द्रीभूत होने के कारण प्रजा का राज-कार्यों में बहुत थोड़ा अनुराग रह गया है। वह केवल वीर-पूजक हो गयी है और सच्चे वीर ही उसका उपयोग करने की क्षमता रखते हैं। यही कारण है कि किसी भी वंश में वीर के न रहते ही सत्ता उस वंश के हाथ से दूसरे वंश के हाथ में तत्काल चली जाती है और जो भी राजा होता है प्रजा आँख मूँदकर उसका अनुगमन करती है। हमारा स्थाण्वीश्वर का राज्य भी आज इसी परिस्थिति का आखेट हो रहा है। हमारे राजा का वध हो गया है, परन्तु जिसने यह किया है उससे प्रतिकार लेने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं; इसीलिए न कि हमारे राज्य पर इस समय किसी वीर

राजा का छत्र नहीं, जो प्रजा के जन और धन का उपयोग कर शत्रुओं को नीचा दिखा सके ? राजसभा के सदस्यों की बात प्रजा मानेगी, ऐसा हम सदस्यों तक को विश्वास नहीं। क्या आप लोग समझते हैं कि बिना राजा के हम राज्य-रक्षा कर सकेंगे ? मुझे तो इसकी बहुत कम आशा है। यदि राजसभा, बिना राजा के, शत्रु से बदला लेकर राज्य-रक्षा कर सके तो इससे अच्छी कदाचित् कोई बात न होगी, क्योंकि यह, एक प्रकार से, शताब्दियों पूर्व इस देश में जो प्रजातंत्र थे, उनकी ओर बढ़ना और किसी भी राजा का अनुगमन करने वाली प्रजा की प्रवृत्ति के मूलोच्छेदन का आरम्भ होगा। परन्तु, राजसभा की आज की चर्चा सुनकर मुझे इसकी थोड़ी भी आशा नहीं है। जब कि कुछ दिनों में अन्य किसी न किसी वीर का स्थाण्वीश्वर पर अधिकार होना ही है, और हमारे पद जाने ही हैं, तब आज ही यदि वह समय आ जावे तो कौनसी बड़ी भारी हानि हो जायगी ? आज तो हमें यह भी आशा है कि कदाचित् राजपुत्र शिलादित्य ही सिंहासन ग्रहण करलें। परन्तु, यदि अन्य किसी ने आकर हमारे पद छीन लिये तब तो यह आशा भी न रह जायगी।

[कुछ देर तक फिर निस्तब्धता रहती है।]

एक सदस्य : मैं महामात्य से सहमत हूँ।

दूसरा सदस्य : (सिर हिलाते हुए) मुझे भी महामात्य का कथन उचित जान पड़ता है, विशेषकर इसलिए कि महाबलाधि-

कृत को विश्वसनीय सूत्र से पता चला है कि राजपुत्र की मानसिक अवस्था में परिवर्त्तन हो रहा है ।

तीसरा सदस्य : और यदि सचमुच ही उनकी मानसिक अवस्था में परिवर्त्तन हो रहा है तो राजसभा के समस्त सदस्यों के पद-त्याग का यह निर्णय सुन उस परिवर्त्तन में सहायता पहुँचना निश्चित है ।

चौथा सदस्य : (सिर हिलाकर) महामात्य का कथन ही ठीक जान पड़ता है ।

अन्य कई सदस्य : (एक साथ) यही किया जाय, यही किया जाय ।

अवन्ति : अच्छी बात है । राजसभा के इस निर्णय को मैं राजपुत्र की सेवा में उपस्थित कर दूँगा । मेरे साथ यदि महाबलाधिकृत भी जायँगे तो अधिक उपयुक्त होगा ।

सिंहनाद : मैं तैयार हूँ ।

अवन्ति : (कुछ ठहरकर) तब आज का कार्य समाप्त हुआ ?

[अवन्ति उठता है । शेष सब सदस्य भी उठते हैं । सबका पादुका पहनकर दाहनी ओर के द्वार से प्रस्थान । पट-परिवर्त्तन होता है । भित्तियाँ, उद्यान के हरित कोट, छत, आकाश और स्तम्भ, अशोक वृक्षों में परिवर्त्तित हो, सभा-भवन का दृश्य उद्यान में परिणत हो जाता है ।]

दूसरा दृश्य

स्थान : स्थाण्वीश्वर के राजोद्यान का अशोक-कुञ्ज

समय : सन्ध्या

[साधारणतया सुन्दर उद्यान है। दूरी पर उद्यान का हरित कोट दृष्टिगोचर होता है। बीच में अशोक-वृक्षों का कुञ्ज है। नीचे, हरे घास की भूमि पर दस आसंदियाँ रखी हुई हैं। सारा दृश्य डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों से आलोकित है। शिलादित्य और माधवगुप्त का प्रवेश। दोनों गौर वर्ण और गठीले शरीर के अत्यन्त सुन्दर युवक हैं। दोनों की मूंछों की रेख निकल रही हैं। शिलादित्य की अवस्था लगभग सोलह वर्ष की है और माधवगुप्त की अठारह, परन्तु दोनों अपनी अवस्था की अपेक्षा अधिक वय के जान पड़ते हैं। दोनों के मुखों पर गाम्भीर्य का पूर्ण साम्राज्य है। शिलादित्य पीत रंग का उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं। सिर खुला हुआ है और सिर के केश भी बहुत बड़े नहीं हैं। समस्त शरीर भूषणों से रहित है। माधवगुप्त श्वेत रंग का उत्तरीय और अधोवस्त्र पहने है, जिनकी सुनहरी किनार हैं। उसका भी सिर खुला हुआ है और उस पर लम्बे बाल लहरा रहे हैं। वह कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ भी धारण किये है। सारे भूषण स्वर्ण के तथा

रत्नजटित हैं। दोनों काष्ठ की पादुका पहने हैं।]

शिलादित्य : (लम्बी साँस लेकर) माधव, इस शोकमय काल में, इस अशोक-कुञ्ज के नीचे, सन्ध्या समय कुछ शांति मिल जाती थी, किन्तु तुमने इधर दो दिवसों से हृदय में कुछ ऐसे विचारों की उत्पत्ति कर दी है, कुछ ऐसा आन्तरिक संघर्ष मचवा दिया है कि वह शांति भी योजनों दूर चली गयी। **(आगे बढ़कर एक आसंदी पर बैठता है।)**

माधवगुप्त : (दूसरी आसंदी पर बैठते हुए) राजपुत्र, मुझे बाल्यकाल से ही आपके पूज्य पिता कैलाशवासी परम-भट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन ने मालव देश से लाकर आपकी सेवा में इसीलिए रखा और शिक्षित कराया है कि मैं समय-समय पर आपको मंत्रणा दे सकूँ। मैं जानता हूँ कि वर्द्धन-वंश के प्राचीन राजकर्मचारी मुझे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, आपका जो मुझ पर यह स्नेह है उसे आपके लिए हितकर न समझ अहितकर समझते हैं, परन्तु...

शिलादित्य : (बीच ही में) जब-जब तुम्हें सम्मति देने का अवसर आता है तब-तब तुम्हारे मन में यह अविश्वास की बात उठे बिना नहीं रहती, माधव !

माधवगुप्त : (लम्बी साँस लेकर) मेरी मानसिक स्थिति की कल्पना, प्रयत्न करने पर भी, आप नहीं कर सकते, राजपुत्र। कुटुम्बी जनों से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रख, सदा आपकी मंगल-कामना में दत्तचित रहते हुए भी जब मैं

अपने प्रति सन्देह देखता हूँ तब...

शलादित्य : (फिर बीच ही में) परन्तु, मेरे हृदय में तो तुम्हारे प्रति कोई सन्देह नहीं है न ? मेरा हृदय तो तुम्हारे शुद्ध प्रेम से ओत-प्रोत है न ?

माधवगुप्त : यदि आपके हृदय में भी मेरे प्रति सन्देह रहता, यदि आपका भी मेरे प्रति सच्चा प्रेम न होता तो स्थाण्वीश्वर के इस वायुमण्डल में क्या मैं एक क्षण भी निवास कर सकता था ? राजपुत्र, क्या कहूँ ? आपके प्रेम ने मुझे इस प्रकार बाँध रखा है कि मेरे जेष्ठ भ्राता मालवेश देवगुप्त का महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वध करने और उन्हीं के कारण बन्धु कुमारगुप्त का वध होने पर भी, मैं आपका सहवास न छोड़ सका। शशांक का बन्धुत्व भी इस स्नेहरूपी हिमालय के सम्मुख रजकण के तुल्य भी नहीं है, राजपुत्र।

[शिलादित्य उठकर माधवगुप्त को हृदय से लगा लेता है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है। फिर दोनों अपनी-अपनी आसंदी पर बैठ जाते हैं।]

शिलादित्य : अच्छा, अब काम की थोड़ी बात हो जाय। तुम जानते हो कि तुमने जो सम्मति इस समय मुझे दी है उससे मेरी दशा कैसी हो गयी है ?

माधवगुप्त : कैसी, राजपुत्र ?

शिलादित्य : उस पथिक के सदृश जो अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए एक पथ से विदा हो चुका हो और बीच में कोई विश्वासपात्र जन आकर उससे यह कह दे कि वह

एक अन्य पथ से अपने निर्दिष्ट स्थान पर अधिक शीघ्रता और सुविधा से पहुँच सकता है।

माधवगुप्त : यदि उस पथिक को यह बात सचमुच ही उसका कोई विश्वासपात्र जन कहता है, तथा कहने वाले के कथन से उस पथिक को भी यदि अपने पथ में सन्देह उत्पन्न हो जाता है, तो जितने शीघ्र वह पथिक अपना पथ परिवर्त्तित कर दे उतना ही उत्तम है।

शिलादित्य : **(कुछ ठहरकर मुस्कराते हुए)** क्यों, माधव, तुम्हें यह विश्वास है कि मैं जिस पथ पर चल रहा हूँ उसकी अपेक्षा अब अन्य पथ मुझे अपने निर्दिष्ट स्थान पर अधिक शीघ्रता और सुविधा से ले जायगा ?

माधवगुप्त : यदि मुझे यह निश्चय न होता, आर्य, तो मैं आपको अपनी सम्मति इतने स्पष्ट शब्दों में न देता; आज तक क्या कभी मैंने इस प्रकार का दुस्साहस किया है ?

शिलादित्य : मानता हूँ, कभी नहीं। माधव, तुम्हारी अवस्था की अपेक्षा तुम्हारा ज्ञान कहीं आगे बढ़ा हुआ है, इसे प्रौढ़ जन भी स्वीकार करते हैं।

माधवगुप्त : यह आपकी और प्रौढ़ जनों की कृपा है।

शिलादित्य : **(कुछ ठहरकर विचार करते हुए)** तो तुम्हारा स्पष्ट और निश्चित मत है कि इस समय मेरा राज्य ग्रहण न करना कर्त्तव्य से च्युत होना है ?

माधवगुप्त : सर्वथा स्पष्ट और निश्चित। देखिए, राजपुत्र, धर्म और कर्त्तव्य-पथ से चलकर ही जीवन व्यतीत करना,

आपने अपना लक्ष बनाया है। अब तक आपके राज्य ग्रहण न करने के निश्चय को मैं सदा और भी दृढ़ करने का उद्योग इसलिए करता रहा कि आपके अग्रज थे। मैं नहीं चाहता था कि इन दिनों जिस प्रकार अन्य अनेक राजाओं में राज्य के लिए सहोदर भ्राताओं के बीच कलह हो जाता है वैसा स्थाण्वीश्वर में भी हो। आपके अग्रज सिंहासनासीन रह, सारे भारत को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का यत्न करते और आप उनके इस महान् कार्य में सहायता कर उनकी छत्रच्छाया में प्रजा की सेवा में दत्तचित्त रहते; परन्तु, आज तो राज्य की नींव ही हिल रही है। महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के हत्यारे, चाहे वे मेरे आत्मीय ही क्यों न हों, मैं तो उन्हें महाराजाधिराज का षड्यन्त्र से वध करने के कारण हत्यारा ही मानता हूँ, चक्रवर्ती सम्राट् होने की आकांक्षा कर रहे हैं और राजपुत्री राज्यश्री भी बन्धन में पड़ी हुई हैं। यदि ऐसे आततायियों को दण्ड न मिला तो फिर संसार का कार्य नियमित रूप से किसी प्रकार चल सकेगा? वर्त्तमान परि-स्थिति में, आपका वर्त्तमान जीवन कर्त्तव्य-पथ पर न चलकर इसके विपरीत पथ पर ही चल रहा है। मैं आपके विरागपूर्ण जीवन को सदा श्रेष्ठ मानता रहा, क्योंकि मेरा निश्चय है कि मनुष्य को विषय-वासना के उपभोगों से सच्चा और स्थायी सुख मिलना असम्भव है। मैं आपकी स्वाभाविक परोपकार प्रवृत्ति को सदैव उत्तेजित करता रहा, कारण कि मेरा विश्वास है कि इस संसार में परोपकार के अतिरिक्त अन्य

किसी वस्तु में सच्चा और स्थायी सुख मिल ही नहीं सकता। आज भी मैं आपको अपने दो अन्तिम विचारों में कोई परिवर्तन करने के लिए नहीं कह रहा हूँ, केवल अपने प्रथम निर्णय को परिवर्तित करने का निवेदन करता हूँ।

शिलादित्य : परन्तु, माधव, प्रथम निर्णय के परिवर्तित होते ही अन्तिम निर्णय तो अपने आप बदल जायँगे।

माधवगुप्त : यह आवश्यक नहीं है। अनेक सम्राट् तथा राजा राज्य करते हुए भी विरागी एवं परोपकार में दत्तचित्त रहे हैं। उन्होंने राज्य को सदा अपने पास प्रजा की धरोहर और अपने को प्रजा का सेवक माना है।

शिलादित्य : ऐसे दृष्टान्त बहुत कम हैं। अधिकांश नरेश या तो विषयों में अनुरक्त रहे हैं या अपनी शक्ति और साम्राज्य बढ़ाने के लिए रक्तपात में दत्तचित्त।

माधवगुप्त : नहीं, आर्य, भारतीय सम्राटों तथा राजाओं का यह आदर्श कभी नहीं रहा। विषय-लोलुप सम्राट् एवं राजाओं का चाहे अन्य देशों में उत्कर्ष हुआ हो, मिश्र के फरोह और रोमक के सीज़र आदि विषय-लोलुप रहते हुए भी चाहे उन्नत हो सके हों, परन्तु भारत के इतिहास में आपको एक भी ऐसे सम्राट् या राजा का उदाहरण न मिलेगा, जिसका विषय-लोलुप रहते हुए उत्थान हुआ हो। अत्यन्त प्राचीन काल के भारतीय सम्राट् रघु, राम, युधिष्ठिर आदि अथवा आधुनिक काल के चन्द्रगुप्त, अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त इत्यादि किसी के जीवन की ओर आप देखें, इनमें से एक

भी विषय-लोलुप न था। हाँ, रक्तपात इस देश के भी अनेक सम्राटों द्वारा हुआ है, पर वह अधिकतर या तो आततायियों को दण्ड देने के लिए अथवा समस्त देश में सभ्यता और संस्कृति का एकीकरण रखने के उद्देश्य से; किसी के राज्य का अपहरण करने के निमित्त नहीं। आततायियों को दण्ड देकर उनका राज्य उन्हीं के निकटवर्त्ती सम्बन्धियों को दे दिया जाता था। किष्किन्धा और लंका में राम ने यही किया था। इसी प्रकार जो चक्रवर्त्ती होकर समस्त देश में एक सभ्यता और संस्कृति स्थित रखने के लिए अश्वमेध या राजसूय-यज्ञ करना चाहते थे वे भी उनसे युद्ध करने वालों के पुत्रादिकों को ही उनके राज्य सौंप देते थे। पाण्डवों ने मगध के जरासन्ध से युद्ध कर उसके पुत्र सहदेव को ही तो मगध का सिंहासन दिया था। यज्ञों के बन्द होने के पश्चात् भी चक्रवर्ती सम्राटों की यही पद्धति रही। उन्होंने किसी के राज्य का अपहरण न कर सबको माण्डलीक ही बनाया।

शिलादित्य : फिर भी तुम यह नहीं कह सकते कि सभी सम्राट् और राजा विषयोपभोगों और अपनी सत्ता-वृद्धि के लिए रक्तपात के दोषों से मुक्त रहे हैं। अतः क्या यह सबसे अच्छी बात न होगी कि इस समय पुनः प्राचीन भारत के लिच्छिवि, वज्जिक और मद्रक आदि राज्यों के समान प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली को स्थापित करने का प्रयत्न किया जाय ?

माधवगुप्त : प्रजा को अब इस प्रणाली का अभ्यास नहीं रह गया है और इस समय, जबकि चारों ओर शत्रु प्रबल हो रहे हैं तब, इस प्रकार के कार्य का समय नहीं है। ऐसे अवसरों पर तो एक ही व्यक्ति के अधिकार में सत्ता का रहना आवश्यक है, फिर प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ है, इसका कोई प्रमाण नहीं।

शिलादित्य : यह कैसे ?

माधवगुप्त : यदि यही प्रणाली सर्वश्रेष्ठ होती तो इसके विकास के अनन्तर फिर सत्ता एक मनुष्य के अधिकार में क्यों जाती ? भारत में लिच्छिवि, वज्जिक, मद्रक आदि राज्यों में प्रजातन्त्र के पश्चात् भी राजाओं के हाथ में सत्ता गयी। यही बात हमें यवनक और रोमक आदि देशों के इतिहास से ज्ञात होती है। बात यह है, राजपुत्र, कि संसार में हर एक वस्तु पूर्ण न होने, वरन् परिवर्त्तनशील होने, के कारण इन शासन-प्रणालियों में भी परिवर्त्तन होता रहता है। एक बात सदा निर्दोष रह ही नहीं सकती। बहुत काल तक एक मनुष्य के अथवा अनेक मनुष्यों के हाथ में सत्ता रहते-रहते दोनों ही प्रकार की पद्धतियों में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जन-समुदाय जब एक मनुष्य के हाथ की सत्ता से कष्ट पाने लगता है तब प्रजातन्त्र की स्थापना और जब अनेक मनुष्यों के हाथ की सत्ता से कष्ट पाने लगता है तब एक मनुष्य के हाथ में सत्ता देने का प्रयत्न करता है। **(कुछ ठहरकर)** मुझे विश्वास है, राजपुत्र, कि यदि आपने राजसिंहासन

ग्रहण किया तो भी आप कभी विषय-वासनाओं के आखेट न होंगे, न कभी आपके हाथों व्यर्थ का रक्तपात ही होगा, वरन् सदा सच्चे धर्म और कर्त्तव्य-पथ पर चलकर ही आप अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे। आप तो इस काल के विदेह हो सकते हैं, राजपुत्र।

शिलादित्य : **(कुछ विचारते हुए)** यह तुम निश्चयपूर्वक कैसे कह सकते हो ?

माधवगुप्त : आपकी अब तक की मानसिक अवस्था के ज्ञान के कारण।

शिलादित्य : परन्तु, तुम्हीं ने अभी कहा कि संसार में हर वस्तु परिवर्त्तनशील है; परिवर्त्तन पर परिवर्त्तन होते हैं। आज मनुष्य एक बात विचारकर उसे उत्तम समझ उसके अनुसार व्यवहार करने का निश्चय करता है, कल उसी की उत्तमता में उसे सन्देह उत्पन्न हो जाता है और वह अपने निश्चय को परिवर्त्तित कर देता है। आज मुझे ही अपने सिंहासन ग्रहण न करने के निश्चय की उत्तमता में सन्देह उत्पन्न हो गया है। कल अन्य निश्चय भी बदल जायँगे, यह कैसे कहा जा सकता है ?

माधवगुप्त : परिस्थिति के अनुसार निश्चयों को बदलना ही बुद्धिमत्ता है, आर्य; किन्तु हाँ, यदि मनुष्य जीवन-शकट के दो चक्रों को न बदले तो अन्य निश्चयों के परिवर्त्तन से भी उसका जीवन-शकट कभी सच्चे पथ से भ्रष्ट नहीं हो सकता।

शिलादित्य : कौन से चक्र, माधव ?

माधवगुप्त : जिन पर आप अपने जीवन को चला रहे हैं। व्यक्तिगत आधिभौतिक विलासों के उपभोग की लालसा से निवृत्ति और परोपकार की प्रवृत्ति।

शिलादित्य : किन्तु, राज्य ग्रहण करने के पश्चात् यह निवृत्ति और यह प्रवृत्ति कहाँ तक स्थिर रह सकेगी ?

माधवगुप्त : मैंने कहा न, आर्य, कि यह अनेक सम्राटों तथा राजाओं में रही है।

शिलादित्य : और मैं भी उन्हीं में एक होऊँगा, इसका तुम्हारे पास क्या प्रमाण है ?

माधवगुप्त : **(मुस्कराकर)** मेरे पास तो आपकी अब तक की मानसिक अवस्था का प्रमाण है, किन्तु आप वैसे न होंगे, इसका आपके पास क्या प्रमाण है ? फिर, राजपुत्र, आप तो अकेले नहीं हैं। चाहे किसी का मुझ पर अविश्वास भी हो, पर आपका मुझ पर पूर्ण विश्वास है। हम दोनों एक दूसरे को पथ-भ्रष्ट न होने देने में क्या सहायक न होंगे ?

[प्रतिहारी का प्रवेश। वह ऊँचा-पूरा साँवले रंग का वृद्ध मनुष्य है। सिर पर लम्बे बाल और मुख पर बड़ी-बड़ी मूंछें तथा दाढ़ी हैं। सब केश श्वेत हो गये हैं। गले से पैर तक, नीचा श्वेत रंग का कंचुक (एक प्रकार का अँगरखा) पहने हुए है, और सिर पर श्वेत पाग बाँधे है। कमर में सुनहरी रंग का कमर-पट्टा है, जिससे खड्ग लटक रहा है। कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ धारण किये है। सब भूषण सुवर्ण के हैं। दाहिने हाथ में एक मोटी सुवर्ण की छड़ी लिये है।]

प्रतिहारी : **(सिर को बहुत नीचे तक झुका, अभिवादन कर)** राजपुत्र की जय हो ! श्रीमान्, महासन्धिविग्रहक महामात्य और महाबलाधिकृत श्रीमान् के दर्शन किया चाहते हैं।

शिलादित्य : **(अभिवादन का, कुछ सिर झुकाकर, उत्तर देते तथा सोचते हुए)** उन्हें ले आओ, प्रतिहारी।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर प्रस्थान। पुनः अवन्ति और सिंहनाद के साथ प्रवेश तथा उन्हें पहुँचाकर पुनः अभिवादन कर प्रस्थान। दोनों शिलादित्य को मस्तक झुकाकर अभिवादन करते हैं। शिलादित्य भी सिर झुका अभिवादन का उत्तर देते हैं। माधवगुप्त खड़े होकर अवन्ति और सिंहनाद का उसी प्रकार अभिवादन करता है। दोनों माधवगुप्त के अभिवादन का भी सिर झुकाकर उत्तर देते हैं।]

शिलादित्य : आइए, बैठिए, महामात्य और महाबलाधिकृत।

[दोनों दो आसंदियों पर बैठ जाते हैं]

अवन्ति : राजसभा की आज की बैठक का निर्णय सुनाने के लिए हम लोग सेवा में उपस्थित हुए हैं।

माधवगुप्त : **(खड़े-खड़े ही)** यदि कोई गुप्त बात हो तो मैं आज्ञा लेता हूँ, राजपुत्र।

शिलादित्य : नहीं, नहीं, तुम से गुप्त बात रह ही नहीं सकती, माधव, तुम भी बैठो।

[माधवगुप्त भी एक आसंदी पर बैठ जाता है।]

शिलादित्य : कहिए, महामात्य, क्या निर्णय हुआ है ?

अवन्ति : **(कुछ ठहरकर खखारते हुए)** श्रीमन्, हम दोनों तथा

राज-सभा के अन्य सदस्य आपके पिता परमभट्टारक महा-राजाधिराज के समय से अपने-अपने वर्तमान पदों पर नियुक्त हैं। अब तक इस वंश और राज्य की हम लोगों ने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सेवा करने का प्रयत्न किया है, किन्तु हम लोग देखते हैं कि अब हम लोगों से यह सेवा न हो सकेगी।

[**अवन्ति चुप होकर सिर झुका लेता है।**]

शिलादित्य : यह क्यों ?

सिंहनाद : यह इसलिए, राजपुत्र, कि देश की वर्तमान परिस्थिति में बिना राजा के कार्य चलना असम्भव है। राज्य पर चारों ओर से आपत्ति के मेघ मँडरा रहे हैं और श्रीमान सिंहासनासीन होना अस्वीकार करते हैं। इसीलिए राज-सभा के समस्त सदस्यों ने निश्चय किया है कि वे भी अपने-अपने पदों को त्याग देवें।

[**सिंहनाद भी चुप हो जाता है। शिलादित्य विचारमग्न हो जाता है। कुछ समय के लिए निस्तब्धता छा जाती है।**]

शिलादित्य : (**धीरे-धीरे कुछ अटक-अटककर**) महामात्य और महाबलाधिकृत, पूज्यपाद राज्यवर्द्धन के निधन के पश्चात् और चिरजीवी राज्यश्री के बन्धन से मुक्ति की सूचना न पाने के कारण उसी समय से यह प्रश्न मेरे सम्मुख है। (**कुछ ठहरकर**) अभी आप लोगों के आने के पूर्व (**माधव-गुप्त की ओर संकेत कर**) इनसे मेरा इसी विषय पर वाद-विवाद चल रहा था। यद्यपि आपके आने के पूर्व मैं इस

विषय में कोई निश्चयात्मक निर्णय न कर सका था, परन्तु (लम्बी साँस लेकर) अब मैंने निर्णय कर लिया है।

अवन्ति : (**उत्सुकता से**) वह क्या है, राजपुत्र ?

सिंहनाद : मैं आशा करता हूँ, श्रीमान ने शुभ निर्णय ही किया होगा !

शिलादित्य : (**रूखी मुस्कराहट के साथ**) शुभ निर्णय है या अशुभ, यह तो मैं ठीक नहीं कह सकता; परन्तु वह आप लोगों की रुचि के अनुकूल है, इतना मैं जानता हूँ। मैं अब राज्य ग्रहण करने के लिए तैयार हूँ।

माधवगुप्त : (**मुस्कराते हुए**) और प्रणाली के अनुसार राजपुत्र हर्षवर्द्धन का नाम धारण कर सिंहासनासीन होवेंगे।

अवन्ति : (**प्रसन्न होकर**) धन्य हमारा भाग्य !

सिंहनाद : (**उत्साह से**) धन्य राज्य का सौभाग्य !

[**कुछ देर को निस्तब्धता छा जाती है। शिलादित्य विचार-मग्न हो जाता है।**]

शिलादित्य : (**कुछ सोचते हुए**) महामात्य और महाबलाधिकृत, राज्य ग्रहण करना तो मैंने स्वीकृत कर लिया, पर, फिर भी मैं दो बातें न करूँगा।

अवन्ति : वे क्या, राजपुत्र ?

सिंहनाद : उन्हें और बता दीजिए।

[illegible]लादित्य : पहली बात विवाह और दूसरी व्यर्थ का युद्ध।

अवन्ति : (**कुछ विचार करते हुए**) दूसरी बात तो ठीक है। व्यर्थ का रक्तपात हो, यह कोई नहीं चाहता; परन्तु विवाह

आप क्यों न करेंगे ?

सिंहनाद : (आश्चर्य से) हाँ, विवाह करने में क्या हानि है ?

शिलादित्य : मैं अपने को राज्य का संरक्षकमात्र मानना चाहता हूँ और राज्य को अपने पास प्रजा की धरोहर । मैं अपने और अपने वंश को राज्य का स्वामी और राज्य को अपनी सम्पत्ति नहीं मानना चाहता ।

सिंहनाद : विवाह करने के पश्चात् आप भी यही मान सकते हैं ।

शिलादित्य : नहीं, राज्य-सिंहासन पर बैठने के पश्चात् एक तो यों ही इस भावना की रक्षा कठिनाई से हो सकती है, फिर पुत्र-पौत्रादि हों तब तो इस भावना का चित्त में ठहरना और भी कठिन हो जाता है । पुत्र-पौत्रादि यदि अयोग्य हों तो भी राजसत्ता उन्हीं के अधिकार में रहे, इस लोभ की उत्पत्ति होती है ।

अवन्ति : परन्तु, श्रीमान्, यदि आपने विवाह न किया तो आपके पश्चात् राज्य का अधिकारी कौन होगा ?

शिलादित्य : इसका निर्णय उस समय हो जाएगा ।

सिंहनाद : किन्तु. श्रीमान्, योग्य सन्तान के होने पर तो एक प्रकार से आप अपने पश्चात् के लिए भी सुशासन की व्यवस्था कर जायँगे ।

शिलादित्य : और यदि अयोग्य सन्तान हुई तो, महाबलाधिकृत, अयोग्य सन्तान होने पर भी राजसत्ता उसी के अधिकार में रहे, इस आसक्ति की उत्पत्ति हो जायगी । देखिए, महामात्य और महाबलाधिकृत, राजसत्ता सदैव एक ही वंश के

अधिकार में, उस वंश में सन्तान के रहते हुए भी, नहीं रही है। किसी वंश में, अयोग्य के उत्पन्न होते ही, वह उस वंश के अधिकार के बाहर चली गयी है। फिर मैं ही अपने हृदय में आसक्ति की उत्पत्ति कर, जो थोड़ी-बहुत प्रजा की सेवा करना चाहता हूँ, उस भावना के नाश का आयोजन क्यों कर लूँ ? मैं तो प्राचीन भारत की प्रजातन्त्र राज्य-प्रणाली का पक्षपाती हूँ, परन्तु यदि यह वर्तमान परिस्थिति में सम्भव नहीं है तो मैं सिंहासनासीन होकर राज्य-संरक्षक के रूप में प्रजा-सेवा के लिए तैयार हूँ, पर, विवाह कर, मैं अपने हृदय में राज्य के लिए आसक्ति की उत्पत्ति नहीं करना चाहता। (**खड़े होते हुए**) मैं सिंहासन ग्रहण करूँगा; परन्तु विवाह नहीं, कदापि नहीं।

परदा गिरता है।

तीसरा दृश्य

स्थान : एक जंगली मार्ग

समय : सन्ध्या

[राज्यश्री का प्रवेश। उसकी अवस्था लगभग १५ वर्ष की है, किन्तु अवस्था से उसका वय अधिक जान पड़ता है। वह गौर वर्ण की सुन्दर युवती है, परन्तु इस समय उसका शरीर क्षीण है और मुख अत्यधिक उतरा हुआ है। उस पर शोक-सहित उन्माद का साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है। शरीर पर श्वेत सूती साड़ी है और उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बँधा हुआ है; साड़ी अस्त-व्यस्त-सी है। सिर के बाल अव्यवस्थित रूप से फैले हुए हैं और सारा शरीर आभूषणों से रहित है। वह गा रही है।]

रेशम-डोरी में मुक्ता-हार।

(बार-बार उपर्युक्त चरण गाते हुए और टहलते हुए बिना हार के ही अँगूठे को अँगुलियों पर फेरती तथा हाथों को देखती है, मानो हाथों में हार हो। फिर एकाएक खड़ी होकर बैठ जाती और गाती है।)

चुन-चुन मोती, अहो! पिरोये, मैंने पानीदार।

(बिना मोतियों के ही मोती चुनने और पिरोने का अभिनय

करती तथा बार-बार उपर्युक्त चरण गाती है। फिर एकाएक अभिनय और गाना बन्द कर खड़ी होकर सामने की ओर देखने और सिर हिलाने तथा पुनः गाने लगती है।)

लेकर गयी उसे पहनाने जब प्रियतम के पास—

(टहलते तथा सिर हिलाते हुए)

मिले न वे, हा! मेरे मन का, मिटा सभी उल्लास।

(एकाएक खड़े होकर दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँध सामने देखते हुए)

आकर उसी समय सजनी ने एक सुनायी बात।

(मुट्ठियाँ खोलकर हाथों को शीघ्रतापूर्वक नीचे से ऊपर की ओर हिलाते तथा पुनः शीघ्रतापूर्वक टहलते हुए)

लगी हृदय में अनल जिसे सुन, दग्ध हुआ सब गात।

(फिर एकाएक रुककर आँखें फाड़-फाड़ हाथों को देखते हुए)

इन हाथों में हार लिए थी, तप्त हुए इस भाँति।
रेशम-डोरी दग्ध हुई झट, चटकी मुक्ता-पाँति।

(एकाएक बैठकर गाना बन्द करते हुए सिर घुमा, चारों ओर देखती और लम्बी साँस लेकर पुनः गाने लगती है।)

हृदयानल से मोती चटके, कौन सकेगा मान ?
पर, मेरे मुक्ता ही ऐसे, नहीं सकेगा जान।

(डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों का प्रकाश फैल जाता है। गाना बन्द कर आँखें फाड़-फाड़कर सामने की ओर देखते हुए एकाएक खड़े होकर)

हैं ! हैं ! अनल ! अनल ! वही अनल किस प्रकार फैल गयी है। इतनी भीषण अनल ! (**सामने की ओर देखकर**) सामने अनल ! (**पीछे देखकर**) पीछे भी अनल ! (**दाहिनी ओर देखकर**) इस ओर भी अनल ! (**बाँयीं ओर देखकर**) इस ओर भी अनल! (**नीचे देखकर**) यहाँ भी अनल ! (**ऊपर देखकर**) वहाँ भी अनल ! चारों ओर अनल ! नीचे अनल ! ऊपर अनल ! कहाँ जाऊँ ? कहाँ जाऊँ ? आह ! जली जाती हूँ, झुलसी जाती हूँ ! (**एकाएक बैठते हुए**) भस्म की ढेरी होने पर ही शान्ति मिलेगी। (**फिर रुककर सामने की ओर देखकर एकाएक खड़ी होकर और चारों ओर तथा ऊपर-नीचे देखकर**) दसों दिशाएँ जल रही हैं ! आह ! कैसी भीषण ज्वालाएँ हैं; और धूम तक नहीं ! ज्वालाएँ ही ज्वालाएँ ! (**कुछ ठहरकर पीछे के वन-वृक्षों को देख अँगुली से दिखाते हुए जल्दी-जल्दी**) यह देख, यह देख, सखि अलका, वन किस प्रकार जल रहा है ! अरे-रे ! हरे-हरे वृक्ष शुष्क काष्ठ के समान जल रहे हैं ! कैसे लाल-लाल अंगारे हैं, कैसे लाल-लाल ! (**कुछ ठहरकर**) इन वृक्षों से भी धूम नहीं निकलता ! अंगारे ही होते हैं; पर भस्म नहीं ! (**कुछ ठहरकर**) जली जली, दग्ध हुई, मरी ! (**एकाएक पृथ्वी पर गिरकर मूर्छित हो जाती है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है। फिर पड़े-पड़े आँखें मूंदे हुए ही**) आ गये, आ गये, नाथ; देखो तो, तुम्हारे आते ही सारी अनल किस प्रकार बुझ गयी, मानो इस पर मूसलाधार वृष्टि हुई है ! (**कुछ ठहरकर**) आह ! मेरे दग्ध शरीर पर हाथ फेर रहे हो ! कितना शीतल हाथ है, प्रियतम ! हिम उसके सम्मुख कौन सी वस्तु है ! (**कुछ ठहर

कर) वही तो हाथ है न, जिसका सर्वप्रथम पाणिग्रहण के समय स्पर्श हुआ था ! वही तो हाथ है न, जिसने सुहागरात्रि के दिन आलिंगन किया था ! वही तो हाथ है न, जिसने न जाने कितने गजरे गूँथ-गूँथकर गले में पहनाये थे ! वही तो हाथ है न, जिसने न जाने कितने ताम्बूल मुख में खिलाये थे ! वही तो हाथ है न, जो ग्रीष्म में जल-विहार के समय जल को उछाल-उछालकर नेत्र मीलित कर देता था ! वही तो हाथ है न, जो वर्षा में झूले पर हाथ पकड़कर चढ़ता था ! वही तो हाथ है न, जो वसन्त के होलिकोत्सव में मुख पर गुलाल और अबीर मल देता था ! (**कुछ ठहर कर**) पकड़े रहूँगी, पकड़े रहूँगी प्राणेश, आठों पहर और चौंसठों घड़ी पकड़े रहूँगी ! अब कभी क्षणमात्र को भी हाथ न छोड़ूँगी। देखूँ फिर तुम कैसे और कहाँ भागते हो ? (**एकाएक चौंककर उठ बैठती और अचम्भित-सी इधर-उधर देखने लगती है।**) हैं, चले गये ! कहाँ चले गये, हृदयनिधि, कहाँ चले गये ? (**फूट-फूटकर रोने लगती है।**) हाय ! हाय ! इतनी निष्ठुरता ! (**कुछ ठहरकर हिचकियाँ लेते हुए**) इतनी वज्र-हृदयता ! (**चुप होकर फिर एकाएक खड़ी हो जाती है।**) देख तो, सखि अलका, तू उन से जाकर कह। (**फिर गाने लगती है और इस प्रकार गाती है मानो वह गायन किसी को सुनाकर गा रही है।**)

भीनी-भीनी मधुर गन्धयुत, चटकीं-चटकीं कुछ कलियाँ
झटक-झटक तोड़ीं निज तरु से, सुन्दर गूँथीं गलबहियाँ।

(**हाथ को बराबर, हृदय के निकट ले जाकर तोड़ने का अभिनय करते हुए गाना बन्द कर**) उन्हें शीघ्र ही ला, अलका।

फिर गाती है । बिना माला के ही हाथों को आगे कर, दिखाती हुई मानो हाथों में माला लिए हुए हो ।)

ला तू प्राणाधिक को द्रुत ला, पहनाऊँ ये गलबहियाँ
यदि विलम्ब कर देंगे वे तो सूख जायँगी ये कलियाँ ।

(फिर गाना बन्द कर उसी प्रकार हाथों को आगे किये हुए) नहीं नहीं, ठहर जा; अलका, मैं ही वहाँ चलती हूँ । कदाचित् उनके आने में विलम्ब हो जाय ।

[शीघ्रता से प्रस्थान । परदा उठता है ।]

चौथा दृश्य

स्थान : गङ्गा-तट पर हर्ष का शिविर

समय : तीसरा पहर

[गङ्गा बह रही है, उसका श्वेत नीर सूर्य की किरणों से चमक रहा है। किनारे पर सघन वृक्ष हैं और वृक्षों के नीचे दूर-दूर तक सैनिकों के ठहरने की तृण-निर्मित झोंपड़ियाँ दिखायी देती हैं। गङ्गा के किनारे वृक्षों की छाया में कुछ काष्ठ की आसन्दियाँ रखी हुई हैं। दो पर हर्षवर्द्धन और माधवगुप्त बैठे हुए हैं। दोनों ही शरीर पर लोह-कवच धारण किये हुए हैं, जिनमें सुवर्ण भी लगा है। दोनों आयुधों से सुसज्जित हैं। बायें कंधे पर धनुष, पीठ पर तरकश और कमर में खड्ग है। हाथों में गोधांगुलित्राण (गोह के चमड़े के बने हुए एक प्रकार के दस्ताने) और पैरों में चर्म के जूते हैं। सिर खुला हुआ है।]

हर्ष : राज्य ग्रहण करते विलम्ब न हुआ माधव, और सारा समय उद्विग्नता में व्यतीत होने लगा।

माधवगुप्त : इसका कारण है, परमभट्टारक।

हर्ष : क्या ?

माधवगुप्त : इस समय की असाधारणता। जब तक महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वधिक को उचित दण्ड न मिल जायगा

और राजपुत्री राज्यश्री की बन्धन-मुक्ति न हो जायगी तब तक उद्विग्नता का अन्त न होगा।

हर्ष : (**कुछ ठहरकर**) क्यों, माधव, कामरूप के कुमारराज भास्कर वर्मन का इस समय आकर मित्रता करने के संबंध में तुम्हारा क्या मत है?

माधवगुप्त : (**कुछ सोचते हुए**) कुमारराज बड़े सज्जन व्यक्ति ज्ञात होते हैं, परमभट्टारक। यदि इस देश के अन्य नरपति-गण भी आप से इसी प्रकार मित्रता करलें तो जिस रक्त-पात से आप घृणा करते हैं, उससे दूर रहकर भी आप चक्र-वर्ती सम्राट् हो जायँगे।

हर्ष : और इस साम्राज्य का कोई भी माण्डलीक राजा अपने को राज्य का स्वामी न मानकर संरक्षक-मात्र मानेगा, तथा प्रजा की सेवा में ही आठों पहर और चौंसठों घड़ी दत्त-चित्त रहेगा।

माधवगुप्त : इस संबंध में अभी कुछ नहीं कह सकता।

हर्ष : यह क्यों ?

माधवगुप्त : इसलिए परमभट्टारक, कि सब आपके समान निःस्वार्थी नहीं हैं। .

हर्ष : और कुमारराज ने मेरे प्रति जो प्रेम दर्शाया है उस सम्बन्ध में तुम्हारी क्या सम्मति है ?

माधगुवप्त : (**विचार करते हुए**) वे आप से किसी प्रकार का छल न करेंगे इतना तो अवश्य जान पड़ता है, परन्तु इस मित्रता में कितनी निस्स्वार्थता है यह मैं अभी नहीं कह सकता

हर्ष : यह किस प्रकार ?

माधवगुप्त : आपने कदाचित् नहीं सुना कि कामरूप देश का सिंहासन किसे मिले यह विवाद उस देश में छिड़ा हुआ है।

हर्ष : अच्छा, मुझे यह ज्ञात नहीं था।

माधवगुप्त : मैंने भी, आज ही कुमारराज के आगमन के पश्चात् इसका पता पाया है।

हर्ष : **(मुस्कराकर)** तो कुमारराज को आते देर न हुई और तुमने उनके आगमन के उद्देश्य का पता लगा लिया ?

माधवगुप्त : आपके साथ आँखें मूँदकर तो नहीं रहा जा सकता, महाराज।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी : **(अभिवादन कर)** जय हो, महाराजाधिराज, बलाधिकृत भण्डि आये हैं और परमभट्टारक के दर्शन किया चाहते हैं।

हर्ष : **(प्रसन्न होकर)** अच्छा, बलाधिकृत आगये; उन्हें शीघ्र से शीघ्र उपस्थित करो।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर पुनः प्रस्थान।]

हर्ष : यह बड़ा शुभ संवाद है, माधव।

माधवगुप्त : इसमें सन्देह नहीं, महाराज !

हर्ष : कान्यकुब्ज में क्या हुआ अब इसका विश्वसनीय पता मिल जायगा; राज्यश्री के भी समाचार मिलेंगे।

[हर्ष उठकर इधर-उधर टहलने लगते हैं। माधवगुप्त भी साथ में टहलता है। प्रतिहारी के संग भण्डि का प्रवेश। प्रति-

हारी भण्डि को छोड़ अभिवादन कर चला जाता है। भण्डि युवा अवस्था का ऊँचा-पूरा गेहुँएँ रंग का सुन्दर व्यक्ति है। छोटी-छोटी मूँछें हैं। हर्ष और माधवगुप्त के सदृश सैनिक वेश में है, परन्तु उसका सिर खुला हुआ नहीं है। सिर पर वह लोहे का सुवर्ण लगा हुआ शिरस्त्राण धारण किये हुए है, जिस पर सुनहरी कलगी लगी है।]

भण्डि : **(आगे बढ़ कर खड्ग निकाल मस्तक पर लगाते हुए)** स्थाण्वीश्वर का यह बलाधिकृत, परमभट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन को अभिवादन करता है।

हर्ष : **(अभिवादन का, सिर झुकाकर उत्तर दे, आगे बढ़कर भण्डि को हृदय से लगाते हुए)** बन्धु, भण्डि, न जाने तुम्हें कितने काल के पश्चात् देखा। कहो कुशलपूर्वक तो हो? आह! इतने समय में तो न जाने क्या-क्या हो गया? कहो, बन्धु, राज्यश्री का क्या संवाद है?

भण्डि : विराजिए, परमभट्टारक, सब-कुछ बताता हूँ।

[भण्डि और माधवगुप्त भी एक दूसरे को हृदय से लगाते हैं। तीनों आसंदियों पर बैठ जाते हैं।]

भण्डि : महाराज, सर्वप्रथम तो सिंहासनासीन होने के लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए।

हर्ष : मैं तो सिंहासन ग्रहण करना ही न चाहता था, भण्डि, परन्तु परिस्थिति ने विवश कर दिया।

भण्डि : वर्तमान परिस्थिति में इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता था, महाराज। **(कुछ रुककर)** अच्छा अब राज-

पुत्री का संवाद सुनिए।

हर्ष : हाँ, उसी के लिए मैं अत्यन्त आतुर हूँ।

भण्डि : आतुरता सर्वथा स्वाभाविक है, परमभट्टारक; वे अब बन्धन में नहीं हैं।

हर्ष : (कुछ संतोष से) कान्यकुब्ज में ही है ?

भण्डि : नहीं।

हर्ष : (आश्चर्य से) फिर ?

भण्डि : उनका अब तक ठीक पता नहीं लगा है महाराज। उन्हें कारागृह के दण्डपाशिक ने मुक्त कर दिया था और इतना ही सुना जाता है कि वे विन्ध्या की ओर चली गई हैं।

हर्ष : (कुछ सोचते हुए) तब तो संवाद और भी भयानक है, बन्धु, कदाचित् शोकवश उसने आत्म-हत्या न कर ली हो।

भण्डि : अशुभ बात न विचारना ही अच्छा है, महाराज। उनकी विन्ध्या में खोज करनी होगी।

[कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

हर्ष : (कुछ सोचते हुए) और कान्यकुब्ज की क्या अवस्था है ?

भण्डि : कान्यकुब्ज से अब शशांक हट गया है।

हर्ष : तो वह कर्णसुवर्ण चला गया ?

भण्डि : हाँ, उसी ओर गया है।

[कुछ देर तक फिर निस्तब्धता रहती है।]

हर्ष : (कुछ विचारते हुए) अच्छा, भण्डि, देखो मैं थोड़ी-सी सेना लेकर राजपुत्री की खोज के लिए तत्काल विन्ध्या की ओर प्रस्थान करना चाहता हूँ, और तुम मेरी शेष सेना लेकर

गौड़ पर आक्रमण करो। शशांक को महाराजाधिराज की हत्या का दण्ड तो देना ही होगा।

भण्डि : निस्सन्देह परमभट्टारक, अन्यथा संसार में आततायी ही आततायी न हो जायँगे ?

हर्ष : **(विचारते हुए)** तुम इस योजना को कैसी समझते हो ?

भण्डि : **(कुछ सोचकर)** ठीक तो जान पड़ती है, महाराज।

हर्ष : **(माधवगुप्त से)** और तुम, माधव ?

माधवगुप्त : **(विचारपूर्वक)** मुझे भी ठीक जान पड़ती है, परम-भट्टारक।

हर्ष : और देखो, भण्डि, राजपुत्री का पता लगते ही मैं कर्णसुवर्ण की ओर प्रस्थान करूँगा।

भण्डि : उसके पूर्व ही आप शशांक का या तो बन्धन-वृत्त सुन लेंगे अथवा उसे अपने सम्मुख बन्दी पावेंगे, महाराज।

हर्ष : **(प्रसन्न होकर)** बलाधिकृत भण्डि के मुख से ही इतने शीघ्र इस प्रकार के आशावादी वचन निकल सकते हैं।

भण्डि : यह आपकी कृपा है, महाराज, कि आपके हृदय में मेरे लिए ऐसा स्थान है।

हर्ष : अच्छा, बन्धु, इसमें अब विलम्ब न होना चाहिए। मैं तत्काल विन्ध्या की ओर प्रस्थान करता हूँ। राजपुत्री के सम्बन्ध में मेरे हृदय में भाँति-भाँति की शंकाएँ उठ रही हैं।

[हर्ष खड़े होते हैं। भण्डि और माधवगुप्त भी खड़े होते हैं।]

हर्ष : हाँ, जाने से पूर्व कुमारराज से बिदा लेनी होगी।

परदा गिरता है।

पाँचवाँ दृश्य

स्थान : एक वन-मार्ग

समय : सन्ध्या

[हर्ष, माधवगुप्त और हर्ष के कुछ सैनिकों का विन्ध्याटवी के राजा निर्गुहट तथा उसके सैनिकों के संग शीघ्रता से प्रवेश। हर्ष और माधवगुप्त की वही वेश-भूषा है जो चौथे दृश्य में थी, केवल वे मस्तकों पर शिरस्त्राण और लगाये हुए हैं। उनके सैनिकों की वेश-भूषा उन्हीं से मिलती हुई है, मुख्य अन्तर इतना ही है कि उनके शिरस्त्राणों पर कलगी नहीं है। निर्गुहट और उसके सैनिक कवच और शिरस्त्राण नहीं पहने हैं, परन्तु आयुध लिये हैं। उनके वस्त्र और आयुध साधारण कोटि के हैं। निर्गुहट के मस्तक पर मोरपंख की कलगी लगी हुई है। निर्गु-हट और उसके सैनिक अत्यधिक श्याम वर्ण के हैं।]

हर्ष : (निर्गुहट से) विन्ध्याधिराज, बिना आप और आपके राज्य की सहायता के इस विन्ध्य-पर्वत-प्रदेश में राजपुत्री की खोज करना मेरे लिए असम्भव-सा था। मैं आपकी कृपा का सदा अनुग्रहीत रहूँगा।

निर्गुहट : मेरा राज्य और मेरे राज्य की सारी शक्ति हर कार्य के लिए आपके आधीन है, महाराज।

हर्ष : **(चारों ओर देखकर)** राजपुत्री इसी मार्ग से गयी हैं न ?

निर्गुहट : यही पता लगा था, महाराज, उस समय यह किसी को ज्ञात ही न था कि वे कौन हैं, अन्यथा आपको इतना कष्ट ही न करना पड़ता।

हर्ष : वे विक्षिप्त थीं, निर्गुहटराज ?

निर्गुहट : विक्षिप्त तो नहीं, पर उन्हें एक प्रकार का उन्माद अवश्य था, यही संवाद मिला था, महाराज।

हर्ष : ओह ! मेरे हृदय में शंकाओं पर शंकाएँ उठ रही हैं। **(सामने की ओर देखकर)** इसी मार्ग से बढ़ा जाय न ?

निर्गुहट : हाँ, इसी मार्ग से, महाराज।

[सबका शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान। परदा उठता है।]

छठा दृश्य

स्थान : रेवा-तट

समय : प्रदोष

[सामने नर्मदा बह रही है। किनारे पर सघन वृक्ष हैं। यत्र-तत्र पर्वत के छोटे-छोटे शिखर दिखायी पड़ते हैं। अँधेरा होता जाता है। आकाश में षष्ठी का धनुषाकार चन्द्र तथा कोई-कोई तारे दिखायी देने लगे हैं। चन्द्र की किरणें नर्मदा में पड़ रही हैं। जिनसे उसका नीर चमक रहा है। कटी हुई लकड़ी के कुछ ठूँठ नर्मदा के तट पर पड़े हुए हैं। दो लकड़हारिनें कटी हुई लकड़ी का एक-एक गट्ठा बाँध रही हैं। दोनों केवल साड़ी पहने हुए हैं। दोनों गा रही हैं।]

धीरे बहु नदिया तैं धीरे बहु,
मोर पिया उतरइ दे पार। धीरे बहु०।
काहे की तेरी नइया रे,
काहे की करुवारि।
कहाँ तोरा नइया खेवइया,
के धन उतरइँ पार। धीरे बहु०।
धरमै कइ मोरी नइया रे,
सत कइ लगी करुवारि।

सइयाँ मोरा नइया खेवइया रे,

हम धन उतरब पार। धीरे बहु०।

[गाते-गाते दोनों का कुछ लकड़ियों को छोड़, तथा दो गट्ठे लकड़ी सिर पर रखकर, दाहिनी ओर प्रस्थान। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है। कुछ देर पश्चात् बायीं ओर से गाते हुए राज्यश्री का प्रवेश। उसकी वेश-भूषा और मुद्रा अभी भी पहले के समान ही है।]

सोने की सुन्दर इक माला, निज निकेत से मैं लायी।

(हाथों में कुछ न रहते हुए भी, हाथों को देखते हुए)

जड़ी हुईं इसकी लख मणियाँ, मन ही मन मृदु मुस्कायी।

(कुछ मुस्कराती है और फिर चौंककर हाथ को ध्यानपूर्वक देखते हुए)

प्रियतम-निकट चली, पर यह तो गली, गली ही में माला।

(हाथ को नाक और मुख के निकट ले जाकर ज़ोर-ज़ोर से साँस ले, साँस की वायु का स्पर्श करते हुए)

मेरी साँसों से—क्या मैं हूँ चर्म-धोंकनी, ये ज्वाला ?

(गायन बन्द कर पृथ्वी की ओर आश्चर्य से देखते हुए)

जड़ी हुईं मणियाँ सब बिखरीं, मिलीं धूलि में गिर सारी।

(फिर गायन बन्द कर पृथ्वी की ओर देखने का अभिनय करते हुए)

अहो ! बीनती, पर नहीं बिनतीं, दृष्टि, शक्ति दोनों हारीं।

(फूट-फूट कर रोने लगती है। कुछ देर में एकाएक चुप चाप खड़े होकर चन्द्रमा की ओर देखते हुए)

श्वेत धनुष है, श्वेत ! **(ज़ोर से)** अरी अलका ! ओ अलका ! देख तो इससे श्वेत ही शर छूट रहे हैं ! **(शीघ्रता-पूर्वक इधर-उधर घूमते हुए पर्वत-शिखरों के निकट जाकर)** देख-यह देख, गिरि-शृङ्गों में लग रहे हैं ! **(वृक्षों के निकट जाकर)** देख, यह देख, वृक्षों में लग रहे हैं ! **(नर्मदा के निकट जाकर)** देख, यह देख, रेवा में लग रहे हैं ! **(दोनों हाथों से अपना हृदय सँभालते दीर्घ निश्वास लेते और बैठते हुए)** और मेरे हृदय को विदीर्ण कर रहे हैं ! **(फिर कुछ देर चुप होने के पश्चात्)** अलका, उनके पास तो तीन धनुष थे न ? दो तो सदा नेत्रों के ऊपर ही रहते थे, वे तो श्वेत नहीं, श्याम थे, अलका। **(कुछ ठहरकर)** इतने पर भी उनका कार्य काला न होता था। उनके शर मुझे भी लगे थे, परन्तु उनसे तो पीड़ा न पहुँचती थी; हृदय में एक प्रकार की विचित्र गुदगुदी उठने लगती थी। **(कुछ ठहरकर)** पर, **(फिर चन्द्रमा को देखते हुए)** इसका वर्ण है श्वेत और इसके कार्य हैं काले ! **(कुछ ठहरकर सामने देखते हुए)** हाँ, उनका तीसरा धनुष, जो वे कभी-कभी अपने हाथों में उठाते थे, अवश्य भीषण था, परन्तु उसके शर बिना किसी भेद-भाव के **(फिर चन्द्रमा की ओर देखते हुए)** इस निगोड़े धनुष के समान सभी पर थोड़े ही चलते थे। **(कुछ ठहरकर)** वे तो शत्रुओं पर ही चलते थे, अलका। **(फिर चुप होकर ध्यानपूर्वक नर्मदा-तट पर पड़े हुए लकड़ी के ठूँठों को देखती है और दौड़कर उनके निकट जाकर गाना आरम्भ करती है)**

था मेरा अद्भुत उच्छ्वास।
बढ़ता जाता था वह, तन का होता जाता था नित ह्रास।
सारे अंग-अंग घुल-घुल कर, जाते थे उसके ही संग,
पर, आया है काल आज वह जब मैं होकर निपट अनंग,
बिना किसी के देखे, जाकर हृदयेश्वर की सुखमय गोद
करलूँ ग्रहण, त्यागकर यह तन, पाकर चिता-अनल-संयोग।

(गाते-गाते लकड़ी इकट्ठी कर उसकी चिता बनाती है और उसमें बैठती है। गाना बन्द कर)

जल, जल अपने आप जल उठ। **(न जलते देख)** नहीं जलेगी, नहीं जलेगी ? अरे, सतियों की तो आज्ञामात्र से तू जल उठती थी। मैं तो सती हूँ, देवि, पूर्ण सती। मनसा, वाचा, कर्मणा, हर प्रकार से शुद्ध हूँ। फिर क्यों नहीं जलती ? **(कुछ ठहरकर ऊपर देख)** तारिकाओ, तुम्हीं में से एक टूटकर इसे जलादो। **(कुछ ठहरकर एकटक तारों को देखते और सिर हिलाकर गिड़-गिड़ाते हुए)** तुम्हारी बड़ी कृपा होगी, परम दया होगी, अवर्ण-नीय अनुकम्पा होगी। अरे मेरे वर्त्तमान ताप से अग्नि-ज्वालाओं का ताप कहीं कम होगा, कहीं कम ! भस्म ही मेरा ताप शीतल करेगी ! **(कुछ देर तक फिर चुप रहती है। उसी समय नर्मदा में कुछ जलते हुए दीपक बहकर आते हैं जिन्हें देख प्रसन्न होकर चिता से उठ, दीपक की ओर जाते हुए)** तू भी न जली, तारि-काएँ भी न टूटीं, पर, नर्मदा माता ने मेरी सुन ली। **(पानी को अँगुलियों से पीछे की ओर ठेलती है। धीरे-धीरे एक दीपक किनारे पर लगता है उसे उठा चिता के निकट आकर उससे चिता**

जलाती और पुन: गाती है।)

जल-जल अनल! दुखी-जन-त्राण।

दुखियों के हित तप्त-रूप तव, सागर-सम शीतलता-खान।

अरुण-अरुण आभामय तेरी ज्वालाओं का यह उत्थान,

लहरों-सा लगता मम मन को, नाच रहा जो नाव-समान।

(धक-धक करके जलने वाली चिता को हाथ जोड़कर)

पहुँचा दो, पहुँचा दो, देवि, वहीं पहुँचा दो जहाँ वे हैं। उनके बिना यह लोक कुम्भीपाक और रौरव से भी बुरा है।

[**चिता की ओर आगे बढ़ती है।**]

[**नेपथ्य में–'राज्यश्री ! राज्यश्री !' ज़ोर का शब्द होता है।**]

राज्यश्री : (चौंककर, पीछे की ओर देख) कौन, भ्राता शिलादित्य?

[**नेपथ्य में 'हाँ, शिलादित्य ही है' पुनः यह शब्द होता है। शीघ्रता से हर्ष का प्रवेश। राज्यश्री शीघ्रता से धधकती हुई चिता की ओर बढ़ती है, पर हर्ष दौड़कर उसे पकड़ लेता है।**]

यवनिका

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान : कर्णसुवर्ण में शशांक नरेन्द्रगुप्त के प्रासाद का दालान

समय : सन्ध्या

[दालान के पीछे की भित्ति रँगी हुई है। दालान में कोई द्वार नहीं है। दोनों ओर कुम्भी और भरणी से युक्त दो स्तम्भ हैं। भित्ति से लगा हुआ सुवर्णमण्डित रत्नों से जड़ा शयन (एक प्रकार का सोफा) रखा है, जिस पर शशांक नरेन्द्रगुप्त बैठा है। शशांक की अवस्था लगभग ३५ वर्ष की है। वह गौर वर्ण का ऊँचा और हृष्ट-पुष्ट शरीर का व्यक्ति है। सिर, मूंछों और गलमुच्छों के बाल काले हैं। श्वेत रंग का उत्तरीय और अधो-वस्त्र धारण किये है। सिर खुला है और मस्तक पर केशर का त्रिपुण्ड है। कानों में कुण्डल, गले में हार, भुजाओं में केयूर, हाथों में वलय और अँगुलियों में मुद्रिकाएँ हैं। सभी भूषण सुवर्ण के रत्न-जटित हैं। शयन के पास ही एक सुवर्णमण्डित आसंदी पर यशोधवलदेव बैठा है। यशोधवलदेव की अवस्था लगभग ६५ वर्ष की है। वह भी गौरवर्ण का ऊँचा-पूरा हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति है। सिर, मूँछों और दाढ़ी के सब केश श्वेत हो गये हैं। दाढ़ी वक्ष-स्थल तक फैली हुई है। वह भी उत्तरीय और अधोवस्त्र तथा शशांक के सदृश ही भूषण धारण किये है। आयुध भी लगाये

है। शशांक और यशोधवल दोनों के सिर झुके हुए हैं। दोनों के मुख पर चिन्ता का साम्राज्य है। दो खाली आसंदियाँ शयन के सामने रखी हैं। दालान में निस्तब्धता छायी हुई है।]

यशोधवल : **(धीरे-धीरे सिर उठाते हुए)** तो वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार करना ही परम प्रतापी गुप्त-वंश के वंशज, परमभट्टारक महाराजाधिराज शशांक नरेन्द्रगुप्त का अन्तिम निर्णय है ?

शशांक : **(सिर उठाते हुए)** जिनकी गोद में मैं छोटे से बड़ा हुआ हूँ, जिनकी गोद में मैंने अगणित बाल-क्रीड़ाएँ की हैं, उनसे मैं वाक्युद्ध नहीं करना चाहता। महाबलाधिकृत, आप मेरे सेनानायक ही न होकर पितृव्य भी हैं। इस समय वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार करने के अतिरिक्त मैं कोई अन्य उपाय ही नहीं देखता।

यशोधवल : **(कुछ ठहरकर, सोचते हुए)** 'इस समय' का क्या अर्थ है, परमभट्टारक ? एक बार अधीनता स्वीकार कर वर्द्धनों को अपना स्वामी मानकर फिर उनसे विश्वासघात करने की क्या आपकी इच्छा है ? राज्यवर्द्धन की हत्या के समय आप उनके माण्डलीक न थे, परन्तु अब तो...

शशांक : **(बीच ही में)** जिस प्रकार आप मुझ से 'इस समय' का अर्थ पूछते हैं उसी प्रकार वाक्युद्ध न करने की इच्छा रहते हुए भी मैं क्या आपसे 'विश्वासघात' शब्द का अर्थ पूछ सकता हूँ ?

यशोधवल : विश्वासघात, विश्वासघात शब्द का अर्थ ? स्पष्ट है,

महाराजाधिराज। आपने अभी-अभी कहा कि इस समय वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय दिखायी नहीं पड़ता। इन शब्दों के उपयोग से ही स्पष्ट हो जाता है कि आप वर्द्धनों को केवल इस समय अपना स्वामी बना रहे हैं और समय परिवर्त्तित होते ही...होते ही ...होते ही...

शशांक : हाँ, समय परिवर्त्तित होते ही मैं इन वर्द्धनों के विरुद्ध विद्रोह करूँगा।

यशोधवल : यह क्या स्वामी के प्रति विश्वासघात न होगा ?

शशांक : जब मैं आरम्भ से ही, इसी उद्देश्य से उनकी अधीनता स्वीकार कर रहा हूँ तब विश्वासघात कैसा ?

यशोधवल : परन्तु आप विद्रोह करेंगे यह आशङ्का रखकर वे आपको अपना माण्डलीक नहीं बना रहे हैं। माण्डलीक बनाने और बनने के पश्चात् चक्रवर्ती और माण्डलीक दोनों में एक प्रकार की मित्रता हो जाती है; दोनों के बीच विश्वास की एक ग्रन्थि बँध जाती है; दोनों के सुख-दुःख, दोनोंके आनन्दकष्ट,एक हो जाते हैं। एक दूसरे को सुखी करना,कष्टों के अवसर पर एक दूसरे को सहायता पहुँचाना कर्त्तव्य हो जाता है। अधीनता स्वीकार करने के पूर्व मस्तक को उन्नत रखने के प्रयत्न और इस प्रयत्न में यदि प्राण-विसर्जन करना पड़े तो इसके लिए भी पीछे न हटने के लिए मैं सहमत हूँ। (**एकाएक आसंदी पर से खड़े हो, कोष में से खड्ग निकालते हुए**) इस खड्ग की धार अभी भी वैसी ही पैनी है,

परमभट्टारक, **(हाथों को आगे बढ़ाकर)** इन हाथों में अभी भी वैसा ही बल है, महाराजाधिराज। निकलिए, कर्ण-सुवर्ण के इस राज-प्रासाद से बाहर निकल, गुप्त-वंश के मान और मर्यादा की रक्षा कीजिए। **(एकाएक जोश ठंडा हो जाता है।)** परन्तु...परन्तु यदि एक बार आप अधीनता स्वीकार कर लेते हैं, एक बार...एक बार वर्द्धनों को अपना स्वामी बना लेते हैं तो...तो फिर 'इस समय' शब्द का आश्रय लेकर विद्रोह की कल्पना का हृदय से मूलोच्छेदन कर दीजिए। राज्यवर्द्धन की हत्या के समान अन्य किसी षड्-यन्त्र के विचार को भी हृदय से निकाल फेंकिए। **(लम्बी साँस लेकर आसंदी पर बैठ जाता है।)**

शशांक : **(सिर नीचा कर, कुछ सोचते हुए फिर सिर उठाकर)** महाबलाधिकृत, आपसे वाक्युद्ध की इच्छा न रहते हुए भी मुझे आज करना पड़ेगा, इसका मुझे बड़ा खेद है। देखिए, आर्य, जीवन के आपके और मेरे दृष्टिकोण में बड़ा भारी अन्तर है। जिसे आप मेरा और मेरे वंश का गौरव कहते हैं उस गौरव की रक्षा यदि न होती हो तो आप प्राण देकर इस सङ्कट से छुटकारा पाने के लिए तैयार हैं, परन्तु उस गौरव की रक्षा के लिए मैं इससे कहीं आगे बढ़ना चाहता हूँ। रही आपकी यह स्वामी-सेवक सम्बन्ध की व्याख्या, सो यह तो मेरी समझ में ही नहीं आती। हमारा और वर्द्धनों का स्वामी-सेवक-सम्वन्ध कैसा ? वे इस समय प्रबल हो गये हैं, अतः हम तब तक के लिए उनकी अधीनता स्वीकार कर

लेते हैं जब तक हमारा बल नहीं बढ़ जाता। अब रहा आपका विश्वासघात, सो आर्य, मैं अपने किसी दैहिक सुख अथवा स्वार्थ के लिए किसी से विश्वासघात करूँ तो पातकी हूँ। किसी महान् कार्य की सिद्धि के लिए, किन उपायों का आलम्बन किया गया, यह बात गौण है; कार्य की सिद्धि मुख्य बात है। **(धीरे-धीरे)** राज्यवर्द्धन की हत्या किसी महान् कार्य के लिए की गई थी। यदि वर्द्धनों के विरुद्ध विद्रोह और शिलादित्य की हत्या भी किसी महान् कार्य के लिए की जाय तो ये कर्म पाप न होकर पुण्य ही होंगे। फिर, महाबलाधिकृत, आप तो केवल मेरे और मेरे वंश के गौरव की रक्षा के लिए वर्द्धनों से युद्ध और युद्ध में प्राण-त्याग करना चाहते हैं, परन्तु उनकी अधीनता स्वीकार करने में मेरा तो इससे भी कहीं महान् उद्देश्य है, जो इस युद्ध और प्राण-त्याग से सिद्ध नहीं हो सकता।

यशोधवल : वह क्या ?

शशांक : आर्य-धर्म की रक्षा। आप जानते हैं, शिलादित्य और उसका सहचर गुप्त-वंश का वह कुल-कलङ्क माधवगुप्त दोनों बौद्ध हैं। यदि इस समय मैंने शिलादित्य से युद्ध किया तो उसकी विजय निश्चित है। मेरा युद्ध में निधन होते ही गुप्त-साम्राज्य माधवगुप्त के हाथ में जायगा, वह वर्द्धनों का माण्डलीक होगा और उसके माण्डलीक होते ही सारे उत्तरापथ का राज्य-धर्म पुनः बौद्ध-धर्म होगा और पुनः आर्यावर्त पर बौद्ध-धर्म की ध्वजा फहराने लगेगी। इस

समय वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार करने और अवसर पाते ही उसके विरुद्ध विद्रोह कर शिलादित्य को भी राज्यवर्द्धन के मार्ग से ही भेज देने से आर्य-धर्म की भी रक्षा हो जायगी। यह तो सौभाग्य का विषय है कि वर्द्धन इस समय मुझे माण्डलीक बना लेना ही राज्यवर्द्धन की हत्या का समुचित दण्ड मानते हैं और युद्ध अथवा मेरा निधन उन्हें इष्ट नहीं हैं।

यशोधवल : परन्तु...

[प्रतिहारी का प्रवेश। उसकी वेश-भूषा स्थाण्वीश्वर के प्रतिहारी के सदृश ही है।]

प्रतिहारी : **(अभिवादन कर)** परमभट्टारक की जय हो, गुप्त-चराधिपति परमभट्टारक के दर्शन करना चाहते हैं।

शशांक : उन्हें भेज दो।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर प्रस्थान। गुप्तचराधिपति का प्रवेश। वह अभिवादन करता है। वह लगभग ३० वर्ष की अवस्था का गेहुँएँ रङ्ग का साधारण उँचाई और शरीर का व्यक्ति है। वेश-भूषा यशोधवल के समान है।]

शशांक : कहो, क्या स्थाण्वीश्वर अथवा कान्यकुब्ज का कोई संवाद है ?

गुप्तचराधिपति : हाँ, परमभट्टारक, अभी-अभी बड़े महत्त्व का संवाद आया है।

शशांक : बैठ जाओ और कहो।

गुप्तचराधिपति : **(एक आसंदी पर बैठकर)** राज्यश्री के मिल

जाने तथा शिलादित्य को उसे लेकर कान्यकुब्ज जाने का संवाद तो आपके पास पहुँच ही चुका होगा।

शशांक : हाँ,उसे तो यथेष्ट समय भी हो चुका।

गुप्तचराधिपति : अब संवाद है कि राज्यश्री का उन्माद अच्छा हो गया है और शिलादित्य उसे कान्यकुब्ज के सिंहासन पर बैठाना चाहते हैं।

शशांक : (**चौंककर**) स्त्री को राज्यसिंहासन पर ! एक विधवा स्त्री को !

गुप्तचराधिपति : हाँ, परमभट्टारक, यही संवाद है।

शशांक : (**यशोधवल से**) देखा, आर्य, देखा, यह बौद्ध-धर्म की स्थापना का श्रीगणेश है। गौतम ने पुरुषों के समान स्त्रियों को संन्यास का अधिकार दिया था, शिलादित्य पुरुषों के समान स्त्रियों को सिंहासनाधिकार देना चाहता है। आह ! यह वर्णाश्रम और स्त्री-पुरुषों के कर्त्तव्यों में विभेद मानने वाले आर्य-धर्म पर उस बौद्ध-धर्म का,जिसमें न वर्ण है और न आश्रम, जिसमें न पुरुषों के कर्त्तव्य भिन्न हैं और न स्त्रियों के, प्रधान आक्रमण है। देखता हूँ, देखता हूँ कि शिलादित्य इस देश में पुनः बौद्ध-धर्म की स्थापना में सफल होता है या मैं आर्य-धर्म की रक्षा में।

[नेपथ्य में भट्टचारण का गायन सुन पड़ता है। शशांक बड़े ध्यान से इस गायन को सुनता है। पल-पल पर उसके मुख पर उत्साह के भाव बढ़ते जाते हैं। यशोधवल सिर नीचा किये हुए इस गायन को सुनता है। उसके नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं।

गुप्तचराधिपति कभी शशांक का मुख देखता है और कभी यशोधवल का।]

कहाँ था उस प्रताप का पार ?

गुप्त-वंश में अमला-धवला करतीं कीर्ति बिहार।
थे उद्भासित चण्ड-शौर्य के शुभ्र तेज से अंग,
परम पुनीत धर्मधृति अविचल रखती शान्ति अभंग,
कण-कण में थी ललित कला-रति करती मधु-संचार।
कहाँ था उस प्रताप का पार ?

पिता-पुत्रयुत चन्द्रगुप्त थे जिनके शौर्य निधान,
वे थे उदधि-गभीर वीर अति उदधि गुप्त मतिमान,
हिमगिरि से दक्षिण वारिधि तक फैलाया अधिकार।
कहाँ था उस प्रताप का पार ?

हूण-युद्ध की सघन निशा में स्कन्दगुप्त असिधार,
भारत-गगन-हृदय पर ध्रुव-सी चमकी थी अविकार,
परिणय-सुख तज, था अपनाया केवल शौर्य अपार।
कहाँ था उस प्रताप का पार ?

शशांक : (उत्साह से गद्‌गद् होकर) यह गुप्त-वंश का कीर्ति-गायन है। **(यशोधवल से)** अभी भी, अभी भी, आर्य, देश में भट्टचारण मेरे वंश की कीर्ति गाते फिरते हैं। अभी भी देश गुप्तों को नहीं भूला है, क्यों ?

यशोधवल : और इतने पर भी, इतने पर भी, परमभट्टारक, वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार करने के पक्ष में हैं।

शशांक : (कुछ सोचते हुए) मैं......मैं, आर्य, मैं हृदय से शासित

न होकर मस्तिष्क से शासित होता हूँ। (कुछ ठहरकर) अच्छा, अब शीत बढ़ रही है। कक्ष में चला जाय।

[तीनों का प्रस्थान। स्वच्छ वस्त्रधारी दासों का प्रवेश। दो शयन को तथा चार चारों आसंदियों को उठाकर ले जाते हैं। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान : स्थाण्वीश्वर के राज-प्रासाद का एक कक्ष

समय : सन्ध्या

[यह कक्ष भी उसी प्रकार का है जैसा पहले अंक के पहले दृश्य में था। दाहिनी और बांयी ओर की भित्तियों के सिरे पर एक-एक द्वार है, जिनके बाहर उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है। डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणें उसे रँग रही हैं। उस कक्ष और इस कक्ष में अंतर केवल इतना ही है कि इसकी भित्तियों का रङ्ग उससे भिन्न है और आसंदियों के स्थान पर इसके बीच में काष्ठ का एक शयन रखा है। इस पर भी गद्दी बिछी है और तकिये लगे हैं, जो श्वेत वस्त्र से ढँके हैं। शयन के दोनों ओर कुछ आसंदियाँ रखी हुई हैं। शयन पर राज्यश्री बैठी हुई है अब वह श्वेत रंग की कौशेय साड़ी पहने है और उसी रङ्ग का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। भूषणों से अभी भी उसका शरीर रहित है। उसके वस्त्र अब अस्त-व्यस्त नहीं हैं, न केश ही फैले हुए हैं, मुख पर उन्माद के चिह्न भी नहीं हैं, पर, शोक अभी भी दृष्टिगोचर होता है और शोक के साथ अत्यधिक गाम्भीर्य। शयन के निकट की आसंदी पर उसकी सखी अलका बैठी है। अलका गेहुँएँ वर्ण की सुन्दर युवती है। वेश-भूषा राज्यश्री के

समान ही है, केवल इतना अन्तर है कि इसके मस्तक पर टिकली है। राज्यश्री तम्बूरा बजाकर गा रही है।]

सच्चा इष्ट एक बलिदान।
इसी इष्ट से मानव-तन का हुआ सृष्टि में श्रेष्ठ स्थान।
धन को जब धनवान,
विद्या को विद्वान्,
बल को जब बलवान,
करते हैं बलिदान,
तब उनके सुख का शब्दों में हो सकता क्या कभी बखान ?
क्षुधितों, दलितों की सेवा में जो तज देता है निज प्रान।
उस बड़भागी के सम जग में किसका है सौभाग्य महान् ?

[**गान पूर्ण होने पर तम्बूरा रख देती है।**]

अलका : कितना सुन्दर गायन है, राजपुत्री; और फिर कितनी सुन्दरता से आपने गाया है।

राज्यश्री : (**लम्बी साँस लेकर**) यह गान-विद्या ही तो मेरी शांति का एक अवलम्ब है, अलका। अत्यधिक शोक में जब मुझे उन्माद-सा हो गया था तब कारागृह और विन्ध्यपर्वत-प्रदेश, दोनों ही स्थलों पर इसी से थोड़ी शान्ति मिलती थी। (**कुछ ठहरकर, सोचते हुए**) ... पर नहीं, उस समय इसके अतिरिक्त एक और भी अवलम्ब था।

अलका : वह क्या, राजपुत्री ?

राज्यश्री : तुम्हारा नाम। उस समय का मुझे पूर्ण स्मरण तो नहीं है, परन्तु कुछ-कुछ स्मरण अवश्य है। मुझे स्मृति आती

है कि अनेक बार मुझे ऐसा भास होता था कि तुम मेरे संग ही हो और मैं जो-कुछ कहना चाहती, तुम्हीं को सम्बोधन कर कहती थी।

अलका : इसका कारण आपका मुझ पर अत्यधिक प्रेम है, राजपुत्री।

राज्यश्री : क्यों, अलका ? तुम्हारा भी तो मुझ पर उसी प्रकार का प्रेम है। क्या मैंने सुना नहीं है कि मेरे वियोग में तुम्हारी क्या दशा थी ? अब यदि मैंने भिक्षुणी होने का विचार किया है तो तुमने भी मेरा संग देने का निश्चय कर डाला **(लम्बी साँस लेकर, नेत्रों में आँसू भर)** या तो वे जीवन के चिर-संगी थे या तुम हो।

अलका : **(आँसू भरकर)** राजपुत्री, परमभट्टारक की बात तो उनसे ही थी। वे दिन भी अब स्वप्न हो गये। आपके तो इस दुःख का वर्णन ही नहीं हो सकता, राजपुत्री, परन्तु, आपकी वर्तमान अवस्था देखकर मेरे हृदय की भी जो अवस्था है वह मैं ही जानती हूँ।

राज्यश्री : **(आँसू बहाते हुए)** क्या करोगी, अलका, अपना-अपना भाग्य ही तो है। वह सुख कदाचित् अत्यधिक था। दैव भी कदाचित् उसे न सह सकता था। उसे भी कदाचित् उससे ईर्षा उत्पन्न हो गयी थी। **(कुछ ठहरकर, चौंककर आँसू पोंछते हुए)** पर, नहीं, सखि, मैंने अब जिस पथ पर चलने का विचार किया है उसमें तो शोक का कोई स्थान नहीं। ये समस्त लौकिक सुख अनित्य हैं, स्वप्न हैं। तुम जानती ही

हो कि भगवान् बुद्ध के चार सत्यों का ज्ञान और अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण, जो यथार्थ में सर्वस्व बलिदान कर लोक-सेवा करना है, किसी दुःख को पास फटकने ही नहीं दे सकता। जब मैं इस पथ की पथिक होने चली हूँ तब शोक का मेरे निकट स्थान ही कहाँ ?

अलका : आप जो कुछ कहती हैं, ज्ञान-दृष्टि से सत्य होने पर भी, उसे व्यवहार में लाने के लिए कदाचित् कुछ समय लगेगा। इसलिए हम दोनों भगवान् बुद्ध के उपदेश का बार-बार स्मरण करके भी फिर उसी शोक-नद में बहने लगती हैं।

राज्यश्री : हाँ, अलका, जो वर्षों तक होता रहा है उसे एकाएक विस्मृत नहीं किया जा सकता। किसी बात का ज्ञान एक बात है और ज्ञान को पूर्णरूप से कार्य में परिणित करना दूसरी। परन्तु, इस ज्ञान-रूपी नौका के खेने में यदि हम दोनों एक-दूसरे की सहायता करती रहीं तो एक न एक दिन इस शोक-नद को पार कर ही लेंगी।

[**कुछ देर को दोनों चुप रहती हैं।**]

अलका : राजपुत्री, परमभट्टारक तो आपको कान्यकुब्ज के सिंहासन पर बैठाना चाहते हैं न ?

राज्यश्री : हाँ, उन्हें सदा इसी प्रकार की नयी-नयी बातें सूझा करती हैं, परन्तु यह असम्भव बात है।

अलका : यह क्यों ?

राज्यश्री : पति के साथ पत्नी का राज्याभिषेक होना दूसरी

बात है परन्तु एक तो पृथक् रूप से अब तक इस देश में किसी स्त्री का राज्याभिषेक नहीं हुआ, दूसरे मैं विधवा। विधवा को आर्य-समाज में किसी भी मंगल-कार्य में भाग लेने का अधिकार नहीं। और, राज्य में तो अभिषेक से लेकर मृत्यु तक मंगल ही मंगलकार्य करने पड़ते है। तीसरे मैं भिक्षुणी होने जा रही हूँ और वे मुझे महिषी बनाने चले है। यहाँ से वहाँ तक सब असंगत बाते। कान्यकुब्ज के सिंहासन को मैं कदापि स्वीकार नहीं कर सकती।

अलका : उसे कौन स्वीकृत करेगा ?

राज्यश्री : शिलादित्य।

अलका : परन्तु मैंने तो सुना है कि वे कान्यकुब्ज का राज्य इस-लिए नहीं ग्रहण करना चाहते कि वह कनिष्ठा भगिनी का राज्य है।

राज्यश्री : ये सब निरर्थक बातें हैं। उन्हें कान्यकुब्ज का सिंहा-सन स्वीकार करना ही होगा।

[हर्ष का दाहिनी ओर के द्वार से प्रवेश। अब वे श्वेत कौशेय के उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं। दोनों की सुनहरी किनार है। उत्तरीय के कोनों पर राजहंस बने हैं। साथ ही कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ भी पहने हैं। सब भूषण सुवर्ण के हैं जो रत्नों से जगमगा रहे हैं। सिर के बाल अब लम्बे हो गये हैं और सिर पर अर्द्ध चन्द्राकार-रूप में पगड़ी के समान पुष्पमाला बँधी हुई है। मस्तक पर केशर का त्रिपुण्ड है और पैरों में काष्ठ की पादुकाएँ। पादुकाओं में सुवर्ण और

रत्न लगे हुए हैं। हर्ष को देखकर राज्यश्री और अलका दोनों खड़ी हो जाती है।]

हर्ष : (शयन की ओर बढ़ते हुए) कहो, राज्यश्री, कैसा स्वास्थ्य है ? (शयन पर बैठते हैं।)

राज्यश्री : अच्छी ही हूं। (वह भी शयन पर बैठती है।)

हर्ष : (अलका से) तुम भी बैठो, अलका, इस समय राजपुत्री को और तुम्हे एक आवश्यक संवाद सुनाने के लिए आया हूँ।

अलका : जो आज्ञा, परमभट्टारक। (एक आसंदी पर बैठ जाती है।)

हर्ष : राज्यश्री, मैंने तुम्हारे अभिषेक का मुहूर्त्त निकलवा लिया है। अक्षय तृतीया को यह अक्षय कार्य किया जायगा।

राज्यश्री : (व्यंग से) मेरे भिक्षुणी-पद का अभिषेक न ?

हर्ष : (जल्दी से) नहीं नहीं, तुम्हारे कान्यकुब्ज के राज्य-पद का अभिषेक। तुम्हारी इच्छानुसार धर्म-शिक्षा के लिए मैंने तुम्हारे अध्यापक की नियुक्ति कर दी है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हारा भिक्षुणी होना भी मुझे स्वीकृत है।

राज्यश्री : शिलादित्य, तुम्हारी अवस्था मुझसे कुछ अधिक है, अतः मैं यह कैसे कहूँ कि तुम कई बार बालकों की-सी बातें करते हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मेरे इस अभिषेक के सम्बन्ध में तुम कुछ इसी प्रकार की बातें किया करते हो।

हर्ष : इसमें बालकों की-सी क्या बात है ?

राज्यश्री : और नहीं तो क्या है ?

हर्ष : पर, क्यों ?

राज्यश्री : क्यों क्या, कहीं ऐसा हो सकता है ?

हर्ष : क्यों नहीं हो सकता ?

राज्यश्री : आज तक कभी ऐसा हुआ है ?

हर्ष : आज तक कभी कोई राजपुत्री भिक्षुणी हुई है ?

राज्यश्री : राजपुत्री चाहे न हुई हो, सहस्रों स्त्रियाँ हुई हैं। परन्तु पति के संग को छोड़कर, पृथक् रूप से आज-पर्यन्त इस देश में किसी स्त्री का राज्याभिषेक नहीं हुआ।

हर्ष : पति के संग तो हुआ है न ?

राज्यश्री : वह दूसरी बात है।

हर्ष : क्यों, दूसरी बात क्यों है ?

राज्यश्री : इसलिए कि उस समय यथार्थ में पति का राज्याभिषेक होता है, पत्नी का नहीं; वह तो उनकी सहधर्मिणी के समान केवल उनके संग सिंहासन पर बैठी रहती है।

हर्ष : और बिना पत्नी के अकेले पति का राज्याभिषेक होता है या नहीं ?

राज्यश्री : क्यों नहीं होता ? अभी तुम्हारा ही हुआ है।

हर्ष : तब पत्नी का भी पति के समान पृथक् रूप से राज्याभिषेक क्यों नहीं हो सकता ?

राज्यश्री : **(तीक्ष्ण स्वर में)** शिलादित्य, शिलादित्य, तुम कैसी बातें करते हो; कहीं विधवा का राज्याभिषेक हो सकता है ?

हर्ष : विधुर का हो सकता है या नहीं ?

राज्यश्री : परन्तु विधवा को किसी मंगल-कार्य में भाग लेने का अधिकार नहीं है ।

हर्ष : यह विधवा के प्रति घोर अन्याय है । जो विधवा समाज में ब्रह्मचर्य और सेवा का अद्‌भुत आदर्श उपस्थित करने के लिए समस्त लौकिक सुखों को तिलांजलि देकर आजन्म तपस्या करती है, उसे मंगल-कार्यों में भाग लेने का अधिकार नहीं ! आह ! सच तो यह है कि प्रत्येक मंगल-कार्य का आरम्भ ही आर्यों को उस तपस्विनी के हाथों कराना चाहिए । वह तो समाज के लिए साक्षात् देवी है, राज्यश्री, साक्षात् देवी ।

राज्यश्री : **(कुछ ठहरकर)** शिलादित्य, इन सब बातों में तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है, इनका निर्णय परम्परागत परिपाटी से होता है ।

हर्ष : जो परिपाटी तर्क के सम्मुख नहीं ठहर सकती उसका कोई मूल्य नहीं है ।

राज्यश्री : यह तुम्हारा हठ है ।

हर्ष : कदापि नहीं, मैं किसी बात पर निरर्थक हठ नहीं करना चाहता । या तो तर्क कर कोई मुझे यह सिद्ध करदे कि मेरा अमुक मत ठीक नहीं है, या वह मेरा मत मान ले । अमुक बात आज-पर्यन्त नहीं हुई है इसलिए वह आज, और भविष्य में भी नहीं हो सकती, यह मैं नहीं मानता । यदि कोई बात आज-पर्यन्त नहीं हुई है और वह उचित है

तो अवश्य होनी चाहिए। अब तक स्त्रियाँ पुरुषों की अनुगामिनी रही हैं। पुरुषों का स्थान समाज में ऊँचा और स्त्रियों का निम्न माना गया है। भगवान बुद्ध ने स्त्रियों को पुरुषों की अनुगामिनी न मानकर, संगिनी मान, उन्हें धार्मिक कार्यों में पुरुषों के समान ही अधिकार दे दिये हैं। सद्धम्म में यदि पुरुष भिक्षु हो सकते हैं तो स्त्रियाँ भी भिक्षुणी। मैं राज-काज में भी स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने की परिपाटी चलाना चाहता हूँ। यदि पुरुष सिंहासनासीन हो सकते हैं, तो स्त्रियाँ भी, विधवाएँ भी। मेरे इस प्रयत्न की सफलता तुम पर अवलम्बित है। तुम्हारा यह ज्येष्ठ भ्राता, तुम्हारा यह प्यारा भ्राता शिलादित्य, तुमसे कान्य-कुब्ज के सिंहासन को ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करता है। **(उत्तरीय को दोनों हाथों से फैलाकर राज्यश्री के आगे करते हुए)** नहीं, नहीं; हर्ष तुम से इसे स्वीकार करने की भिक्षा माँगता है।

[राज्यश्री शीघ्रतापूर्वक अपने हाथ से हर्ष के उत्तरीय को समेट लेती है। उसके नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं। वह सिर झुका लेती है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।]

राज्यश्री : (धीरे-धीरे) शिलादित्य, तुमने मुझे बड़ी कठिन परिस्थिति में डाल दिया।

हर्ष : किस प्रकार, राज्यश्री ?

राज्यश्री : (सिर उठाते हुए) परम्परागत परिपाटी को यदि मैं एक ओर रख भी दूँ तो तुम जानते हो, मैं अपने दुःख से

निवृत्त होने के लिए पहले चितारोहण करना चाहती थी।

हर्ष : जानता हूँ।

राज्यश्री : वह तुमने न करने दिया, तब मैंने भिक्षुणी होने का विचार किया।

हर्ष : यह भी जानता हूँ।

राज्यश्री : और उसके स्थान पर तुम मुझे राज्य ग्रहण करने के लिए कह रहे हो। कह रहे हो इतना ही नहीं, अत्यधिक आग्रह कर रहे हो, और आग्रह कर रहे हो इतना ही नहीं, भिक्षा माँगकर बाध्य कर रहे हो।

हर्ष : देखो, राज्यश्री, मेरी भी इच्छा राज्य ग्रहण करने की न थी। मैं आर्य-धर्म का अनुसरण कर, संन्यासी हो, वन में जाकर केवल अपने कल्याण का चिन्तन नहीं करना चाहता था, क्योंकि वह तो स्वार्थ हो जाता। मै भी वास्तव में भिक्षु होकर मठ में निवास कर संसार का कल्याण करना चाहता था। संसार के कल्याण में दत्तचित्त रहने पर अपना कल्याण तो आप-से-आप हो जाता है, उसके लिए चिन्तन करने के स्वार्थ में भी पड़ने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु मैंने वह भी न कर उसी कार्य को, राज्य ग्रहण करके, करने का निश्चय किया है। तुम भी तो भिक्षुणी होकर संसार के कल्याण में ही दत्तचित्त होना चाहती हो न ?

राज्यश्री : अवश्य।

हर्ष : वह तुम राज्य ग्रहण करने पर, यदि उसमें ममत्व न रखोगी तो, भिक्षुणी होने की अपेक्षा कहीं अधिक कर

सकोगी। अन्त में यही सोचकर मैंने भी राज्य ग्रहण कर लिया और इतने ही दिनों के अनुभव से मैं देखता हूँ कि मैंने राज्य ग्रहण कर कोई भूल नहीं की है।

[राज्यश्री फिर कोई उत्तर नहीं देती और सिर झुका लेती है। कुछ देर को फिर निस्तब्धता रहती है।]

राज्यश्री : (धीरे-धीरे) क्या तुम्हारा विश्वास है कि मुझसे राज-काज चल सकेगा ?

हर्ष : तुम्हारे सदृश विचक्षण बुद्धिमती और विदुषी नारी से यदि राज-काज नहीं चलेगा तो फिर किससे चलेगा ? मुझे इस बात का विश्वास है कि तुम यह आदर्श उपस्थित कर सकोगी कि महिलाएँ भी उसी प्रकार राज-काज कर सकती हैं जिस प्रकार पुरुष, वरन् उनसे भी कहीं अच्छा। यदि मुझे इतना विश्वास न होता तो मैं तुमसे इस सम्बन्ध में इतना आग्रह न करता। फिर इस विषय में मैंने एक और निश्चय किया है।

राज्यश्री : वह क्या ?

हर्ष : मैं स्वयं तुम्हारे संग कान्यकुब्ज में रहूँगा।

राज्यश्री : और स्थाण्वीश्वर का राज्य ?

हर्ष : वह कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य होगा।

राज्यश्री : (चौंककर) क्या कहते हो, क्या कहते हो, शिलादित्य ! यह त्याग ! यह अपूर्व त्याग !

हर्ष : इसमें इतना ही तो त्याग है न कि, मैं सम्राट् न हुआ और तुम सम्राज्ञी हुईं ?

राज्यश्री : यह क्या छोटा त्याग है? एक-एक कौड़ी के लिए सहोदर भ्राता एक-दूसरे का सिर काटने को उद्यत रहते हैं और तुम इतने बड़े साम्राज्य को ठोकर मार रहे हो।

हर्ष : राज्य का इस दृष्टि से मेरे सामने कभी महत्त्व ही नहीं रहा। मैंने उसे राजा के पास प्रजा की धरोहरमात्र माना है। **(कुछ ठहरकर)** तुम्हारे सम्राज्ञी और मेरे माण्डलीक होने में एक और बड़ा भारी उद्देश्य है।

राज्यश्री : वह क्या?

हर्ष : तुम्हें स्मरण होगा कि मैंने तुम से कहा था कि भारतवर्ष का कल्याण भारत को एक साम्राज्य में परिणत करने से ही हो सकता है।

राज्यश्री : हाँ, कहा था।

हर्ष : और तुम यह भी जानती हो कि मैं रक्तपात के विरुद्ध हूँ, क्योंकि एक तो सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य-वर्ग के कृत्यों में रक्तपात को मेरी दृष्टि से कोई स्थान ही नहीं है, फिर रक्तपात द्वारा जिस साम्राज्य की स्थापना होती है वह कभी चिर-स्थायी नहीं रह सकता।

राज्यश्री : तुम्हारे इन मतों को मैं भली भाँति जानती हूँ और तुम्हारे इन मतों से सहमत भी हूँ।

हर्ष : ऐसी परिस्थिति में, यदि मैं सारे देश में एक साम्राज्य की स्थापना के उद्देश्य को स्पष्ट कर स्वेच्छापूर्वक तुम्हारा माण्डलीक हो गया तो अन्य राज्यों के लिए एक उदाहरण हो जायगा और मैं अन्य राज्यों को समझा-बुझाकर बिना

रक्तपात के ही साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न करूँगा।

[**कुछ देर तक फिर निस्तब्धता रहती है।**]

हर्ष : फिर अब तो तुम्हें स्वीकार है न ?

राज्यश्री : (**कुछ सोचते हुए**) मैं क्या कहूँ, कुछ कहा नहीं जाता। न जाने भाग्य मुझे कहाँ ले जा रहा है। चितारोहण से सिंहासनारोहण तक तो बात आ गयी है। भविष्य में न जाने और क्या होना है! (**कुछ ठहरकर**) तुमने मुझे इस प्रकार विवश किया है कि मैं कुछ कह ही नहीं सकती। जो तुम्हारी इच्छा हो, करो। तुम ज्येष्ठ भ्राता हो। मैं तुम्हारी आज्ञा का अनुसरण करूँगी। (**आँखों में आँसू भर आते हैं।**)

[**परदा गिरता है।**]

तीसरा दृश्य

स्थान : कान्यकुब्ज का मार्ग

समय : प्रातःकाल

[दूरी पर अनेक खण्डों के भवन दिखायी देते हैं। चौड़ा मार्ग है। अनेक पुरवासियों का एक समूह में बाँयीं ओर से प्रवेश। इस समूह में सभी वर्णों और अवस्थाओं के व्यक्ति हैं। सब श्वेत रंग के उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं; कोई कौशेय के और कोई सूती ; किसी के वस्त्र मोटे और किसी के पतले हैं; किसी-किसी के वस्त्रों पर सुनहरा और रुपहरा काम है। ब्राह्मण आभूषण नहीं पहने हैं। चौड़ी शिखाओं के अतिरिक्त उनके सिर के शेष केश घुटे हुए हैं। किसी-किसी की दाढ़ी-मूँछें भी घुटी हैं। वे मस्तक, वक्षस्थल और भुजाओं पर भस्म के त्रिपुण्ड लगाये हैं। किसी-किसी का मोटा यज्ञोपवीत भी दिखता है। अन्य वर्णों के व्यक्ति मस्तक पर केशर का त्रिपुण्ड लगाये हैं, तथा कुण्डल, हार, केयूर, वलय, मुद्रिकाएँ आदि आभूषण भी पहने हैं। सबके आभूषण सुवर्ण के हैं और किसी-किसी के भूषणों में रत्न भी जड़े हैं। आगे चलनेवाले के हाथ में चाँदी का एक थाल है, जिसमें कुंकुम, अक्षत, श्रीफल, कर्पूर और पुष्पमालाएँ हैं। दाहिनी ओर से चार ब्राह्मणों का प्रवेश।

चारों की अधेड़ अवस्था है। इनकी वेश-भूषा भी समूह के ब्राह्मणों के सदृश ही है।]

दाहिनी ओर से आया हुआ एक ब्राह्मण : (क्रोधित और उत्तेजित स्वर में) अच्छा, अन्त में कान्यकुब्ज के भी प्रायः सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति राज्यश्री के अभिषेक के इस घोर अधर्म-काण्ड में सहयोग करने को तैयार हो गये ?

उसका दूसरा साथी : और ब्राह्मण भी ?

समूह का एक ब्राह्मण : (आगे बढ़कर) देखिए, बन्धुओ, आप वृथा का क्रोध कर रहे हैं।

दाहिनी ओर का तीसरा : (क्रोध से) वृथा का क्रोध कर रहे हैं! अरे! धर्म के इस नाश का अवलोकन करके भी यदि ब्राह्मण को क्रोध न आया तो किसे आयेगा ?

चौथा : (क्रोध से काँपते हुए) तुम क्रोध की बात करते हो। यदि ब्राह्मणों में सच्चा ब्राह्मणत्व होता, अरे ! यदि एक में भी होता तो वह शाप देकर इस सारे आयोजन को भस्म कर देता।

समूह का पहला ब्राह्मण : ब्राह्मणो में जब से क्रोध का प्रादुर्भाव हुआ है तब से दूसरों का नाश करना तो दूर रहा उनका स्वयं नाश हो रहा है।

समूह का दूसरा ब्राह्मण : (आगे बढ़कर) हाँ, हाँ, हम लोगों के पतन का आरम्भ यथार्थ में दुर्वासा के समय से ही हुआ। उन्होंने जब वृथा के लिए राजा अम्बरीष को शाप दिया और जब भगवान का सुदर्शन-चक्र उन पर आक्रमण करने

के लिए आगे बढ़ा तब तीनों लोकों में भागने पर भी उन्हें शान्ति न मिली और अन्त में ब्राह्मण होकर उन्हें क्षत्रिय अम्बरीष की शरण आना पड़ा।

उसका पहला साथी : हाँ, वहीं से ब्राह्मणों का पतन आरम्भ हुआ वहीं से; नहीं तो ब्राह्मण कभी क्षत्रिय के शरण जा सकता था ?

समूह का तीसरा ब्राह्मण : (आगे बढ़कर) फिर बन्धुओ, यह तो बतलाइए कि हम अधर्म का कौनसा कार्य कर रहे हैं ?

दाहिनी ओर का पहला : स्त्री का राज्याभिषेक अधर्म नहीं तो क्या है ?

उसका तीसरा साथी : वह भी विधवा का, जिसे किसी भी मंगल-कार्य में भाग लेने का अधिकार नहीं है।

उसका चौथा साथी : आज-पर्यन्त कभी ऐसी घटना हुई है ?

दूसरा : सर्वथा शास्त्र-निषिद्ध है, सर्वथा शास्त्र-निषिद्ध। नहीं तो महाराज दशरथ की मृत्यु और राम के वनवास के पश्चात् जब भरत ने अवध का राज्य ग्रहण न किया तब राम की पादुकाएँ अवध के सिंहासन पर क्यों रखी जातीं, कौशल्या का अभिषेक न होता ? महाराज पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् अन्धे धृतराष्ट्र हस्तिनापुर के सिंहासन पर क्यों बैठते, कुन्ती का अभिषेक न होता ?

तीसरा : हाँ, हाँ, भारत के इतिहास में एक भी तो ऐसा दृष्टान्त दिखा दीजिए जहाँ पृथक् रूप से स्त्री का, और वह भी विधवा स्त्री का, राज्याभिषेक हुआ हो !

समूह का तीसरा : परन्तु, किसी भी शास्त्र में यह कहीं नहीं लिखा कि स्त्री और विधवा का अभिषेक न किया जाय।

समूह का पहला : और फिर परिस्थिति के अनुसार शास्त्रों में सदा परिवर्त्तन भी तो होता है। जब हम स्मृतियों का अध्ययन करते हैं तब यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। एक स्मृति में यदि किसी विषय पर एक आज्ञा है तो दूसरी में ठीक उसके विपरीत।

समूह का दूसरा : हाँ, हाँ, ब्राह्मण चाणक्य ने शूद्र चन्द्रगुप्त को समस्त भारत का सम्राट बना उसका राज्याभिषेक किया था। उसके पूर्व किसी शूद्र का राज्याभिषेक नहीं हुआ था। आज हम एक विधवा स्त्री के राज्याभिषेक में सहयोग देकर, स्त्रियों और विधवा स्त्रियों तक को, सिंहासनासीन होने का अधिकार है, यह सिद्ध कर देंगे।

समूह का तीसरा : और यह कार्य भी तो कान्यकुब्ज देश का एक परम विद्वान् ब्राह्मण, राज्य का महाधर्माध्यक्ष ही करा रहा है।

दाहिनी ओर का पहला : राज-सत्ता ने उसे धन देकर मोल ले लिया है।

समूह का चौथा ब्राह्मण : **(आगे बढ़कर क्रोध से)** बस, बस, आगे एक शब्द नहीं, उन्हें मोल ले लिया है! जिह्वा को थोड़ा वश में रखकर वाक्य मुख से निकालो। सारे कान्यकुब्ज देश में उसके समान विद्वान्, त्यागी और निस्पृह ब्राह्मण न मिलेगा, उनके लिए ऐसे वाक्य!

समूह का पहला : (अपने साथी के कन्धेको थपथ पाते हुए) शान्त, बन्धु, शान्त, हमको क्रोध नहीं करना है। हम जो उचित समझते हैं वह उन्हें करने दें। मनुष्य जब अपने मार्ग पर बलपूर्वक दूसरे को चलाने का प्रयत्न करता है तभी कलह की उत्पत्ति होती है। हम कलह नहीं चाहते।

दाहिनी ओर का दूसरा : देखिए, बन्धुओ, मैं आप लोगों को एक बात और भी सूचित कर देना चाहता हूँ।

समूह का पहला : क्या ?

दाहिनी ओर का दूसरा : आप जिस कार्य में सहयोग देने जा रहे हैं वह हमारे आर्य-धर्म के प्रतिकूल है, इतना ही नहीं, आप आर्य-धर्म के स्थान पर बौद्ध-धर्म को उत्तेजना देने का भी पातक कर रहे हैं।

समूह का पहला : यह कैसे ?

दाहिनी ओर का दूसरा : हर्षवर्द्धन और राज्यश्री दोनों, यथार्थ में बौद्ध-धर्म के अनुयायी हैं। आपने सुना ही होगा कि हर्ष-वर्द्धन स्थाण्वीश्वर का राज्य ग्रहण करने के पूर्व, चाहे वे बौद्ध न होगये हों, किन्तु बौद्ध-भिक्षुओं के समान चीवर पहने रहते थे। राज्यश्री तो बौद्ध-भिक्षुणी होना चाहती थीं, इसमें सन्देह ही नहीं। आज हर्षवर्द्धन स्त्री का अभि-षेक करा, स्त्री-पुरुषों के विभिन्न धर्मों और कर्त्तव्यों पर कुठाराघात करने जा रहे हैं, और कल वे समस्त वर्णों को एक करने का प्रयत्न कर, जिस वर्णाश्रम की नींव पर आर्य-धर्म खड़ा हुआ है, उसी को खोद डालने का प्रयत्न करेंगे,

क्योंकि बौद्ध-धर्म में वर्णाश्रम का कोई स्थान नहीं है। बौद्धों ने अब तक आर्य-धर्म को छिन्न-भिन्न करने का कम उद्योग नहीं किया। जिस गुप्त-साम्राज्य ने आर्य-धर्म का जीर्णोद्धार किया उस साम्राज्य का हूणों की सहायता कर बौद्धों ने ही नाश कराया है। आप लोग जो कुछ करने जा रहे हैं, उसे सोच-समझकर कीजिए।

समूह का एक युवक : **(आगे बढ़कर)** यह सब आप क्या अनर्गल बक रहे हैं? आर्य-धर्म और बौद्ध-धर्म क्या कोई पृथक्-पृथक् धर्म हैं?

दाहिनी ओर का दूसरा : पृथक् नहीं तो क्या है?

वही युवक : कदापि नहीं। बौद्ध-धर्म को मैं आर्य-धर्म की एक शाखा मानता हूँ। जब ब्राह्मणों ने यज्ञों की भरमार की, हिंसा को सर्वोच्च शिखर पर बिठा दिया तब भगवान ने गौतम का अवतार धारण कर आर्य-धर्म का संशोधनमात्र किया है। 'आर्य-धर्म नष्ट हो रहा है', 'वर्णाश्रम धर्म पर आपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा है' इस प्रकार चिल्ला-चिल्ला कर ब्राह्मणों ने, और 'सद्धम्म सङ्कट में है' 'सद्धम्म का नाश करने पर ब्राह्मण कटिबद्ध हुए हैं' इस प्रकार चिल्ला-चिल्ला-कर बौद्धों ने एक ही देश में रहने वालों, एक ही जाति और सभ्यता के अनुयायियों में परस्पर झगड़ा मचवा देश को यथेष्ट हानि पहुँचायी है। अब क्षमा कीजिए, आप धर्माचार्यगण, क्षमा कीजिए।

दाहिनी ओर का तीसरा : ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य वर्णों को

धर्म पर विवाद करने का कोई अधिकार नहीं है।

समूह का दूसरा युवक : (आगे बढ़कर) देखिए, मैं तो इस सारे विषय को एक दूसरी ही दृष्टि से देखता हूँ। राज्यश्री हमारे कान्यकुब्ज देश की महिषी हैं। मौखरि वंश में यदि कोई पुरुष नहीं बचा तो स्त्री को कान्यकुब्ज के सिंहासन पर बिठा हर्षवर्द्धन कान्यकुब्ज देश पर बड़ा भारी उपकार कर रहे हैं। इतना ही नहीं, वे स्थाण्वीश्वर को हमारे देश का माण्डलीक राज्य बना, एक अपूर्व त्याग कर, हमारे देश के गौरव को बढ़ा रहे हैं। हमारे देश पर, हमारे देश की सत्ता रहे और हमारे देश का महत्त्व बढ़े, हमें इससे अधिक हर्ष की और कोई बात ही न होनी चाहिए।

समूह का एक अधेड़ व्यक्ति : (आगे बढ़कर) देखिए बन्धुओ, न तो यह स्थान शास्त्रार्थ का है और न अन्य चर्चाओं का। यह तो थोड़ा निर्जन पथ था अन्यथा यह झगड़ा सुनकर अभी यहाँ एक भीड़ इकट्ठी हो गयी होती। राज्याभिषेक का समय हो रहा है। ठीक समय पर हमें वहाँ पहुँचना है।

समूह का एक और व्यक्ति : हाँ, हाँ, इस प्रकार के विवादों का अन्त थोड़े ही हो सकता है।

समूह के कुछ व्यक्ति : (एक साथ) हाँ, हाँ, चलिए, चलिए।

[समूह का दाहिनी ओर प्रस्थान। पर, समूह के ब्राह्मणों में से एक अधेड़ अवस्था का ब्राह्मण, जिसने इस विवाद में कोई भाग न लिया था, ठहर जाता है।]

ठहरा हुआ ब्राह्मण : (समूह के जाने के पश्चात् दाहिनी ओर से

आए हुए दूसरे ब्राह्मण से) आपकी सब बातों में बौद्ध-धर्म सम्बन्धी बात उपयुक्त थी। हर्ष अपने को शैव कहते हुए भी अवश्य बौद्ध है।

दाहिनी ओर का दूसरा : हाँ, हाँ, प्रच्छन्न बौद्ध है।

ठहरा हुआ : और राज्यश्री का अभिषेक यथार्थ में आर्य-धर्म के मूलोच्छेदन और बौद्ध-धर्म को राज्य-धर्म बनाने का पुनः श्रीगणेश है।

दूसरा : इसमें सन्देह ही नहीं, परन्तु कठिनाई तो यह है कि लोग समझते नहीं।

ठहरा हुआ : आपके कथन का मुझ पर इतना प्रभाव पड़ा कि मैं उस समूह के संग जा ही नहीं सका। **(कुछ ठहरकर)** मेरे मन में तो एकाएक यह बात उठी है कि जिस प्रकार बौद्धों ने गुप्त-साम्राज्य को नष्ट कर दिया उसी प्रकार हमें इस वर्द्धन-सत्ता का नाश करना चाहिए।

दूसरा : यदि ऐसा किया जा सके तो क्या पूछना है।

पहला : निस्सन्देह !

ठहरा हुआ : अवश्य किया जा सकता है। मैं अकर्मण्य होकर नहीं रह सकता। या तो मैं राज्यश्री के राज्याभिषेक में सम्मिलित हो इस राज्य से सहयोग करता या अब इस राज्य का नाश ही कर दूँगा।

पहला : (प्रसन्न होकर) यह किस प्रकार कीजिएगा, बन्धु ?

ठहरा हुआ : संगठन करके। आज कान्यकुब्ज में इस राज्य की स्थापना हो रही है और आज ही से हम इसके नाश का

संगठन करेंगे।

पहला : मैं इस कार्य में योग देने को तैयार हूँ।

दूसरा : मैं भी।

तीसरा : मैं भी।

चौथा : और मैं भी।

ठहरा हुआ : और आप लोग जानते हैं कि हमारे इस शुभ कार्य में किससे सहायता मिलेगी ?

पहला : किससे।

ठहरा हुआ : गुप्त-वंशीय गौड़ाधिपति आर्य-धर्म के कट्टर भक्त परम भट्टारक महाराजाधिराज शशांक नरेन्द्रगुप्त से।

दूसरा : परन्तु, शशांक ने तो वर्द्धनों की अधीनता स्वीकार कर ली है। मैंने सुना है कि हर्ष के सदृश वे भी राज्यश्री के माण्डलीक होंगे।

ठहरा हुआ : (**आश्चर्य से**) आर्य-धर्म के कट्टर भक्त शशांक, बौद्ध हर्ष के माण्डलीक ! एक स्त्री के माण्डलीक ! हो नहीं सकता; असम्भव है।

तीसरा : असम्भव; हर्ष की अधीनता उन्होंने स्वीकार कर ली है, यह तो सारा देश जानता है। न जाने आप ही इस बात से कैसे अनभिज्ञ हैं, और राज्यश्री के माण्डलीक होने वे यहाँ आ भी गये हैं। आज के राज्याभिषेक में अन्य माण्डलीकों के समान वे भी राज्यश्री का अभिवादन करेंगे।

चौथा : (**सिर नीचा कर कुछ सोचते हुए**) देखो बन्धुओ, शशांक बड़े भारी राजनीतिज्ञ हैं। मैंने सुना है कि हर्ष की अधीनता

स्वीकार करने में उनका आन्तरिक अभिप्राय समय पाकर इस सत्ता को उलट देना है। वही कदाचित् राज्यश्री के माण्डलीक होने में भी होगा।

ठहरा हुआ : (प्रसन्न होकर) हाँ, हां, यही बात है, यही बात है, अन्यथा आर्य-धर्म के कट्टर भक्त शशांक कभी ऐसा पातक कर सकते ? कभी नहीं। मैंने बहुत सोच-विचार कर अपनी सहायता के लिए उनका नाम लिया था। उनसे अपने को सहायता मिलेगी, अवश्य मिलेगी।

तीसरा : देखो बन्धुओ, इस सत्ता के नाश के लिए मै आप में से किसी से भी कम चिन्तित नहीं हूँ, परन्तु यदि हमारा कार्य ऐसी दिशा की सहायता पर अवलिम्बत हो, जहाँ से सहायता के स्थल पर, उलटा हमारा भण्डा-फोड़ हो जावे, तो मैं इस संगठन में सम्मिलित नहीं रह सकता। हर्ष ऐसे मूर्ख नहीं कि शशांक को बिना पूर्ण विश्वास के ऐसे अवसर पर अपना माण्डलीक बनाते, जब सहज में परास्त कर उनका वध कर सकते थे।

चौथा : कभी-कभी आप बड़ी बेसमझी की बात कह बैठते हैं। शशांक का वध हर्ष के लिए असम्भव था।

तीसरा : यह क्यों ?

चौथा : इसलिए कि वे माधवगुप्त के बान्धव हैं। माधवगुप्त शशांक को क्षमा करना चाहते थे ; फिर भला हर्ष उन्हें प्राण-दण्ड क्यों कर देते ? माधवगुप्त की इच्छा के विरुद्ध हर्ष कभी कोई कार्य कर सकते हैं ? **(ठहरे हुए व्यक्ति की**

ओर संकेत कर) हमारे इन बन्धुओं का कथन सर्वथा ठीक है। शशांक से हमें अपने कार्य में पूर्ण सहायता मिलेगी; इतना ही नहीं, शशांक के कारण माधवगुप्त से भी और इस प्रकार इस बौद्ध-साम्राज्य का शीघ्र ही नाश हो सकेगा।

[नेपथ्य में गायन की ध्वनि सुन पड़ती है।]

पहला : लीजिए, स्त्रियों का भी एक समूह आ रहा है। अब तो सहनशक्ति के बाहर की बात हो गयी। चलो बाबा, लौट चलें, जहाँ को जा रहे थे वहाँ अन्य किसी मार्ग से जायँगे। इन स्त्रियों से कौन विवाद करेगा।

[दाहिनी ओर से आये हुए चारों, और समूह में का ठहरा हुआ एक, इस प्रकार पाँचों ब्राह्मण दाहिनी ओर से जाते हैं। बाँयीं ओर से स्त्रियों का एक समूह आता है। सभी वर्णों और अवस्था की स्त्रियाँ हैं। सभी भिन्न-भिन्न रंगों की साड़ियाँ पहने हैं और वक्षस्थलों पर वस्त्र बाँधे हैं; किसी के वस्त्र कौशेय के हैं और किसी के सूती; किसी के पतले हैं, किसी के मोटे। किसी-किसी के वस्त्रों पर सुनहरा और रुपहरा काम भी है। सभी पटबन्ध, कर्ण-कुसुम, बेसर, चन्द्रहार, भुजबन्ध कंकण, आरसी और मुद्रिकाएँ आदि आभूषण पहने हैं। सबके भूषण सुवर्ण के हैं, किसी-किसी में रत्न भी जड़े हैं। पैरों में सब स्त्रियाँ चाँदी के भूषण धारण किये हुए हैं। स्त्रियाँ गा रही हैं।]

आज हम होंगी धन्य महान,
प्राप्त कर सबसे ऊँचा स्थान।

अब तक मानव-वृन्द में, दक्षिण-वाम-विभाग--
न थे तुल्य, पर अब खुला वाम-भाग का भाग।
हर्ष ने दोनों को सम जान,
किया यह राज्यश्री का मान।

[स्त्रियों के गाते हुए प्रस्थान। कुछ देर तक नेपथ्य में गायन-ध्वनि आती रहती है, जो शनैःशनैः दूर जाकर बन्द हो जाती है। परदा उठता है।

चौथा दृश्य

स्थान : कान्यकुब्ज के राज-प्रासाद का सभा-कक्ष

समय : प्रातःकाल

[सभा-कक्ष लगभग उसी प्रकार का है जैसा स्थाण्वीस्वर का सभा-कक्ष था। दोनों ओर की भित्तियों के सिरों पर दो द्वार हैं जो अन्य कक्षों में खुलते हैं। इन कक्षों का बहुत-थोड़ा भाग दिखायी देता है। पीछे की भित्ति के बीचोंबीच, उसके निकट ही, स्वर्णमंडित सिंहासन रखा है। सिंहासन के पाये सिंहाकार बने हैं। सिंहासन पर सुनहरे काम की गद्दी बिछी है और उसी प्रकार के तकिये लगे हैं तथा उसके नीचे पैर रखने के लिए स्वर्ण का, गद्दीदार पादपीठ रखा है। सिंहासन के दाहिनी ओर एक सुवर्ण के मोटे स्तम्भ पर केसरी रंग का ध्वज है, जिस पर वृषभ का चित्र बना है। ध्वज-स्तम्भ से लगी हुई, सिंहासन से दाहिनी ओर, एक पंक्ति में अनेक सुवर्ण और सिंहासन के बाँयीं ओर एक पंक्ति में अनेक रजतमण्डित आसंदियाँ रखी हैं। सभी पर गद्दियाँ बिछी हैं तथा तकिये लगे हैं, जो श्वेत वस्त्र से ढँके हैं। सिंहासन और सिंहासन के आसपास की आसंदियों की पंक्तियों के सामने अर्द्ध-चन्द्राकार रूप में आसंदियों की कई पंक्तियाँ रखी हुई हैं। ये आसंदियाँ काष्ठ की हैं और इन पर भी

श्वेत वस्त्र से ढँकी हुई गद्दियाँ बिछी हैं तथा उन पर श्वेत वस्त्र से ढँके हुए तकिये लगे हैं। इन आसंदियों का मुख सिंहासन की ओर है। इन आसंदियों की पंक्तियों के ठीक बीच से सिंहासन तक जाने के लिए मार्ग है जिससे ये पंक्तियाँ दो विभागों में बँट गयी हैं। सभा-कक्ष कदली वृक्षों, पल्लव-पुष्प के वन्दनवारों और मंगल-कलशों से सुसज्जित है। स्थान-स्थान पर सुवर्ण की धूपदानियों में धूप जल रही है। सिंहासन रिक्त है। ध्वज-स्तंभ के निकट की पहली आसंदी पर महाधर्माध्यक्ष बैठा हुआ है। यह गौरवर्ण का ऊँचा, वृद्ध ब्राह्मण है। लगभग ७० वर्ष की अवस्था है। सिर पर चौड़ी श्वेत शिखा और वक्षस्थल तक लम्बी श्वेत दाढ़ी है। शरीर की जो रोमावली दिखती है वह भी सब श्वेत हो गयी है। श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है। उत्तरीय में से श्वेत मोटा यज्ञोपवीत दिखायी देता है। मस्तक, वक्षस्थल और भुजाओं पर भस्म के त्रिपुण्ड लगे हैं। पैरों में काष्ठ की पादुकाएँ हैं। उसके निकट ही आसंदी पर हर्ष बैठे हैं। उनकी वेश-भूषा इस अंक के दूसरे दृश्य के समान है, परन्तु आज सुनहरी कोष में कटि से खड्ग भी लटक रहा है जो उस समय नहीं था। हर्ष के निकट की दो आसंदियों पर कामरूप-नरेश कुमारराज भास्करवर्मन और गौड़ाधिपति शशांक नरेन्द्रगुप्त बैठे हैं। इनके पश्चात् इस ओर की अन्य आसंदियों पर कुल-पुत्र विराजमान हैं। सभी की वेश-भूषा हर्ष के सदृश है। सिंहासन के बाँयीं ओर की आसंदियों पर सामन्तगण बैठे हैं। इन्हीं में अवन्ति, सिंहनाद, भण्डि और माधवगुप्त दिखायी पड़ते हैं।

सामन्तों की वेश-भूषा भी हर्ष के ही समान है। सिंहासन के सामने की आसंदियाँ, जो अर्द्ध-चन्द्राकार-रूप में रखी हुई हैं, रिक्त हैं। नेपथ्य में पंच-महावाद्य बज रहे हैं जिनका थोड़ा-थोड़ा शब्द सभा-कक्ष में सुन पड़ता है। दाहिनी ओर के द्वार से प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी : (अभिवादन कर) जय हो महाराजाधिराज, प्रजा के पुरुष-प्रतिनिधियों का समूह द्वार पर आया है।

[हर्ष खड़े होकर दाहिनी ओर के द्वार तक जाते हैं। उनके खड़े होते ही अन्य व्यक्ति भी खड़े हो जाते हैं। प्रतिहारी अभिवादन कर दाहिने ओर के द्वार से बाहर जाता है। प्रजा-प्रतिनिधियों का दाहिने द्वार से प्रवेश। हर्ष ब्राह्मणों को हाथ जोड़कर अभिवादन करते हैं। वे दोनों हाथ उठाकर हर्ष को आशीर्वाद देते हैं। शेष लोग झुक-झुककर हर्ष का अभिवादन करते हैं। हर्ष मस्तक झुका उसका उत्तर देते हैं। हर्ष सबों को अर्द्ध-चन्द्राकार चौकियों के वाम-विभाग में बिठाकर पुनः अपने स्थान पर बैठते हैं। अन्य व्यक्ति भी बैठ जाते हैं। नेपथ्य में गायन की ध्वनि सुन पड़ती है। प्रतिहारी का पुनः दाहिनी ओर के द्वार से प्रवेश।]

प्रतिहारी : (अभिवादन कर) जय हो महाराजाधिराज, प्रजा के पुरुष-प्रतिनिधियों का समूह भी द्वार पर आ गया है।

[हर्ष खड़े होकर पुनः दाहिनी ओर के द्वार तक जाते हैं। उनके खड़े होने पर अन्य व्यक्ति भी खड़े होते हैं। प्रतिहारी अभिवादन कर दाहिने द्वार से बाहर जाता है। दाहिनी ओर

से गायन गाते हुए महिला-समूह का प्रवेश । सभा-भवन में प्रवेश करते ही वे गायन बन्द कर देती हैं । हर्ष महिला-समूह के हाथ जोड़ते हैं । वे सब झुककर हर्ष का अभिवादन करती हैं । हर्ष उन्हें अर्द्धचन्द्राकार चौकियों के दाहिने विभाग में बिठाकर अपने स्थान पर बैठते हैं । शेष सभासद भी बैठ जाते हैं । कुछ देर सभा-कक्ष में निस्तब्धता रहती है, परन्तु बाहर बजते हुए पंच महावाद्यों की धीमी-धीमी ध्वनि बराबर आती रहती है ।]

महाधर्माध्यक्ष : (हर्ष से) मैं समझता हूँ, अब तो सभी आमन्त्रित जन उपस्थित हो गये, अभिषेक का मुहूर्त्त-काल भी थोड़ा ही शेष है, परमभट्टारक ।

हर्ष : मैं अभी राजपुत्री को लाता हूँ, आर्य ।

[हर्ष का बाँयें द्वार से प्रस्थान । उनके उठते ही सब खड़े हो जाते हैं और उनके जाने पर फिर सब बैठ जाते हैं । कुछ देर निस्तब्धता रहती है । बाँयें द्वार से प्रतिहारी का प्रवेश ।]

प्रतिहारी : जय परममाहेश्वरी, परमादित्य-भक्त, महिषि, राज्यश्री, महादेवी की जय !

[सब सभासद खड़े हो जाते हैं । शिविका पर राज्यश्री का प्रवेश । शिविका सुवर्ण की है । उसके ऊपर छाया नहीं है, अर्थात् ऊपर से खुली हुई है । उसे आठ शिविका-वाहक उठाये हुए हैं । वे श्वेत अधोवस्त्र पहने हैं और उनका उत्तरीय शिविका उठाने के कारण सिर पर बँधा हुआ है । वे भी कुण्डल, हार, केयूर और वलय पहने हैं । उनके भूषण सुवर्ण के हैं । शिविका में गद्दी बिछी है और तकिये लगे हुए हैं । तकिये के सहारे राज्यश्री बैठी

हुई है। वह अभी भी श्वेत कौशेय की साड़ी पहने है और उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। भूषणों से अभी भी उसका शरीर रहित है। उसके मुख पर उदासी के चिन्ह दृष्टि-गोचर होते हैं। शिविका के एक बगल में हर्ष और दूसरी बगल में अलका है। अलका की वेश-भूषा पहले के समान ही है। राज्यश्री हाथ जोड़कर ब्राह्मणों का अभिवादन करती है। वे दोनों हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हैं। शेष स्त्री-पुरुष मस्तक झुकाकर राज्यश्री का अभिवादन करते हैं और वह थोड़ा-सा सिर झुका-कर उनका उत्तर देती है। शिविका सिंहासन के निकट रखी जाती है। राज्यश्री उससे उतरकर सिंहासन के एक ओर खड़ी होती है। उसी के निकट हर्ष और अलका खड़ी हो जाती हैं। शिविका-वाहक, शिविका उठाकर बाँयीं ओर के द्वार से बाहर जाते हैं। बाँयीं ओर के द्वार से सात स्त्रियों का प्रवेश। सातों स्त्रियाँ सुन्दरी हैं और उनकी अवस्था २० और २५ वर्ष के बीच में है। वे केशरी वस्त्र धारण किये हुए हैं, तथा सुवर्ण के भूषण पहने हैं। इन सात स्त्रियों में छः दो-दो की पंक्ति में हैं, और एक सबके पीछे। पहली दो स्त्रियों के हाथों में सुवर्ण का एक-एक थाल है। एक थाल में रत्नों से देदीप्यमान राजमुकुट और राज-दंड तथा दूसरे थाल में अभिषेक की सामग्री है। इन दोनों के पीछे की दो स्त्रियाँ कन्धों पर सुवर्ण की डाँड़ियोंवाले सुरागाय की पुच्छ के श्वेत चँवर रखे हैं। इनके पीछे की दो स्त्रियों के हाथ में चन्दन की डाँडियों के खस के दो व्यजन हैं और इनके पीछे की एक स्त्री के हाथ में हाथी-दाँत की डाँड़ी का श्वेत छत्र

है, जिसमें मोतियों की झालर लगी हुई है। सातों स्त्रियाँ सिंहासन के निकट बढ़ती हैं। पाँच तो सिंहासन के पीछे जाकर, छत्र-वाहिका बीच में तथा उसके उभय ओर एक-एक चामर-वाहिका और एक-एक व्यजन-वाहिका खड़ी हो जाती हैं और थालवाली दोनों स्त्रियाँ धर्माध्यक्ष के निकट खड़ी हो जाती हैं।]

महाधर्माध्यक्ष : (राज्यश्री से) आप सिंहासनासीन हों, देवि।

[राज्यश्री काँपते हुए पैरों और उदास मुख से सिंहासन पर बैठती है। महाधर्माध्यक्ष थाल में से राजमुकुट उठाकर उसके मस्तक पर रख, राजदंड उसके हाथ में देता है। फिर दूसरे थाल में से सुवर्ण का कलश उठा कुश के मार्जन का मंत्र बोलते हुए उसका मार्जन करता है।]

महाधर्माध्यक्ष—[इसके पश्चात् महाधर्माध्यक्ष अपने स्थान पर बैठता है। क्षत्र-वाहिका राज्यश्री के सिर पर छत्र लगाती तथा चामर और व्यजन-वाहिकाएँ चामर और व्यजन डुलाना आरम्भ करती हैं।]

प्रतिहारी : जय, परमभट्टारिका, परममाहेश्वरी, परमादित्य-भक्त, परमेश्वरी, महाराज्ञी, सम्राज्ञी, राज्यश्री महादेवी की जय !

सब सभासद : (एक स्वर से) परमभट्टारिका, महाराज्ञी, सम्राज्ञी राज्यश्री महादेवी की जय !

[प्रतिध्वनि होती है। हर्ष, कुमारराज भास्कर वर्मन और शशांक एक पंक्ति में तथा इन तीनों के पीछे कुल-पुत्र और सामन्तगण सिंहासन के सामने जाकर खड्ग निकाल, खड्ग

मस्तक तक ले जाकर राज्यश्री का अभिवादन करते हैं। राज्यश्री काँपते हुए पैरों से खड़े होकर मस्तक झुका अभिवादन का उत्तर देती है। प्रजा के स्त्री-पुरुष-प्रतिनिधि पुष्पों की वर्षा कर पुनः जय-जयकार करते हैं, जिसकी प्रतिध्वनि होती है ।]

यवनिका

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान : कान्यकुब्ज के राजप्रासाद का दालान

समय : सन्ध्या

[दालान उसी प्रकार की जैसी दूसरे अंक के पहले दृश्य में थी, परन्तु इसकी भित्ति का रंग उससे भिन्न है। दालान में सुवर्ण-मण्डित शयन रखा हुआ है, जिसमें रत्न जड़े हैं। शयन पर सुनहरी काम की गद्दी बिछी है और इसी प्रकार के तकिये लगे हैं। शयन के निकट ही सुवर्णमण्डित एक आसन्दी रखी है और उस पर भी इसी प्रकार की गद्दी बिछी है तथा तकिये लगे हैं। राज्यश्री शयन पर बैठी हुई है। आसन्दी पर अलका बैठी है। शयन के एक ओर एक दासी खड़ी हुई सुवर्ण की रत्नजटित डाँड़ीवाला चामर डुला रही है। राज्यश्री की अवस्था अब लगभग ४३ वर्ष की है। उसका शरीर यद्यपि वैसा ही है, पर, सिर के केश यत्र-तत्र श्वेत हो गये हैं और मस्तक पर कुछ रेखाएँ तथा नेत्रों के आस-पास काले गढ़े एवं कुछ झुर्रियाँ पड़ गयी हैं। ४३ वर्ष की अवस्था में ही उस पर वृद्धावस्था का प्रभाव दिखायी पड़ रहा है। वह श्वेत कौशेय की साड़ी धारण किये हुए है और उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे हैं। सदा के समान उसका शरीर आभूषणों से रहित है। अलका की अवस्था राज्यश्री से यद्यपि अधिक

है, परन्तु देखने में कम जान पड़ती है। उसके केश अभी भी काले हैं और मुख पर झुरियाँ आदि नहीं हैं। उसकी वेशभूषा भी पहले के समान ही है। दासी केशरी रंग की साड़ी और सुवर्ण के आभूषण पहने हुए है। राज्यश्री तम्बूरा बजाकर गा रही है।]

मधुप-मुकुल का कैसा संग ?

स्वार्थ परार्थ-विरोधी जिसमें, रँगे एक ही रंग ॥
ले मधु उड़-उड़ मधुप मुकुल-कुल कर विस्तृत यह सिद्ध-
गूँज-गूँज कर करता, जग में केवल स्वार्थ-निषिद्ध।
सतत विलोका, जड़-कृमि तक का यद्यपि यों सम्बन्ध।
सकल सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ यह मानव तब भी अन्ध।

राज्यश्री : **(गाना पूर्ण होने पर तम्बूरा रखते हुए)** अलका, आज मुझे सिंहासन गृहण किये अट्ठाईस वर्षों के सात युग पूरे होते हैं। यद्यपि अब मैं कपिशा, काश्मीर और नेपाल से लेकर नर्मदा तक एवं पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक के परम सुन्दर एवं सभ्य आर्यावर्त की सम्राज्ञी हूँ, यद्यपि आज सारे आर्यावर्त में मेरे सिंहासनासीन होने के सातवें युग का उत्सव मनाया गया है तथापि मुझे आज सबसे अधिक अशान्ति और निराशा है।

अलका : वह तो मैं देख रही हूँ, परमभट्टारिका, सात युगों से लगातार आपकी मानसिक अशान्ति देखती आ रही हूँ और आज भी देख रही हूँ।

राज्यश्री : मेरा व्यक्तिगत दुःख तो अलग बात है, अलका, वह तो सदा ही मेरे हृदय को आच्छादित किये रहता है। इतना

ही नहीं, जब-जब मैं प्राणेश्वर के सिंहासन पर पैर रखती हूँ तब-तब वह और भी अधिक जाग्रत हो उठता है, जान पड़ता है, इस जन्म में वह कभी भी विस्मृत न होगा ,परन्तु उसके अतिरिक्त आज तो एक दूसरी ही अशान्ति और निराशा चित्त को व्यथित किये हुए है।

अलका : वह क्या, सम्राज्ञी ?

राज्यश्री : वह यह, अलका, कि शिलादित्य और मैं ठीक मार्ग से अपने कर्त्तव्यों का पालन कर रहे हैं या नहीं।

अलका : इस पर तो विचार करना ही निरर्थक है,परमभट्टारिका। सारा आर्यावर्त आज एक स्वर से कह रहा है कि आप भगिनी-भ्राता का यह संयुक्त-राज्य-संचालन सभी दृष्टियों से प्रजा के लिए हितकर हुआ है। सत्ता का प्रधान कार्य जो प्रजा में सुख-सम्पत्ति की वृद्धि है, यह हर प्रकार से हुई है। कृषि, व्यापार और कला-कौशल की आशातीत उन्नति के कारण प्रजा में अतुल धन बढ़ा है। प्रजा-जनों के कष्टों की सुनवायी के लिए पूर्ण व्यवस्था है। प्रजा में शिक्षा का महान् प्रचार हुआ है। उन्हें औषधोपचार के हर प्रकार के साधन उपलब्ध हैं। यात्रा एवं यात्रा के समय मार्ग में उन्हें सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हैं।

राज्यश्री : यह सब तो हुआ है, अलका, परन्तु यह सारा कार्य उस पल्लवित और पुष्पित वृक्ष के सदृश है, जिसकी जड़ पृथ्वी के भीतर गहरी न जाकर किसी चट्टान पर हो। हाल ही में मौर्य और गुप्त-साम्राज्य में भी यह सब हुआ था।

वह कितने दिनों तक टिका ? शिलादित्य की सम्मति के अनुसार मैंने सिंहासन ग्रहण करने के दिन घोषणा की थी कि यह राज्य समस्त भारतवर्ष में एक धर्म, एक भाषा और एक-से सामाजिक संगठन पर, सारे देश में एक राष्ट्र की स्थापना का उद्योग करेगा, जिससे इस देश का साम्राज्य चिर-स्थायी रह सके। यद्यपि सारा आर्यावर्त अब एक साम्राज्य के अन्तर्गत है, परन्तु एक राष्ट्र का निर्माण मुझे अभी भी उतनी ही दूरी पर दिखता है जितना आज के अट्ठाईस वर्ष पूर्व था।

अलका : (**कुछ सोचते हुए**) यह तो सत्य जान पड़ता है, महाराज्ञी। परन्तु इसका क्या कारण है ?

राज्यश्री : मुख्य कारण एक ही है।

अलका : वह क्या ?

राज्यश्री : शिलादित्य और मुझे जो आशा थी कि साम्राज्य में बराबरी के अधिकार देने से समस्त देश के नरपतिगण उसमें स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित होने के लिए आगे बढ़ेंगे, वह आशा पूर्ण न हुई। अतः शिलादित्य के पहले छः वर्ष तथा उसके पश्चात् का भी बहुत सा समय युद्ध और विप्लवों की शान्ति एवं अन्य राज्य-काज के पचड़ों में ही बीता। फिर जो नरपति साम्राज्य के अन्तर्गत आये हैं उनकी दृष्टि भी इस ओर न होकर अपना-अपना बल बढ़ाने की ओर ही है।

अलका : (**कुछ ठहरते और विचारते हुए**) तो जो व्यक्तिगत

स्वार्थ हर एक महान् कार्य के मार्ग में बाधक होता है वही आपके और महाराजाधिराज के शुभ-संकल्पों में भी बाधक हो रहा है।

राज्यश्री : हाँ, अलका, वही व्यक्तिगत स्वार्थ। अनेक बार आज का-सा विचार मेरे मन में उठता था, प्रत्येक युग के अन्त में, जब मैं युग भर के कार्यों का सिंहावलोकन करती थी, तब यह विचार और भी प्रबल हो जाता था, परन्तु अभी तक मुझे युद्ध समाप्त होने की आशा थी। युद्धों की समाप्ति होते ही हम दोनों इसी एक कार्य में लग जायँगे इसका भी विश्वास था। अभी बल्लभी की विजय के पश्चात् यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया था, परन्तु आज, जब से दक्षिण भारत पर आक्रमण करने का निर्णय हुआ है, तब से तो मैं बहुत ही अशान्त और निराश हो गयी हूँ।

[नेपथ्य में दूरी पर गायन की ध्वनि सुन पड़ती है, परन्तु गायन दूरी पर होने के कारण समझ में नहीं आता।]

राज्यश्री : जयमाला गा रही है, अलका।

अलका : हाँ, सम्राज्ञी, आप उसे भी इस विद्या में दक्ष बना रही हैं।

राज्यश्री : (कुछ ठहरकर) अलका, मनुष्य के हृदय में सन्तान की कितनी इच्छा होती है, ज्यों-ज्यों उसकी अवस्था बढ़ती जाती है त्यों-त्यों बाल-लीला देखने का उसके हृदय में कितना चाव होता जाता है। विवाह न कर यौवन-सुखों के समस्त भोगों को तिलांजलि देने पर भी, आठों पहर और

चौंसठों घड़ी प्रजा की सेवा में दत्तचित्त रहने पर भी, शिलादित्य इस सुख से वंचित रहने का साहस न कर सके। यदि वे स्वयं विवाह कर सन्तान का सुख देखने में असमर्थ रहे तो उन्होंने परायी पुत्री को ही अपनी पुत्री मानकर इस अपूर्व सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है।

अलका : **(कुछ ठहरकर सोचते हुए)** क्यों सम्राज्ञी, परम-भट्टारक को सन्तान न होने के कारण क्या अब किसी प्रकार का दुःख रहता है ?

[शनैः शनैः अब गायन की ध्वनि समीप आने लगती है।]

राज्यश्री : **(कुछ सोचते हुए)** यह कहना तो कठिन है अलका, क्योंकि इस सम्बन्ध में वे कभी कोई बात ही नहीं करते, परन्तु उनका हृदय इतना महान् है कि उसमें कदाचित् अपने-पराये का भेद-भाव ही नहीं है। जयमाला पर उनका उतना ही प्रेम है जितना अपनी निज की पुत्री पर हो सकता है।

[अब गायन की ध्वनि और भी समीप आती है।]

अलका : और आपका हृदय क्या कम महान् है, सम्राज्ञी ? आप भी तो जयमाला पर उतना ही स्नेह करती हैं जितना परमभट्टारक।

[जयमाला का प्रवेश। वह लगभग १२ वर्ष की अत्यन्त सुन्दर गौर वर्ण की बालिका है। रुपहरी कामवाली कौशेय की रेशमी साड़ी पहने है, तथा उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। श्वेत हीरे से जड़े हुए आभूषणों से उसके अंग-प्रत्यंग

देदीप्यमान हैं। जयमाला गा रही है।]

कितना द्रव्य दिया भगवान ?
तुमने तो देने में रक्खा कभी न मितव्ययिता का ध्यान।
नित्य प्रात में कोसों तक तुम फैला देते कांचन-पत्र।
शुक्ल-शर्वरी-मध्य सतत ही छिटकाते चाँदी सर्वत्र।
निशा में नित अगणित हीरक,
चमकते द्यौ में दमक-दमक,
पयोधों में पन्ना-मानक,
दमकते नभ में चमक-चमक,
तृष्णा का तब भी अवसान
मानव-मन से हुआ न तो तुम कर सकते क्या कृपानिधान?
कितना द्रव्य दिया भगवान?

सोने-चाँदी के निर्जीव—
टुकड़े औ' कंकड़-पत्थर के संग्रह में जग व्यग्र अतीव;
निर्धन तथा महा धनवान,
गुणी तथा सम्राट् महान्,
इसी कार्य में लगे हुए हैं धर्म-कर्म इसको ही मान।
लूटमार जो करते उसको नीति-युक्त कहते हा! ज्ञान।।
कितना द्रव्य दिया भगवान् ?

राज्यश्री : **(रूखी मुस्कराहट से)** जयमाला, आज तो तूने सच-मुच गायन को इस प्रकार गाया जैसे तू गान-विद्या में पण्डिता हो गयी है। **(उसके मुख को ध्यानपूर्वक देखकर)** पर, यह तो बता, इतनी गम्भीर क्यों है ?

[जयमाला खिलखिलाकर हँस पड़ती है और दौड़कर राज्यश्री से लिपट जाती है।]

राज्यश्री : **(उसका दृढ़ आलिंगन कर उसे अपने अत्यन्त सन्निकट शयन पर बिठाते हुए कुछ ठहरकर)** हाँ, तो तूने बताया नहीं कि तू इतनी गम्भीर क्यों थी ?

जयमाला : तुम्हारा यह गायन ही ऐसा है, सम्राज्ञी, कि यह किसी को भी गम्भीर बना देगा। बिना गम्भीर हुए यह गाया ही नहीं जा सकता।

राज्यश्री : तो तू इस गायन का अर्थ भली भाँति समझती है ?

जयमाला : बिना समझे कोई गम्भीर होकर गा सकता है ?

राज्यश्री : **(कुछ ठहरकर फिर रूखी मुस्कराहट के साथ)** किन्तु, जयमाला, इस गायन को समझने और गम्भीरतापूर्वक गाने पर भी तो तू स्वयं सोने-चाँदी के निर्जीव टुकड़ों और कंकड़-पत्थरों से अपने को सजाये हुए है।

[हर्ष का प्रवेश। उनकी अवस्था अब ४५ वर्ष की है। उनका शरीर लगभग उसी प्रकार का है जैसा पहले था, परन्तु मूँछें अब बड़ी हो गयी हैं। यद्यपि उनके मुख पर राज्यश्री के सदृश झुर्रियाँ नहीं हैं, तथापि मस्तक पर रेखाएँ पड़ गयी हैं। केश अभी भी काले हैं और अवस्था राज्यश्री से अधिक होने पर भी उससे कम दिख पड़ती है। वेश-भूषा पहले के समान ही है। हर्ष को देखते ही राज्यश्री, जयमाला और अलका तीनों खड़ी हो जाती हैं। जयमाला हर्ष से लिपट जाती है तथा हर्ष, राज्यश्री एवं जयमाला शयन पर बैठते हैं और अलका आसंदी पर।]

हर्ष : कह, जयमाला, अब तेरी गान-विद्या का क्या हाल है ?

जयमाला : यह सम्राज्ञी से पूछिए, पिताजी।

राज्यश्री : यह तो अब मुझसे भी अच्छा गाने लगी है।

जयमाला : इनकी बातें ! इनकी बात न मानिएगा, पिताजी।

हर्ष : पर, अभी तूने ही कहा था न कि सम्राज्ञी से पूछो।

जयमाला : पर, मैं यह थोड़े ही जानती थी कि सम्राज्ञी भी झूठ बोलेंगी।

[हर्ष और अलका हँस देते हैं। राज्यश्री के मुख पर भी रूखी मुस्कराहट दिख पड़ती है।]

हर्ष : **(राज्यश्री के मुख को ध्यानपूर्वक देखते हुए)** और राज्यश्री, तुम इतनी उदास क्यों दिखायी पड़ती हो, स्वास्थ्य तो अच्छा है ?

राज्यश्री : हाँ, हाँ, स्वास्थ्य अच्छा है।

हर्ष : फिर इतनी उदास क्यों ? आज तो तुम्हारे राज्याभिषेक के सातवें युग की समाप्ति का उत्सव है। सारा आर्यावर्त्त हर्ष में हिलोरें ले रहा है। तुम्हारा मन तुम्हारे दुःख से तो व्यथित रहता ही है, यह मैं जानता हूँ, तभी तो देखो न, इस तैंतालीस वर्ष की अवस्था में ही तुम वृद्धा के समान हो गयी हो, परन्तु दूसरे के सुख में प्रसन्न रहने का भी तो तुम निरन्तर प्रयत्न करती हो।

राज्यश्री : आज मैं अपने व्यक्तिगत दुःख से दुखित नहीं हूँ, शिलादित्य !

हर्ष : फिर ?

राज्यश्री : वही पुराना एक राष्ट्र की स्थापनावाला प्रश्न व्यथित कर रहा है।

हर्ष : (**लम्बी साँस लेकर**) ओह !

राज्यश्री : अब, शिलादित्य, मैं इस सम्बन्ध में निराश हो चली हूँ।

हर्ष : यह क्यों ?

राज्यश्री : इन नित्य-प्रति के युद्धों के कारण कदाचित् हमें उसके लिए यथेष्ट प्रयत्न करने का समय ही न मिलेगा।

हर्ष : तुम जानती ही हो कि व्यर्थ के रक्तपात का मैं भी विरोधी हूँ, परन्तु क्या किया जाय, विवशता है।

राज्यश्री : परन्तु यदि दक्षिण पर आक्रमण न कर हम लोग पहले केवल अर्यावर्त्त में ही एक राष्ट्र के संगठन का प्रयत्न करें तो क्या उचित न होगा ?

हर्ष : मैं भी इस विषय को सोचता रहा हूँ और तुम जानती हो कि दक्षिण पर आक्रमण करने का विचार भी मैंने बहुत दिनों तक स्थगित रखा, परन्तु पुलकेशिन का मालव, गुर्जर और कलिंग पर आक्रमण तो दक्षिण के इस आक्रमण को अनिवार्य कर देता है। यदि हम दक्षिण पर आक्रमण न करेंगे तो कदाचित् उनका आक्रमण हम पर हो जाय। इस-लिए एकाएक मैंने यह निर्णय किया है।

राज्यश्री : (**लम्बी साँस लेकर**) तब कदाचित् एक राष्ट्र के निर्माण का कार्य हमारे हाथ से होना ही नहीं है।

हर्ष : (**कुछ ठहरकर सोचते हुए**) राज्यश्री, मैं बड़ा आशावादी

मनुष्य हूँ। यद्यपि गत अट्ठाईस वर्षों में हम इस कार्य को यथेष्ट रूप में नहीं कर सके हैं, परन्तु अभी भी मेरे हृदय में इसी का सबसे प्रधान स्थान है। अब तक जो कार्य हुआ है वह भी एक प्रकार से इस कार्य में सहायक ही होगा। बिना आर्यावर्त्त में एक साम्राज्य की स्थापना के यह कार्य होता भी कैसे ? विशेषकर शिक्षा के प्रचार में जो वृद्धि हुई है, तथा शिक्षा जिस प्रणाली से दी जा रही है, उसमें भावी सन्तति इसी विचार के अनुकूल बनेगी। फिर इस दशा में कुछ भी कार्य नहीं हो रहा है, यह बात भी नहीं है। अब दक्षिण भारत के भी साम्राज्य में सम्मिलित होने पर इस कार्य के लिए और अधिक साधन हो जायँगे। मैं आशा करता हूँ कि दक्षिण के युद्ध से निवृत्त होकर हम इस कार्य को पूर्ण रूप से हाथ में ले सकेंगे।

[जयमाला, जो अब तक चुपचाप एक-एक कर अपने सब आभूषण उतार रही थी, एकाएक सबको पृथ्वी पर फेंक देती है। उसके शब्द से सब चौंक पड़ते हैं।]

हर्ष : **(फेंके हुए आभूषणों को देखते हुए)** यह क्या हुआ ?

राज्यश्री : **(कुछ ठहरकर उसी प्रकार मुस्कराते हुए)** कुछ नहीं, मैंने यों ही हँसी में कुछ कह दिया था, इसलिए ये आभूषण फेंके गये हैं।

हर्ष : **(जयमाला से)** क्यों, जयमाला, सम्राज्ञी से अप्रसन्न हो गयी हो ?

जयमाला : सम्राज्ञी से अप्रसन्न ! वाह, पिताजी, वे तो मुझ पर

आपसे भी अधिक प्रेम करती हूँ, परन्तु अब मैं सोने-चाँदी के निर्जीव टुकड़ों और कंकड़-पत्थरों से अपने को नहीं सजाऊँगी।

[**नेपथ्य में पंचमहावाद्य बजते हैं। इन्हें सुनकर चारों हाथ बाँधकर खड़े हो जाते हैं।**]

हर्ष : (वाद्य बन्द होने पर) अलका, जयमाला पागल हो गयी है। इन आभूषणों को उठा लो। इसे समझाना पड़ेगा तब यह समझेगी।

राज्यश्री : सायँकाल के पंचमहावाद्य बज चुके। शरत्काल का समय है। शीत बढ़ रही है। हम लोग कक्ष में न चलें?

राज्यश्री : हाँ, हाँ, चलो।

[**हर्ष, राज्यश्री और जयमाला तीनों का प्रस्थान। अलका आभूषण उठाकर जाती है, उसके पीछे-पीछे दासी भी। दासी दो दासियों के संग, जिसकी वेश-भूषा उसी के समान है, पुनः लौटकर आती है। दो दासियाँ शयन तथा एक आसंदी को उठाकर ले जाती हैं। परदा उठता है।**]

दूसरा दृश्य

स्थान : माधवगुप्त के प्रासाद का कक्ष

समय : तीसरा पहर

[कक्ष की बनावट वैसी ही है जैसी पहले अंक के पहले दृश्य के कक्ष की थी। तीनों भित्तियों में दो-दो द्वार हैं, जो अन्य कक्षों में खुलते हैं और इनसे अन्य कक्षों के थोड़े-थोड़े भाग दिखायी देते हैं। कक्ष की छत, भित्तियों आदि का रंग पहले अंक के कक्ष से भिन्न है। कक्ष में अनेक काष्ठ की आसंदियाँ रखी हैं, जिन पर गद्दे-तकिये लगे हैं। बाँयीं ओर की भित्ति के निकट रखी हुई एक आसंदी पर, हर्ष का एक बड़ा-सा चित्र रखा है। चित्र पर पुष्पहार चढ़ा हुआ है। दाहिनी ओर की भित्ति के निकट चित्र की ओर मुख किये हुए आदित्यसेन खड़ा है। आदित्यसेन की अवस्था लगभग २० वर्ष की है। वह गौर वर्ण तथा गठीले शरीर का ऊँचा-पूरा सुन्दर युवक है। श्वेत रंग और सुनहरी किनार के उत्तरीय और अधोवस्त्र एवं रत्नजटित आभूषण धारण किये है। रेख निकल रही हैं और सिर पर लम्बे केश हैं। मुख पर तेज और नेत्रों में कान्ति है। उसके हाथों में धनुष है, जिस पर बाण चढ़ा है। वह चित्र पर बाण चलाने वाला है। अतः चित्र की ओर एकटक देख रहा है। बाँयीं ओर

के द्वार से शैलबाला का प्रवेश। शैलबाला की अवस्था ४५ वर्ष की है। वह गौर वर्ण की, शरीर में कुछ स्थूल, सुन्दर स्त्री है। कौशेय की रंगीन साड़ी पहने है और वैसा ही वस्त्र वक्षस्थली पर बाँधे है। आभूषण रत्नजटित हैं।]

शैलबाला : (आदित्यसेन को बाण चलाने पर उद्यत देख शीघ्रता से आगे बढ़ते हुए) हैं ! हैं ! आदित्य, यह क्या करने वाला है, यह क्या करनेवाला है ? तेरी उद्दण्डता तो नित्य-प्रति बढ़ती ही जाती है !

आदित्यसेन : (धनुष की ज्या को ढीला करते हुए) कहाँ तक क्रोध को रोकूँ माँ, कहाँ तक क्रोध को रोकूँ ? पिताजी की दासत्व-प्रवृत्ति तो सीमा लाँघ रही है। अपने पूर्वजों की सारी प्रतिष्ठा, सारी मान-मर्यादा को एक ओर रख गुप्तों के कट्टर शत्रु हर्षवर्द्धन की मित्रता के नाम पर वे वर्द्धनों के केवल आश्रित बने हैं इतना ही नहीं, पर अब तो उन्होंने हर्ष का प्रतिमा-पूजन भी आरम्भ किया है। कहाँ तक क्रोध को रोकूँ माँ, कहाँ तक क्रोध को रोकूँ ?

शैलबाला : (आगे बढ़कर आदित्यसेन से धनुष लेते हुए) पर, बेटा, यह पुष्प-माला तो इस चित्र पर तेरे पिता ने नहीं मैंने चढ़ायी है। परमभट्टारक के गुण ही ऐसे हैं कि उनका पूजन करने को हृदय आपसे-आप उत्कंठित हो उठता है।

आदित्यसेन : (घृणा से हँसकर) माँ, तेरे हृदय में भी ऐसी भावनाओं की उत्पत्ति दासत्व-वृत्ति की जीती-जागती मूर्त्ति है; गुप्त-वंश के अधःपतन की चरम सीमा है। नरों के

पतन को रोकने की क्षमता नारियाँ ही रखती हैं, परन्तु यदि उनका भी पतन हो जाय तब तो उत्थान की सम्भावना ही नहीं रह जाती। माँ, मेरे बाल्य-काल में तो तेरे हृदय में ऐसी भावनाएँ न थीं। मेरे सामने परमभट्टारक, महाराजाधिराज समुद्रगुप्त, परमभट्टारक महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कीर्ति के न जाने कितने गीत तू गाया करती थी, उनके यश से भरी न जाने कितनी गाथाएँ तू सुनाया करती थी; अब क्या तेरे हृदय पर भी पिताजी के सदृश दासता का साम्राज्य हो गया है ?

शैलबाला : तू तो आज बहुत उत्तेजित हो रहा है, बेटा; चल, बैठ तो। क्या तू यह समझता है कि परम प्रतापी गुप्त-सम्राटों के प्रति अब मेरी भक्ति नहीं रह गयी है ?

[दोनों आसंदियों पर बैठ जाते हैं। आदित्यसेन अपने धनुष पर के चढ़े हुए बाण को उतारकर तरकश में रख धनुष आसंदी से टिकाकर रख देता है।]

आदित्यसेन : कहाँ रह गयी है ? मुझे तो वह लवलेशमात्र भी नहीं दिखायी देती। यदि पूर्वजों के प्रति तेरी भक्ति होती तो तू उस हर्ष के चित्र पर पुष्प-माला चढ़ा सकती थी, जिसके पिता ने हमारे पूर्वजों को परास्त किया, जिसके भाई राजवर्द्धन ने हमारे पितृव्य मालवेश देवगुप्त का वध किया, जिस राजवर्द्धन के कारण हमारे पितृव्य कुमारगुप्त का वध हुआ, जिस हर्ष ने हमारे पितृव्य गौड़ेश शशांक नरेन्द्रगुप्त को अपना माण्डलीक और पूज्य पिताजी को

अपना दास बना रखा है।

शैलबाला : **(आदित्यसेन की पीठ को थपथपाते हुए)** बेटा, युवावस्था की उत्तेजना के कारण ही तू मुझसे ऐसी बात कह रहा है। मेरे कक्ष में, तुझे पूज्यपाद परमभट्टारक महाराजाधिराज समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के चित्रों पर भी इसी प्रकार की पुष्प-मालाएँ चढ़ी हुई नहीं दिखतीं क्या ? आज परमभट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन का चित्र बनकर आया, मैंने इस पर भी माला चढ़ा दी ! हमारे पूर्वज महापुरुष थे और परम-भट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन भी, चाहे इन्होंने हमारे कुल के कुछ आततायियों को दण्ड दिया हो, महापुरुष हैं। मैंने उनके साथ ही, इनका भी पूजन कर दिया तो बुरी बात क्या हुई ?

आदित्यसेन : आह ! माँ, आह ! माँ, यही तो तू समझती नहीं, यही तो तू समझती नहीं।

शैलबाला : क्या नहीं समझती ?

आदित्यसेन : मैं तुझे कदाचित् पूर्ण रूप से समझा न सकूँ, पर स्वयं समझ सकता हूँ।

शैलबाला : क्या समझ सकता है ?

आदित्यसेन : यह कि हम लोग, गुप्त लोग–समझी–हम लोग-गुप्त लोग।

शैलबाला : हाँ, हम लोग, गुप्त लोग, पर, हम लोग गुप्तलोग, क्या ?

आदित्यसेन : हम, गुप्त लोग जिस प्रकार गुप्त-सम्राटों का पूजन कर सकते हैं उस प्रकार वर्द्धन-सम्राटों का नहीं।

शैलबाला : यह भेद-भाव क्यों ? सभी महापुरुष पूजनीय हैं।

आदित्यसेन : नहीं, कदापि नहीं; सभी पूजनीय नहीं हो सकते। कुछ के पूजन से हमारा उत्कर्ष होता है और कुछ के पूजन से हमारा पतन। यदि पिता जी ने परमभट्टारक महाराजाधिराज समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के संग ही हर्ष का भी पूजन न किया होता, तो वे समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त के समान होते, वर्तमान माधवगुप्त के समान नहीं।

शैलबाला : बेटा, महापुरुष जन्म से ही होते हैं, पूर्वजों का पूजन और अन्यों की घृणा से कोई महापुरुष नहीं होता।

आदित्यसेन : केवल पूर्वजों के पूजन से कोई महापुरुष नहीं होता, यह मैं भी मानता हूँ, परन्तु उसी के साथ अन्यों का पूजन महापुरुष होने में सबसे बड़ी बाधा है, इसमें भी मुझे सन्देह नहीं। पिताजी में क्या नहीं है ? वे बुद्धिमान हैं, बलवान हैं, सभी कुछ हैं, परन्तु उनकी बुद्धि, उनका बल अन्यों की सेवा में जाता है, और इस सेवा का फल क्या है ? तू तो प्रासादों में रहती है, माँ, तू जन-समुदाय में कहाँ विचरण करती है ? मैं जानता हूँ कि जन-समुदाय उन्हें कैसा समझता है ?

शैलबाला : कैसा, बेटा ?

आदित्यसेन : कई बार तुझसे कहा होगा और फिर कहता हूँ—

हर्षवर्द्धन का क्रीतदास ! किसी महान् वंश में जन्म लेकर, महापुरुषों की सन्तति होकर अन्य किसी सेवा से अधिक निकृष्ट कार्य कदाचित् और कोई नहीं है। फिर अन्य भी कैसे ? जिनसे हमारे वंश का नाश तथा हमारी कीर्ति का ह्रास हुआ है और इस वंश-नाश एवं कीर्ति-ह्रास में पिताजी का पूर्ण सहयोग होते हुए भी वर्द्धनों के प्रधान कर्मचारी-गण उन्हें अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। परम प्रतापी गुप्तवंश के वंशजों की यह अवनति, अधःपतन की पराकाष्ठा है, **(पुनः अपना धनुष सँभालते हुए)** माँ, हमारा उत्थान इन वर्द्धनों के पतन पर अवलम्बित है। हमारा उत्कर्ष हर्षवर्द्धन की सेवा से सम्भव नहीं, परन्तु उसके नाश से ही हो सकता है। पिताजी ने यह सेवा-वृत्ति ग्रहण कर, अपने शत्रुओं की सेवा-वृत्ति ग्रहण कर, जो पाप किया है, उसका प्रायश्चित्त मैं करूँगा। **(खड़े होकर बाँयें हाथ में धनुष लिए तथा दाहिना हाथ शैलबाला के पैरों पर रखकर)** माँ, तेरे चरणों की शपथ कर, तेरा यह पुत्र आदित्यसेन, आज यह प्रतिज्ञा करता है कि वर्द्धन-सत्ता का अन्त कर मैं फिर आर्यावर्त्त में गुप्त-साम्राज्य की स्थापना...

शैलबाला : (बीच में शीघ्रता से) बेटा, बेटा, तू क्या कहता है ? यदि तेरे पिता आगये और उन्होंने सुन लिया तो फिर कलह...

[माधवगुप्त का प्रवेश। उसकी अवस्था अब ५० वर्ष की है। यद्यपि उसका शरीर और वेष-भूषा वैसी ही है, तथापि

दाढ़ी के कारण मुख में परिवर्तन दिखायी देता है । सिर और दाढ़ी-मूँछों के बाल कहीं-कहीं श्वेत हो गये हैं। मस्तक पर रेखाएँ और नेत्रों के दोनों कोनों पर कुछ झुरियाँ दिखायी देती है। माधवगुप्त को देखते ही आदित्यसेन चुप हो जाता है। शैलबाला घबड़ाकर खड़ी हो जाती है।]

माधवगुप्त : मेरे पाप का प्रायश्चित्त करेगा, गुप्त-वंश का यह सपूत अपने कुपूत पिता के पाप का प्रायश्चित्त करेगा; आज तो तूनें उद्दण्डता की पराकाष्ठा ही कर दी, आदित्य !

[माधवगुप्त गम्भीर मुद्रा से उपर्युक्त वाक्य कह, एक आसंदी पर बैठ जाता है। शैलबाला अपना सिर झुका लेती है। आदित्यसेन उसी प्रकार खड़ा रहता है। कक्ष में कुछ देर को सन्नाटा छाया रहता है।

माधवगुप्त : (आदित्यसेन से) बेटा, बैठ जा और चौथेपन को प्राप्त होने वाले अपने पिता की आज अन्तिम बार कुछ स्पष्ट बातें सुन ले। शैलबाला, तुम भी बैठ जाओ।

[बिना एक शब्द भी कहे आदित्यसेन और शैलबाला एक-एक आसंदी पर बैठ जाते हैं। फिर कुछ देर तक निस्तब्धता छा जाती है।]

माधवगुप्त : (एक लम्बी साँस लेकर) बेटा, यद्यपि इसके पूर्व भी इस विषय पर तेरा और मेरा कई बार वाद-विवाद हो चुका है, पर आज मैं तुझे इस विषय को दार्शनिक दृष्टि से समझाना चाहता हूँ।

आदित्यसेन : जो आज्ञा, पिता जी।

माधवगुप्त : देख, बेटा, एक ही वाक्य में कहे देता हूँ—अपने कुल का गर्व, अपने बान्धवों से सहानुभूति बुरी बातें नहीं हैं, परन्तु इन भावनाओं के कारण यदि अन्य कुल वालों से ईर्षा की उत्पत्ति हो और इस ईर्षा से अन्धे होने के कारण यदि अन्यों के न्याययुक्त कार्य भी अन्यायपूर्ण दिखें तो यह कुल-गर्व एवं बान्धव-सहानुभूति न अपने लिए कल्याणकारी हो सकती है और न किसी दूसरे के लिए।

[**आदित्यसेन घृणा से मुस्करा देता है।**]

माधवगुप्त : (**आदित्यसेन की मुस्कराहट को ध्यानपूर्वक देख कर**) जान पड़ता है वर्द्धनों के प्रति ईर्षा का तेरे हृदय पर ऐसा प्रभाव हो गया है, कि किसी निष्पक्ष बात को भी तू सुनने के लिए तैयार नहीं है।

आदित्यसेन : स्पष्टवादिता के लिए क्षमा कीजिए, पिताजी, परन्तु स्पष्ट तो कहूँगा ही।

माधवगुप्त : अवश्य।

आदित्यसेन : इस निष्पक्षता की दुहाई आज ही आपने दी हो यह नहीं, आप सदा ही इसकी दुहाई दिया करते हैं। आज मैं यह जानना चाहता हूँ कि हर्ष के पिता ने किस निष्पक्षता के सिद्धान्तानुसार आपके पूज्य पिताजी पर आक्रमण कर उन्हें माण्डलीक बनाया था? किस निष्पक्षता के सिद्धान्त पर उन्होंने आपको और पितृव्य कुमारगुप्त को यहाँ लाकर दासत्व की इन शृङ्खलाओं में जकड़ा था?

माधवगुप्त : परन्तु, इसके लिए हर्षवर्द्धन उत्तरदाता नहीं है।

आदित्यसेन : वे चाहे उत्तरदाता न हों, पर वर्द्धन-वंश अवश्य उत्तरदाता है, जिसके वे उत्तराधिकारी हैं।

माधवगुप्त : पर, इस प्रकार तो गुप्त-वंश ने भी अनेक राज्यों पर आक्रमण किया था, अनेकों को पराजित कर माण्डलीक बनाया था; यदि वर्द्धन-वंश का यह कार्य अनुचित है तो गुप्त-वंश का भी था।

आदित्यसेन : मैं इसके औचित्य और अनौचित्य की चर्चा नहीं कर रहा हूँ, मैं तो केवल यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा हूँ, कि निष्पक्षता की दृष्टि से संसार में कोई बात देखी ही नहीं जा सकती। आपकी कृपा से इस छोटी-सी अवस्था में भी मुझे भूत और वर्त्तमान दोनों का यथेष्ट अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। और, मैं तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि यह संसार बुद्धिमानों और बलवानों के लिए है। जिनमें बुद्धि है, जिनमें बल है, वे दूसरों पर अत्याचार कर सकते हैं; उनका अत्याचार पक्षपात तथा स्वार्थपूर्ण होते हुए भी संसार न्यायपूर्ण मानता है। पिताजी, मैं तो इस संसार में महत्त्वाकांक्षा से अधिक महत्त्वशाली और सफलता से अधिक सफल वस्तु और कोई है, यह मानता ही नहीं। महत्त्वाकांक्षा से भरा हुआ व्यक्ति जीवन-संग्राम में जब सफलता प्राप्त कर लेता है तब वह महापुरुष-पद को प्राप्त करता है। संसार उसी का अनुसरण करता है, और चाहे इने-गिने व्यक्ति उसे बुरा कहें, पर जन-समुदाय उसी का पूजन करता है। सारे संसार के इतिहास

में जिन्हें महापुरुष-पद प्राप्त हैं वे सब इसी कोटि के हैं। निष्पक्षता और निस्स्वार्थता ढकोसला है—विडम्बना है।

माधवगुप्त : और इसी महत्त्वाकांक्षा के वशीभूत होकर वर्द्धन-सत्ता को उलटने में सफलता प्राप्त करना तेरा अन्तिम निर्णय है ?

आदित्यसेन : **(दृढ़ता से)** सर्वथा अन्तिम !

शैलबाला : **(घबड़ाकर)** बेटा, बेटा...

माधवगुप्त : **(बीच ही में)** हर्षवर्द्धन की निस्स्वार्थ प्रजा-सेवा, उनसे तेरे पिता की मैत्री, ये बातें भी तेरे इस निर्णय में कोई बाधा नहीं पहुँचातीं ?

आदित्यसेन : **(और दृढ़ता से)** लेशमात्र भी नहीं, पिताजी।

शैलबाला : **(और भी घबड़ाहट से)** ओह ! ओह !

माधवगुप्त : तू जानता है कि ऐसी परिस्थिति में मेरा क्या कर्त्तव्य हो जाता है ?

आदित्यसेन : **(घृणा भरे स्वर में)** बहुत काल से जानता हूँ। वर्द्धनों की दासता ने आपको अपने बन्धु शशांक नरेन्द्रगुप्त की स्वाधीनता हरण करने के लिए बाध्य किया, वही पुत्र की स्वाधीनता हरण करने के लिए बाध्य करेगी।

माधवगुप्त : **(उत्तेजना भरे स्वर में)** वर्द्धनों की दासता नहीं, कदापि नहीं। हर्षवर्द्धन का साथ देने के लिए मेरी अन्तरात्मा मुझे प्रोत्साहन देती है, हर्षवर्द्धन की न्याय परायणता एवं उनके सच्चे स्नेह तथा शशांक नरेन्द्रगुप्त के अत्याचार एवं उसके विश्वासघात के कारण। तेरी स्वतंत्रता

का यदि अपहरण होगा तो उसका कारण होगा तेरी उद्दण्डता और बार-बार मेरी सम्मति की उपेक्षा।

आदित्यसेन : **(अत्यन्त दृढ़ता से)** मैं इसके लिए तैयार हूँ, पिता जी।

शैलबाला : **(बहुत ही घबड़ाकर खड़े होते हुए)** यह क्या, यह क्या हो रहा है ? **(माधवगुप्त की ओर देखकर गिड़गिड़ाते हुए)** क्या कह रहे हैं, नाथ, आप ! **(आदित्यसेन की ओर देखकर गिड़गिड़ाते हुए)** और क्या कहता है, बेटा, तू ! पिता पुत्र की स्वतन्त्रता का अपहरण करेगा और पुत्र पिता की आज्ञा का उल्लंघन !

आदित्यसेन : **(रूखे स्वर से)** यह कर्त्तव्य-क्षेत्र है, माँ, जिसे पिता जी अपना कर्त्तव्य समझते हैं उसे वे, और जिसे मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, उसे मैं करूँगा।

शैलबाला : **(जल्दी-जल्दी)** यह कैसा कर्त्तव्य-क्षेत्र है ? कर्त्तव्य-क्षेत्र में क्या हृदय को स्थान नहीं है ? क्या यह क्षेत्र हृदय-हीनता से ही भरा हुआ है ? **(माधवगुप्त से)** नाथ, क्या पुत्र के लिए पिता के हृदय में माता के हृदय का-सा स्नेह नहीं रहता ? आदित्य की बाल्यावस्था में तो यह नहीं जान पड़ता था। उस समय तो, नाथ, इसकी एक-एक मुस्कान पर, इसकी एक-एक बाल-क्रीड़ा पर आप सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार रहते थे। क्या इसके युवा होते ही वह सारा स्नेह कर्पूर हो गया ! आजकल तो नित्य-प्रति इसी प्रकार का कोई न कोई प्रसङ्ग उपस्थित रहता है। आपका पुत्र,

आपके प्राणों से प्यारा पुत्र, आपके द्वारा ही बन्दी बनाया जावे, आपके द्वारा ही परतन्त्र किया जावे, पिता पुत्र को कारावास भिजवावे, यह सब क्या है, यह सब क्या है, नाथ !

[शैलबाला मूर्छित होकर गिरने लगती है। माधवगुप्त दौड़कर उसे सँभालता है। आदित्यसेन घृणापूर्ण दृष्टि से माधव-गुप्त की ओर देखता है। माधवगुप्त ऐसी दृष्टि से, जिसमें किसी प्रकार का भाव नहीं है, पहले आदित्यसेन की ओर, फिर तत्काल उसे हटाकर सामने की ओर देखने लगता और एक लम्बी साँस छोड़ता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान : कर्णसुवर्ण में शशांक नरेन्द्रगुप्त के प्रासाद की दालान

समय : सन्ध्या

[वही दालान है जो दूसरे अंक के पहले दृश्य में थी। शशांक का शीघ्रता से प्रवेश। उसकी अवस्था अब ६५ वर्ष की है। केश लगभग श्वेत हो गये हैं। मस्तक और नेत्रों के चारों ओर झुरियाँ दिखायी देती हैं, परन्तु, शरीर वैसा ही हृष्ट-पुष्ट है, जैसा ३० वर्ष पूर्व था। वेश-भूषा पहले के समान है। उसके पीछे-पीछे गुप्तचरों का वही अधिपति आता है, जो दूसरे अंक के पहले दृश्य में आया था। उसकी अवस्था अब ६० वर्ष के ऊपर है, और उसके केश भी श्वेत हो गये हैं। उसकी वेश-भूषा भी पहले के समान है। इन दोनों के पीछे दो दास शयन और एक आसंदी लिये हुए आते हैं और इनके पीछे एक दासी हाथ में चन्दन की डंडीवाला खस का व्यजन। डंडी पर श्वेत हाथी-दाँत का काम है।]

शशांक : (उत्तेजित स्वर में) हाँ, यहाँ कहो, यह सुख-सम्वाद यहाँ कहो। ग्रीष्म में कक्ष इतना तप्त और उसके कारण रुधिर का तापमान भी इतना ऊँचा हो गया था कि यह शुभ-संवाद कक्ष में ही सुन मैं उसे और ऊँचा करने का

साहस न कर सकता था। सात युग, सात युग से भी अधिक समय के पश्चात् इतना दीर्घ काल, विचार ही विचार में खो देने के पश्चात्, यह शुभ संवाद सुना है हर्ष की पुलकेशिन से पराजय। शशांक उसी शरीर के रहते, उन्हीं कानों से यह संवाद सुन रहा है न ? मिथ्या समाचार तो नहीं है ? कहीं दूसरा समाचार तो न पहुँच जायगा जो इस समाचार का खण्डन कर देगा ? सत्य, पूर्ण-रूप से सत्य संवाद है न कि पुलकेशिन ने हर्ष को हरा दिया ? **(समीप के रखे हुए शयन पर बैठते हुए)** कहो, कहो, मुझे व्यौरेवार, व्यौरेवार बताओ। हर्ष की दक्षिण की इस हार का पूरा वृत्तांत वर्णन करो, और बैठ जाओ, गुप्तचराधिपति, क्योंकि वह तो बड़ा लम्बा वर्णन होगा न, बहुत लम्बा।

[गुप्तचरों का अधिपति आसंदी पर बैठ जाता है। शयन और आसंदी लानेवाले दास शयन और आसंदी रखकर चले गये हैं। दासी शशांक पर व्यजन डुलाने लगती है।]

गुप्तचराधिपति : पूरा और व्यौरेवार वृत्तांत तो अभी ज्ञात नहीं है, परमभट्टारक, परन्तु इस समाचार के सत्य होने में सन्देह नहीं है कि हर्ष ने पुलकेशिन से भारी हार खायी है। साथ ही, इस समाचार का खण्डन करने के लिए अन्य समाचार अब आ भी नहीं सकता, क्योंकि हर्ष सेना-सहित उत्तरापथ को लौट रहे हैं।

शशांक : तो अब कम-से-कम इतना तो निश्चित है कि हर्ष को

पुलकेशिन पर विजय प्राप्त नहीं हो सकती ?

गुप्तचराधिपति : इस युद्ध में तो नहीं, महाराजाधिराज, यदि यही सम्भव होता तो वे दक्षिणापथ से लौटते ही क्यों ?

[**शशांक चुप होकर, विचारमग्न हो जाता है। कुछ देर तक निस्तब्धता छायी रहती है।**]

शशांक : (शान्त होते हुए) देखो, गुप्तचराधिपति, मैं सदा यह सोचा करता था कि मैं हृदय से नहीं, किन्तु मस्तिष्क से शासित होता हूँ, परन्तु मैं देखता हूँ कि आज के इस संवाद ने मुझे हृदय से शासित करा दिया। मुझे सबसे अधिक हर्ष इस कारण हुआ है कि आज भी आर्य-धर्म की विजय सम्भव है, अभी भी बौद्ध-धर्म की जड़ इस देश से उखाड़ी जा सकती है। हर्ष इस पराजय से निर्बल हो जायगा। कदाचित् विद्रोह... **(रुक जाता है, फिर शान्त होते हुए)** ओह ! ओह ! अभी भी मेरा मस्तिष्क अपने ठीक स्थान पर नहीं आया दिखता।

[**प्रतिहारी का प्रवेश।**]

प्रतिहारी : (अभिवादन कर) जय हो परमभट्टारक, कान्यकुब्ज के जो ब्राह्मण यहाँ निवास करते हैं, वे श्रीमान् के दर्शन करना चाहते हैं।

शशांक : (गुप्तचराधिपति से) अच्छा, तो तुम इस समय जा सकते हो। हर्ष की दक्षिण की पराजय का ब्यौरेवार समाचार ज्ञात होते ही मेरे सम्मुख उपस्थित करना।

गुप्तचराधिपति : (खड़े होते हुए) जो आज्ञा ! **(अभिवादन**

कर प्रस्थान ।)

शशांक : (प्रतिहारी से) ब्राह्मणों को उपस्थित करो और दासों को आज्ञा दो कि यहाँ कुछ और आसंदियाँ रख दें।

प्रतिहारी : जो आज्ञा । (अभिवादन कर प्रस्थान ।)

[शशांक कुछ देर विचारमग्न बैठा रहता है । फिर एकाएक खड़ा हो धीरे-धीरे टहलने लगता है । कुछ ही देर में टहलने की गति तीव्र हो जाती है और इसीके साथ वह दोनों हाथों को मलने लगता है । धीरे-धीरे टहलने की गति फिर धीमी हो जाती है और वह अनेक बार दीर्घ निश्वास छोड़ता है । दास तीन आसंदियाँ लाकर रखते हैं । तीन ब्राह्मणों का प्रवेश । ये ब्राह्मण, राज्यश्री के अभिषेक के समय जिन पाँच ब्राह्मणों ने कान्यकुब्ज के साम्राज्य को उलट देने के लिए संगठन किया था, उन्हीं में से हैं । ये भी अब वृद्ध हो गये हैं । सबके केश श्वेत हैं और मुख तथा शरीर पर झुरियाँ पड़ गयी हैं ।]

शशांक : (ब्राह्मणों का अभिवादन कर) आइए, पधारिए ब्रह्मदेव !

[शशांक शयन पर और तीनों ब्राह्मण शशांक को आशीर्वाद दे तीनों आसंदियों पर बैठते हैं ।]

एक ब्राह्मण : परमभट्टारक, आज हम लोग आपसे अपने देश को लौटने की आज्ञा लेने आये हैं ।

शशांक : यह क्यों, देव, क्या मेरा कोई अपराध हो गया है ?

पहला : नहीं परमभट्टारक, परन्तु हम लोग जिस कार्य के लिए यहाँ आये थे और जिस कार्य के लिए हम लोगों ने यहाँ

इतने दीर्घ काल तक निवास किया, उसकी सफलता की अब कोई आशा नहीं है। इस चौथेपन में, अब हम लोग काशीवास करना चाहते हैं। हमारा इहलोक बिगड़ ही गया, परमभट्टारक, धर्म की हमारे द्वारा कोई सेवा न हो सकी। हम में से दो के प्राण भी यहीं गये और उनका परलोक भी बिगड़ा। अब हम तीनों काशीवास कर, भगवती भागीरथी के तट पर ही शरीर छोड़ना चाहते हैं, नहीं तो हमारा भी परलोक बिगड़ेगा।

शशांक : आप जानते हैं, आर्य, कि आपके और मेरे जीवन के उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं है। जिस धर्म की सेवा आप चाहते हैं उसी की मैं भी। यही विषय इस दीर्घ काल तक मेरी भी दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न रहा है। परन्तु, प्रभो, मैं हृदय से नहीं, मस्तिष्क से शासित होता हूँ। अब तक उस कार्य का अवसर ही नहीं आया था, भगवान की कृपा से जब अब अवसर आया तब आप प्रस्थान किया चाहते हैं।

पहला : परन्तु यह तो आपने न जाने कितनी बार कहा कि शीघ्र ही अवसर आने की सम्भावना है।

शशांक : परन्तु अब तो सम्भावना की बात नहीं है, आर्य, अवसर आ ही गया।

पहला : **(उत्कंठा से)** किस प्रकार, महाराजाधिराज ?

शशांक : दक्षिण-युद्ध में हर्ष की पराजय हुई है। वह हारकर

ससैन्य उत्तरापथ को लौटा है। अब तक सर्वत्र उसकी जय ही सुन पड़ती थी, यह उसकी पहली पराजय है। नीति कहती है कि शत्रु पर निर्बलता के अवसर पर आक्रमण किया जाय। मैंने आप से कहा न कि मैं हृदय से नहीं, मस्तिष्क से शासित होता हूँ। अब हर्ष के विरुद्ध विद्रोह का ठीक अवसर आ गया है, उसके निधन-कार्य का भी ठीक समय उपस्थित हुआ है। अब बौद्ध-धर्म के मूलोच्छेदन और आर्य-धर्म की नींव दृढ़ करने का समय भी आ गया है। इतने वर्षों और युगों तक जिस घड़ी की प्रतीक्षा की, सौभाग्य से वह अब आ गयी है। अब हमें निराश होने की आवश्यकता ही नहीं है, देव। चलिए, वृद्ध पितृव्य यशोधवलदेव के पास चलें, उन्हें हर्ष की पराजय का यह समाचार सुनावें और भावी कार्य-क्रम निश्चित करें। आप कान्यकुब्ज से जितने परिचित हैं, हम लोग नहीं। अतः सारे कार्यक्रम का निर्णय आपकी सम्मति से ही होगा। मैं तो यह संवाद सुनते ही आपको बुलानेवाला था, पर आप आ ही गये। अब धर्म के उद्धार में विलम्ब नहीं दीखता, सर्वथा नहीं, प्रभो। **(खड़ा होता है।)**

पहला : (खड़े होते हुए) धन्य हमारा भाग्य।

दूसरा : (खड़े होते हुए) अन्त में धर्म की जय निश्चित ही है।

तीसरा : (खड़े होते हुए) इसमें कोई संदेह है ?

शशांक : हो ही नहीं सकता, हो ही नहीं सकता, आर्य।

[तीनों ब्राह्मणों के साथ शशांक का प्रस्थान। दासी दूसरी ओर जाती है और पांच दासों के साथ पुनः आती है। दो दास शयन को और शेष तीन-तीन आसंदियों को उठाकर ले जाते हैं। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान : कान्यकुब्ज नगर का मुख्य चतुष्पथ

समय : सायंकाल

[बीच में सङ्गमर्मर का चबूतरा बना है और इस चबूतरे के पीछे एक, और दोनों ओर दो मार्ग हैं। मार्ग बहुत चौड़े नहीं हैं। तीनों ओर के मार्गों का छोर नहीं दिखता। मार्गों के दोनों ओर गृहों की पंक्तियाँ हैं। निकट के गृहों के एक खण्ड और दूर के गृहों के दो तथा तीन खंड भी दिखते हैं। पीछे के मार्ग में दूरी पर आर्य और बौद्ध मन्दिरों के शिखर दीख पड़ते हैं। जिन गृहों के सामने के भाग दिखायी पड़ते हैं, उनके नीचे के खंड में दूकानें हैं, जिनमें विविध प्रकार की वस्तुएँ सजी हुई हैं। सारा दृश्य सन्ध्या के प्रकाश से प्रकाशित है। मार्गों पर स्त्री-पुरुष आ-जा रहे हैं। कोई-कोई व्यक्ति दूकानों से कुछ खरीदने के लिए किसी-किसी दूकान पर कुछ देर को ठहर जाते हैं और कोई किसी दूकान के भीतर चले जाते हैं। कई व्यक्ति चबूतरे पर बैठे हैं। कुछ बैठते और कुछ बैठकर चले जाते हैं। इधर-उधर से अनेक प्रकार के शब्द और वाक्य सुनायी देते हैं। पुरुषों में प्रायः सभी श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र पहने हैं, कोई-कोई केवल अधो-वस्त्र। अनेक व्यक्ति आभूषण भी पहने हैं। स्त्रियाँ विविध

प्रकार की साड़ियाँ पहने और उसी प्रकार के वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे हैं। प्रायः सभी आभूषण धारण किये हैं। बाँयीं ओर के मार्ग से यानचांग आता है, वह चबूतरे के निकट खड़ा हो जाता है। यानचांग की अवस्था लगभग ५० वर्ष की है। सिर और दाढ़ी-मूँछों के बाल श्वेत हो चले हैं। वह नीली झाँई लिये हुए लाल रंग का सिला हुआ, घुटनें तक लम्बा, चीनी रेशमी अगा तथा कमर से पिंडलियों से नीचा, बिना सिला, उसी प्रकार का वस्त्र (भारतीय अधोवस्त्र के सदृश) पहने है। सिर पर एक चित्र-विचित्र रंग का छोटा-सा रेशमी कपड़ा बाँधे है। आभूषणों से उसका शरीर रहित है। अपने से भिन्न उसकी वेष-भूषा देख-कर अनेक व्यक्ति कौतूहलवश उसके निकट आ जाते हैं; इनमें से प्रायः युवक हैं, केवल एक वृद्ध है।]

एक महाशय : आप कहाँ से आये हैं ?

यानचांग : चीन देश से, बन्धु।

वही : ओहो ! आप तो हमारी भाषा अच्छी प्रकार समझ और बोल लेते हैं।

यानचांग : मैंने आपकी भाषा का अध्ययन किया है।

दूसरा : आपका नाम क्या है, महाशय ?

यानचांग : यानचांग।

तीसरा : आप कदाचित् बौद्ध होंगे और यहाँ यात्रा के लिए आये होंगे ?

यानचांग : हाँ, मैं बौद्ध हूँ, यात्रा के लिए भी आया हूँ और आपका देश देखने के लिए भी।

चौथा : हमारा देश आपको कैसा लगता है ?

यानच्वांग : आपके देश का जितना भाग मैंने देखा है वह तो मुझे बहुत अच्छा लगा। प्राकृतिक और कृत्रिम, दोनों ही दृष्टियों से, आपके देश का अद्भुत सौंदर्य है। यदि आपके देश में एक ओर मैंने हिमालय के हिम से ढँके हुए उच्चतम शिखर, नाना वर्णों एवं आकारों के विविध प्रकार की सुगन्धि से युक्त सुमनों तथा मिष्ठ स्वाद से परिपूर्ण फलों वाले वृक्षों से भरी हुई उसकी उपत्यका, अधित्यका और निर्मल, शीतल एवं मधुर नीरवाला गङ्गा का श्वेत प्रवाह आदि अगणित विशाल एवं सुन्दरतम प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन किये हैं, तो दूसरी ओर मनुष्य-कृत वस्तुओं की भी महानता और मनोहरता का अवलोकन किया है। आपके देश के अनेक खण्डोंवाले विपुल भवन, उनकी पाषाण तथा काष्ठ पर की शिल्प-कला, चित्रावली और अनेक प्रकार के द्रुमों और लताओं से भरे हुए रमणीय उपवन, सभी सुन्दर हैं। इसी प्रकार आपके समाज में शिक्षा द्वारा धर्म, ज्ञान और कला का भी विशद प्रसार हुआ है तथा हो रहा है।

चौथा : आप अभी हमारे देश में कहाँ-कहाँ गये हैं ?

यानच्वांग : हिमालय और सिन्धु को पार कर मैंने आपके देश में प्रवेश किया है और काश्मीर होता हुआ मैं यात्रा के निमित्त सीधा यहाँ आया हूँ, क्योंकि चीन में हम लोगों ने कान्यकुब्ज की बहुत कीर्ति सुनी थी।

तीसरा : कान्यकुब्ज की तो सारी कीर्ति का श्रेय हमारी वर्तमान

सम्राज्ञी, राज्यश्री और महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन को है महाशय ?

यानचांग : (सिर हिलाते हुए) अच्छा, हम लोगों ने चीन में भी यही सुना था।

एक वृद्ध : इसमें सन्देह ही नहीं। आज के तीस वर्ष पूर्व इस नगर और इस देश में क्या था, इसका मुझे स्मरण है। आज कान्यकुब्ज नगर सारे आर्यावर्त्त का सर्वश्रेष्ठ नगर और यह देश सर्वश्रेष्ठ देश हो गया है। आज जो विभूति यहाँ दिखायी देती है, वह गत तीस वर्षों की इन दोनों महान् आत्माओं की तपस्या का फल है।

दूसरा : और कान्यकुब्ज नगर एवं देश ही सारे आर्यावर्त्त की, इसी प्रकार......

[दाहिनी ओर के एक मार्ग से एक सुन्दर मालिन, इठलाती, नाचती और गाती हुई आती है। उसकी बगल में फूलों की एक टोकरी दबी है और हाथ में एक लकड़ी पर पुष्प-मालाएँ। इसे देखकर सब लोग चुप होकर उसकी ओर आकृष्ट होते हैं और यह सम्भाषण रुक जाता है। मालिन चबूतरे के निकट आकर टोकरी चबूतरे पर रखकर खड़ी हो जाती है और गाती रहती है।]

लो, कुसुम मनोहर ले-लो।
हैं टूटे सकल अभी के,
हलके हैं रङ्ग सभी के,
सब ही सुरभित, वर, ले-लो।

हैं मालाएँ मनभावन,
कंकण-भुज-बन्ध सुहावन,
इक-इक से मृदुतर ले-लो।
निज प्रिय के अङ्ग सजाओ,
औ' निरख-निरख सुख पाओ,
तब काम-केलि बहु खेलो।

[अनेक व्यक्ति पुष्प-मालाएँ और पुष्पाभरण खरीदते हैं। यानच्वांग भी एक पुष्प-माला लेता है। कुछ क्षणों के पश्चात् मालिन पुनः अपनी टोकरी उठाकर उसी प्रकार नाचती-गाती हुई बाँयीं ओर के मार्ग से जाती है।]

यानच्वांग : (मालिन के जाने पर दूसरे व्यक्ति से) आप कह रहे थे न कि आपकी सम्राज्ञी और महाराजाधिराज के कारण कान्यकुब्ज क्या, सारे आर्यावर्त्त देश की इसी प्रकार......

दूसरा : हाँ, हाँ, महाशय, सारे आर्यावर्त्त की इसी प्रकार समृद्धि बढ़ी है। आर्यावर्त्त को शासक के रूप में, मनुष्य नहीं, देवता मिल गये हैं।

पहला : इसमें सन्देह नहीं, समस्त उत्तरापथ की प्रजा को जितना सुख है उसका वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता।

तीसरा : अरे, हमारे महाराजाधिराज ने प्रजा के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए विवाह तक नहीं किया।

चौथा : और दिन-रात आठों पहर चौंसठों घड़ी उनका समय प्रजा की हितचिन्तना तथा प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों के पालन करने में जाता है।

पाँचवाँ : कभी-कभी युद्ध हो जाते हैं। यदि युद्ध बन्द हो जाय और उन्हें युद्धों के लिए समय न देना पड़े तथा देश में पूर्ण शान्ति हो जावे तो न जाने प्रजा का और कितना उत्कर्ष हो सकता है।

[यानचांग अपने अंगे की जेब से एक नोटबुक निकालकर उस पर लिखता है।]

पहला : आप क्या लिख रहे हैं, महाशय ?

यानचांग : जो कुछ आप लोगों ने कहा है।

पहला : इसका आप क्या करेंगे ?

यानचांग : आपके देश का समस्त वृत्तान्त लिखकर मैं अपने देश को ले जाऊँगा।

वृद्ध : फिर एक बात और लिखिए कि विवाह न करने पर भी हमारे महाराजाधिराज का अत्यन्त शुद्ध और निर्मल चरित्र है।

[बाँयीं ओर से 'जय, कुमारराज भास्कर वर्मन की जय' शब्द आता है और शिबिका पर कुमारराज आता है। कुमार-राज की अवस्था और वेश-भूषा हर्ष के समान ही है। लोग शिविका के मार्ग से हट जाते हैं। आगे-आगे प्रतिहारी चल रहा है, उसके पीछे आठ मनुष्य रजतमण्डित शिविका उठाये हुए हैं और उनके पीछे दो शरीर-रक्षक कवच पहने और आयुध लगाये हुए दाहिने हाथ में शल्य लिए चल रहे हैं। कुमारराज का सब लोग झुक-झुककर अभिवादन करते हैं। कुमारराज अभिवादन का उत्तर सिर झुकाकर देता है। प्रतिहारी उसी

प्रकार बोलता हुआ जाता है। पीछे-पीछे शिविका दाहिनी ओर के मार्ग से जाती है।]

यानच्वांग : (**शिविका जाने पर**) ये कौन हैं ?

पहला : कामरूप देश के राजा कुमारराज भास्कर वर्मन।

[**यानच्वांग लिखता है।**]

पहला : अरे, ऐसे-ऐसे पचासों राजा हमारी सम्राज्ञी और महाराजाधिराज के माण्डलीक हैं। आप कहाँ तक लिखिएगा?

वृद्ध : नहीं, नहीं, इनका बहुत बड़ा महत्त्व है।

यानच्वांग : कैसे ?

वृद्ध : एक तो इनका कुटुम्ब बहुत प्राचीन है। कहते हैं, महाभारतकाल से इनके वंश का कामरूप देश पर राज्य है। दूसरे, ये हमारे महाराजाधिराज के पहले मित्र हैं।

[**यानचांग फिर लिखता है।**]

यानचांग : (**कुछ ठहरकर**) एक बात मैं पूछूँ, आप लोग अप्रसन्न तो न होंगे ?

पहला : नहीं, नहीं, अप्रसन्न होने की क्या बात है, आप तो हमारे अतिथि हैं।

दूसरा : हाँ, हाँ, आप जो कुछ पूछेंगे हम बतायेंगे।

यानचांग : मैंने सुना है कि आपके महाराजाधिराज अभी दक्षिण भारत के चालुक्य-नरेश पुलकेशिन से पराजित होकर लौटे हैं।

दूसरा : नहीं, नहीं, वह बात ऐसी नहीं है।

यानचांग : तब ?

पहला : देखिये, मैं आपको बताता हूँ।

दूसरा : नहीं नहीं, मैं बताता हूँ।

पहला : (**जोर से**) नहीं जी, मुझे बताने दो।

तीसरा : मैं सबसे अधिक जानता हूँ।

वृद्ध : अच्छा, तुम ठहरो, मैं वृद्ध हूँ, ठीक-ठीक बता दूँगा।

पहला, दूसरा, तीसरा : (**एक साथ जोर से**) नहीं, नहीं, मुझसे सुनिए, पहले मेरी सुनिए। मैं आपको पक्की बात बताऊँगा, पक्की।

यानच्वांग : शान्त होइए, शान्त होइए, मैं वृद्ध महाशय से सुनूँगा।

[**सब चुप हो जाते हैं।**]

वृद्ध : बात यह है कि पुलकेशिन से पराजित होकर लौटे हैं, ऐसी बात नहीं है।

यानच्वांग : तब ?

वृद्ध : उन्होंने पुलकेशिन पर आक्रमण किया था, पर उन्हें सफलता नहीं मिली, बस; (**कुछ ठहरकर**) और इसका कारण है।

यानच्वांग : वह क्या ?

वृद्ध : उनके प्राचीन महाबलाधिकृत सिंहनाद अब संसार में नहीं हैं। वर्त्तमान महाबलाधिकृत भण्डि इस युद्ध की ठीक व्यवस्था नहीं कर सके।

पहला : बराबर यही बात है, क्योंकि सेना के भट तो इतनी वीरता से लड़े कि संसार भर में कहीं ऐसी वीरता देखना तो दूर रहा किसी ने सुनी भी न होगी।

दूसरा : इसमें कोई सन्देह नहीं। एक भट का तो यह वृत्त सुना गया कि उसका दाहिना हाथ कट गया तो बाँयें हाथ से ही शत्रु-पक्ष के दस भटों को मारा।

तीसरा : और एक भट का यह वृत्त सुना गया कि उसका मुण्ड कट गया तो उसके रुण्ड ने दो घड़ी तक युद्ध किया।

पहला : अरे, एक-दो ने नहीं, न जाने कितने भटों ने इस प्रकार की वीरता दिखायी।

चौथा : फिर दक्षिण पर आक्रमण करने का आयोजन किया जा रहा है। इस बार पुलकेशिन को जान पड़ेगा कि आर्यावर्त्त कितना शक्तिशाली है!

[दाहिनी ओर के मार्ग से मल्लों का एक समूह वाद्य बजाता हुआ आता है। सब चुप होकर उसे देखने लगते हैं। मल्लों का समूह बाँयीं ओर से चला जाता है।]

यानच्वांग : (मल्ल समूह के जाने पर) ये लोग कौन थे?

पहला : ये मल्ल थे।

यानच्वांग : ये क्या करते हैं?

पहला : व्यायाम और मल्ल-युद्ध।

[यानच्वांग फिर लिखता है। उसी समय बाँयी ओर के मार्ग से एक सुगन्धित द्रव्य बेचने वाला गन्धी एक पिटारी लिये, गाता हुआ आता है। सबका ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है। गन्धी चबूतरे के निकट आकर खड़ा हो, अपनी पिटारी चबूतरे पर रखकर खोलता और गाने लगता है।]

उद्यानों की सार-भूत यह मेरी मंजु पिटारी।
इसकी इक-इक, अहो ! फुलेली उपवन की इक-इक क्यारी।
किसी में पाटल-सत्त्व भरा।
किसी में चंपक-तत्त्व धरा।
किसी में जया वास करती ।
किसी में जाति दुःख हरती।
बकुल, केवड़ा, जुही, केतकी भरी हुई इस में सारी।
जो मस्तिष्क-शिथिल, उसको यह देती सदा शक्ति न्यारी।

[अनेक व्यक्ति सुगन्धित द्रव्य खरीदते हैं, कुछ ही देर में वह पिटारी बन्द कर, उसे उठाकर, गाता हुआ दाहिनी ओर के मार्ग से जाता है।]

यानचांग : **(गन्धी के जाने पर)** यह कौन था ?

दूसरा : सुगन्धित द्रव्य बेचने वाला गन्धी। हमारे कान्यकुब्ज के सुगन्धित द्रव्य सारे आर्यावर्त्त में प्रसिद्ध हैं।

[यानचांग लिखता है।]

यानचांग : बन्धुओ, एक बात आप से और पूछता हूँ। आशा है, उसके कारण आप अप्रसन्न न होंगे।

पहला : कदापि नहीं ।

यानचांग : आपके राज्य में, आपके महाराजाधिराज से आप लोगों के समान सभी लोग प्रसन्न हैं या कोई अप्रसन्न भी हैं।

दूसरा : उनसे अप्रसन्न ! कोई नहीं। सारे आर्यावर्त्त में बालक से वृद्ध तक, एक भी व्यक्ति नहीं ।

तीसरा : हाँ, हाँ, कोई नहीं।

वृद्ध : देखो, बन्धु, झूठ न बोलो।

यानच्वांग : तब कोई उससे अप्रसन्न भी है ?

वृद्ध : (सिर हिलाकर) हाँ, हैं।

यानच्वांग : कौन ?

वृद्ध : कुछ कट्टर ब्राह्मण।

यानच्वांग : (सिर हिलाकर) अच्छा, इसका कारण ?

वृद्ध : कुछ विशेष नहीं, उनकी बौद्ध-धर्म से सहानुभूति है, यही प्रधान कारण है।

यानच्वांग : ऐसे ब्राह्मण बहुत हैं ?

वृद्ध : बहुत थोड़े, परन्तु उनका कहीं न कहीं गुप्त संगठन है। अनेक वर्षों से सुना जाता है कि इस सत्ता को उलटने के लिए वे संगठन कर रहे हैं।

यानच्वांग : उनके संगठन का पता नहीं लगा ?

वृद्ध : अब तक तो नहीं लगा।

यानच्वांग : राज्य की ओर से पता लगाने का प्रयत्न तो हुआ होगा ?

वृद्ध : थोड़ा-बहुत प्रयत्न कदाचित् हुआ हो, परन्तु उनकी संख्या और शक्ति इतनी कम है कि न वे आज तक कुछ कर सके न भविष्य में कुछ कर सकेंगे; अतः राज्य इसकी चिन्ता ही नहीं करता। यह तो आपने पूछा कि महाराजाधिराज से कोई अप्रसन्न है या नहीं, इसलिए मैंने जो कुछ सुना था, वह आपको बता दिया। इस विषय को कोई महत्त्व नहीं है।

[यानच्वांग लिखता है। दाहिनी ओर से एक फल बेचने वाली सुन्दर स्त्री फलों की टोकरी बगल में दबाये नाचती और

गाती हुई आती है। सबका ध्यान उस ओर आकर्षित होता है। वह चबूतरे पर आकर फल की टोकरी रखती और गाती रहती है।]

लेकर आयी फल मैं ले-लो, कान्यकुब्ज की फलवाली।
दानोंयुत दाड़िम हूँ लायी, इसके ये दाने
सुदती प्रमदा के दन्तों पर, हँसते मनमाने।
रस से भरी दाख हूँ लायी, इस रस के सम्मुख
रमणी के अधरों का रस भी, दे सकता क्या सुख ?
गूदे भरे आम हूँ लायी, इस गूदे का दल
कहता--वनिता के कपोल क्या ? कहो न तुम--चल-चल
नहीं मिलेगी सकल जगत् में फिर ऐसी सुन्दर डाली।

[कई व्यक्ति फल खरीदते हैं। कुछ क्षणों के पश्चात् वह टोकरी उठाकर उसी प्रकार नाचती-गाती हुई बाँयीं ओर जाती है। उसी समय दो अध्यापकों के साथ विद्यार्थियों का एक समूह दाहिनी ओर के मार्ग से आता है। अध्यापकों की वेश-भूषा साधारण पुरुषों के समान है, परन्तु विद्यार्थियों की ब्रह्म-चारियों के सदृश।]

दूसरा : ये हमारे नालन्द विश्वविद्यालय के विद्यार्थी और अध्यापक हैं। अभी विद्यालय की छुट्टी हुई है, अतः कान्यकुब्ज देखने के लिए आये हैं।

[समूह चबूतरे के निकट आजाता है। यानचांग समूह की ओर बढ़ता है। उसके साथी भी उसके साथ जाते हैं।]

यानचांग : (नोटबुक को जेब में रखकर, प्रस

का अभिवादन करते हुए) यह चीनी यात्री यानचांग नालन्द के अध्यापकों का अभिवादन करता है।

एक अध्यापक : (खड़े होकर, अभिवादन का उत्तर देते हुए, दूसरा अध्यापक और विद्यार्थी समूह भी खड़ा हो जाता है) अच्छा, आप इस देश में यात्रा के निमित्त आये हैं।

यानचांग : हाँ, महानुभाव, और आपके इस परम सुन्दर पवित्र, सभ्य और सुसंस्कृत देश के दर्शनार्थ भी।

दूसरा अध्यापक : (मुस्कराकर) आप तो हमारी भाषा बड़ी सुन्दरता से बोलते हैं, महाशय !

यानचांग : हाँ, महानुभाव, मैंने आपकी देववाणी और प्राकृत दोनों भाषाओं के थोड़े-बहुत अध्ययन का प्रयत्न किया है।

पहला : यह सुनकर हमें परम प्रसन्नता हुई।

यानचांग : नालन्द की कीर्ति तो हमारे देश के कोने-कोने में पहुँच गयी है, महानुभावो। कदाचित् समस्त विश्व में इस समय ऐसा कोई विश्वविद्यालय नहीं है।

दूसरा : कुछ लोग ऐसा समझते हैं, परन्तु हम लोगों को इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है।

यानचांग : नालन्द विश्वविद्यालय में कितने विद्यार्थी हैं, महानुभाव ?

पहला : कई सहस्र हैं, महाशय, परन्तु नालन्द के अतिरिक्त इस देश में और भी कई विश्वविद्यालय हैं और फिर प्रत्येक नगर और ग्रामों में अनेक संस्थाएँ और गुरुकुलों द्वारा शिक्षा की व्यवस्था है। कन्याओं के लिए कन्या-विद्यालय

अलग हैं।

यानचांग : और इस देश में शिक्षा की क्या प्रणाली है, महानुभाव?

पहला : यह तो थोड़े में नहीं बताया जा सकता, महाशय। आप स्वयं नालन्द आइए और सब बातों का निरीक्षण कीजिए। नालन्द की शिक्षा-प्रणाली देखने से आपको देश भर की शिक्षा-प्रणाली का ज्ञान हो जायगा।

यानचांग : चीन देश से विदा होते समय ही मैंने नालन्द आने और वहाँ विद्यार्थी होकर कुछ समय तक अध्ययन करने का विचार कर लिया था, महानुभाव।

पहला : यह आपकी कृपा है। पर, आप आवें अवश्य और मेरे साथ ही निवास करें।

यानचांग : आपका शुभ नाम, महानुभाव ?

पहला : प्रभामित्र।

यानचांग : **(अंगे से नोटबुक निकाल उसमें नोट करते हुए दूसरे से)** और आपका, महानुभाव ?

दूसरा : जिनमित्र।

यानचांग : **(इसे भी नोट करते हुए)** नालन्द में तो विदेशों के भी अनेक विद्यार्थी अध्ययन करते हैं न ?

दूसरा : हाँ, हाँ, अनेक।

पहला : तो फिर अब आज्ञा हो ?

यानचांग : क्षमा कीजिए कि मैंने आप लोगों का इतना अमूल्य समय लिया। **(दोनों को अभिवादन करता है।)**

पहला : **(अभिवादन का उत्तर देते हुए)** नहीं, नहीं, कोई बात

नहीं। आपके दर्शन से हम लोगों को परम हर्ष हुआ है।
(बाँयीं ओर के मार्ग पर आगे बढ़ता है।)

दूसरा : (अभिवादन का उत्तर देते हुए) आप नालन्द अवश्य आवें। **(उसी ओर बढ़ता है।)**

यानचांग : हाँ, हाँ, अवश्य और शीघ्र ही आऊँगा, महानुभाव।

[विद्यार्थीगण यानचांग का अभिवादन करते हैं। यानचांग अभिवादन का उत्तर देता है। अध्यापकों और विद्यार्थी समूह का बाँयीं ओर के मार्ग से प्रस्थान।]

यानचांग : (कुछ ठहरकर अपने पहले साथियों से) क्यों, बन्धुओ, आपकी सम्राज्ञी और महाराजाधिराज के दर्शन भी हो सकते हैं ?

पहला : अवश्य। जो उनसे मिलना चाहते हैं, वे उन सबसे मिलते हैं।

दूसरा : और बड़ी नम्रतापूर्वक।

तीसरा : हाँ, मद तो उन्हें छू नहीं गया है।

वृद्ध : और आपसे मिलकर तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता होगी।

यानचांग : यह क्यों ?

वृद्ध : वे विद्वानों से बड़ी प्रसन्नतापूर्वक मिलते और उनका बड़ा सत्कार करते हैं। आप तो बड़े विद्वान् जान पड़ते हैं।

यानचांग : (मुस्कराकर) यह आपने कैसे जाना ?

वृद्ध : क्यों ? हमारी भाषा विदेशी होने पर भी आप उसमें इस प्रकार वार्तालाप करते हैं, क्या यह साधारण बात है ?

[दाहिनी ओर के मार्ग से संगस्थविर के सङ्ग बौद्ध भिक्षु-

भिक्षुणियों के एक समूह का प्रवेश। ये सब रक्त-वर्ण के चीवर पहने हुए हैं।]

यानच्वांग : **(अपने साथियों से)** ये संघस्थविर के सङ्ग बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी जान पड़ते हैं।

पहला : हाँ, महाशय, हमारे नगर में अनेक बौद्ध-मन्दिर और संघाराम भी हैं।

दूसरा : हमारे महाराजाधिराज आर्य और बौद्ध, दोनों धर्मों को एक दृष्टि से देखते हैं।

[यानच्वांग संघस्थविर की ओर बढ़ता है। परदा गिरता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान : हर्ष के प्रासाद की बाहरी दालान

समय : सन्ध्या

[दालान की बनावट दूसरे अंक के पहले दृश्य की दालान के सदृश ही है, परन्तु भित्ति और स्तम्भों का रंग उस दालान की भित्ति और स्तम्भों के रंग से भिन्न है। भण्डि का प्रवेश। भण्डि की अवस्था अब लगभग ५० वर्ष की है। यद्यपि शरीर वैसा ही है तथापि गलमुच्छों, मस्तक तथा नेत्रों के दोनों ओर कुछ झुरियाँ पड़ जाने के कारण मुख में बहुल परिवर्त्तन दिख पड़ता है। केश भी यत्र-तत्र श्वेत हो गये हैं। वेश-भूषा पहले के समान ही है। मुख उदास है।]

भण्डि : (जोर से) प्रतिहारी ! प्रतिहारी !

[दूसरी ओर से प्रतिहारी का प्रवेश। वह अभिवादन करता है।]

भण्डि : (अभिवादन का उत्तर देते हुए) परमभट्टारक और सम्राज्ञी कहाँ विराज रहे हैं ?

प्रतिहारी : उपशाला में श्रीमान्।

भण्डि : और कौन है ?

प्रतिहारी : चीनी यात्री यानचांग।

भण्डि : (**पैर पटककर**) ओह ! क्या दिन-रात वह यही बैठा रहता है ?

प्रतिहारी : (**कुछ मुस्कराकर**) दिन-रात तो नहीं, श्रीमान्, परन्तु इधर उनका आवागमन कुछ अधिक हो रहा है।

भण्डि : (**एक ओर से दूसरी ओर तक टहलकर**) परन्तु, मुझे आज सन्ध्या को उपस्थित होने को आज्ञा दी गयी थी।

प्रतिहारी : मैं श्रीमान् के आगमन की सूचना करता हूँ।

भण्डि : (**कुछ सोचकर**) हाँ, सूचना तो कर ही दो।

[**प्रतिहारी जिस ओर से आया था उसी ओर जाता है। भण्डि इधर-उधर टहलता है। जिस ओर से भण्डि आया था उसी ओर से माधवगुप्त का प्रवेश। माधवगुप्त बहुत ही उदास है। दोनों एक दूसरे का अभिवादन करते हैं।**]

भण्डि : (**माधवगुप्त को देख, खड़े होकर**) बहुत अच्छा हुआ, तुमसे यहीं मिलना होगया, मित्र। मैं तो तुमसे मिलना ही चाहता था। तुमने एक नई बात सुनी ?

माधवगुप्त : कौनसी ?

भण्डि : दक्षिण की पराजय का सारा दोष मेरे सिर पर मढ़ा जा रहा है।

माधवगुप्त : मैंने भी यही चर्चा सुनी है, परन्तु परमभट्टारक ऐसा नहीं समझते।

भण्डि : परमभट्टारक चाहे न समझें, पर जन-समुदाय अवश्य समझता है।

माधवगुप्त : इसका कारण है।

भण्डि : क्या ?

माधवगुप्त : बात यह है कि राजसिंहासन पर अब तक सम्राज्ञी आसीन हैं। परमभट्टारक और महामात्य ही सारा राज्य-काज चला रहे हैं। महाबलाधिकृत सिंहनाद नहीं हैं। केवल यह नवीन बात हुई है; और, इस राज्य के तिहास में पराजय नयी बात है। अतः तुम पर सारा दोष लाद देने से सर्वसाधारण को सन्तोष हो जाता है।

भण्डि : परन्तु, परमभट्टारक स्वयं युद्ध पर गये थे।

माधवगुप्त : राजा को यथासम्भव दोष न देकर कर्मचारियों को दोष देना यह जन-समुदाय की प्रवृत्ति होती है।

भण्डि : और महाबलाधिकृत सिंहनाद के पश्चात् वल्लभी को जो मैंने जीता था।

माधवगुप्त : वल्लभी की जय के पश्चात् दक्षिण की पराजय हुई है न ?

भण्डि : हाँ।

माधवगुप्त : जन-समुदाय का स्मृति-कोष बहुत ही छोटा होता है। वह नवीन बात को स्मरण रख सकता है ; पुरानी बातों को नहीं।

भण्डि : **(कुछ ठहरकर)** अच्छा, इस बार मैं दिखा दूँगा कि महाबलाधिकृत भण्डि किस वस्तु का बना है। दक्षिण पर आक्रमण की जो योजना मैंने बनायी है उसमें असफलता को स्थान ही नहीं है। उसी योजना पर विचार करने के

लिए परमभट्टारक ने इस समय मुझे बुलाया है।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी : (दोनों का अभिवादन कर भण्डि से) चलिए।

[तीनों का दाहिनी ओर को प्रस्थान। परदा उठता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान : कान्यकुब्ज के राज-प्रासाद की दालान

समय : सन्ध्या

[वही दालान है जो इस अंक के पहले दृश्य में थी। बीच में सुवर्ण-मण्डित तथा रत्नों से जड़ा हुआ शयन रखा है, जिस पर हर्ष और राज्यश्री बैठे हुए हैं। दाहिनी ओर एक सुवर्ण-मण्डित आसंदी रखी है, जिस पर यानचांग बैठा है। बाँयीं ओर दो सुवर्णमण्डित आसंदियाँ रखी हैं, जो रिक्त हैं। एक दासी खड़ी हुई खस का पंखा झल रही है। प्रतिहारी के संग माधवगुप्त और भण्डि का प्रवेश। प्रतिहारी अभिवादन करता है और उन्हें छोड़कर अभिवादन कर पुनः बाहर जाता है। माधवगुप्त और भण्डि, हर्ष और राज्यश्री का अभिवादन करते हैं। दोनों अभिवादन का उत्तर देते हैं।]

हर्ष : आइए, महाबलाधिकृत और माधवगुप्त, बैठिए।

[दोनों रिक्त आसंदियों पर बैठते हैं।]

हर्ष : (माधवगुप्त और भण्डि से, यानचांग की ओर संकेत कर) आप लोग कदाचित् चीनी यात्री यानचांग महोदय को नहीं जानते ? (यानचांग से भण्डि की ओर संकेत कर) ये इस राज्य के महाबलाधिकृत हैं। (माधवगुप्त की ओर संकेत

कर) और ये मेरे परम मित्र माधवगुप्त ।

[**तीनों एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं।**]

माधवगुप्त : आपका नाम तो सुना था, परन्तु अब तक दर्शन का सौभाग्य प्राप्त न हुआ था ।

भण्डि : मैंने भी नाम सुना था, परन्तु कभी भेंट न हुई थी ।

यानचांग : कान्यकुब्ज में आये मुझे थोड़े ही दिन हुए हैं। आप लोगों को राज्य-काज से अवकाश ही कहाँ, इसलिए अब तक मिलना न हो सका, परन्तु आप दोनों की प्रशंसा मैंने परमभट्टारक और प्रजा दोनों के ही मुख से सुनी है। हर्ष की बात है कि आज दर्शन भी हो गये ।

हर्ष : यानचांग महोदय संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के पण्डित हैं ।

राज्यश्री : और बौद्ध-धर्म का भी इन्होंने बड़ा अच्छा अध्ययन किया है ।

भण्डि : (**सिर हिलाते हुए**) अच्छा ।

माधवगुप्त : मैंने भी सुना था ।

[**कुछ देर सब लोग चुप रहते हैं ।**]

भण्डि : महाराज, दक्षिण पर आक्रमण के सम्बन्ध में जो नयी योजना बनाने की आज्ञा हुई थी, वह तैयार हो गयी है। राज-सभा ने उस पर आज विचार भी कर लिया है ।

राज्यश्री : परन्तु, अब दक्षिण पर आक्रमण न होगा, महाबलाधिकृत । मैंने परमभट्टारक से भी इसकी स्वीकृति ले ली है ।

भण्डि : (**चौंककर**) दक्षिण पर आक्रमण न होगा ?

राज्यश्री : हाँ, महाबलाधिकृत, अभी-अभी हम लोगों ने यह निर्णय किया है।

भण्डि : इसका क्या अर्थ है, सम्राज्ञी ?

राज्यश्री : **(मुस्कराकर)** आक्रमण न होने का अर्थ तो आक्रमण न होना ही हो सकता है, महाबलाधिकृत।

[भण्डि को छोड़कर सब लोग हँस पड़ते हैं।]

भण्डि : **(कुछ सकुचते हुए)** हाँ, यह तो ठीक है, सम्राज्ञी; किन्तु दक्षिण पर आक्रमण न होगा, यह बात मैं विचार ही न सकता था। आर्यावर्त्त का साम्राज्य किसी से पराजित होकर बदले के लिए आक्रमण न करेगा, यह बात मेरे मन में नहीं उठ सकती थी।

राज्यश्री : परमभट्टारक ने सिंहासनासीन होते ही शशांक नरेन्द्र-गुप्त से बदला लेने के लिए गौड़ पर आक्रमण करने का विचार किया था। इसके पश्चात् पहले छः वर्षों में तो उन्हें अश्व से उतरने तक का अवकाश न मिला और शेष समय भी कभी युद्ध, कभी विप्लव की शान्ति एवं अन्य झगड़ों में गया। अब दक्षिण से बदला लेने के लिए फिर से युद्ध हो, यह मेरी सहन-शक्ति के बाहर की बात है।

भण्डि : परन्तु, सम्राज्ञी, दक्षिण के युद्ध में बहुत थोड़ा समय लगेगा। फिर इस बार दक्षिण के युद्ध की मैंने ऐसी योजना बनायी है कि उसमें असफलता मिल ही नहीं सकती।

राज्यश्री : नहीं, महाबलाधिकृत, अब मैं एक दिन का भी युद्ध नहीं चाहती। सिंहासनासीन होने के दिन मैंने भारत में

एक राष्ट्र की स्थापना के प्रयत्न की घोषणा की थी। उस प्रयत्न की ओर, मेरे मतानुसार हम लोग एक पग भी आगे नहीं बढ़े हैं। परमभट्टारक और मैं दोनों ही वृद्ध हो चले हैं। अब युद्ध नहीं, एक दिन का भी युद्ध नहीं।

भण्डि : यदि मैं यह कहूँ तो क्षमा कीजिएगा, सम्राज्ञी, कि मैं आपकी इस बात से सहमत नहीं कि एक राष्ट्र-निर्माण के कार्य में हम लोगों ने एक पग भी आगे नहीं बढ़ाया है। जब तक सारा भारतवर्ष एक साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं आता, तब तक एक राष्ट्र-निर्माण का कार्य हो ही कैसे सकता है? आर्यावर्त्त एक साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया है, अतः जहाँ तक उत्तरापथ का सम्बन्ध है, वहाँ तक एक राष्ट्र-निर्माण का कार्य बहुत दूर तक हो चुका। ज्योंही दक्षिण भारत साम्राज्य के अन्तर्गत आ जायगा, त्योंही एक राष्ट्र के निर्माण-कार्य का सबसे कठिन भाग समाप्त हो जायगा और फिर हम सब लोगों का सारा समय एक धर्म, एक भाषा और एक प्रकार के सामाजिक संगठन-सम्बन्धी कार्यों में ही व्यतीत होगा।

राज्यश्री : परन्तु, उत्तर भारत एक साम्राज्य के अन्तर्गत होने पर भी क्या उसमें एक राष्ट्र का निर्माण हो गया है?

भण्डि : न...न...नहीं हुआ, यह मैं मानता हूँ, परन्तु इसके कारण हैं।

राज्यश्री : कौनसे ?

भण्डि : **(कुछ सोचते हुए)** अनेक कारण हैं, सम्राज्ञी।

राज्यश्री : होंगे, परन्तु मेरे मतानुसार सबसे प्रधान कारण एक ही है, महाबलाधिकृत, और वह है परमभट्टारक को उस ओर पूर्ण लक्ष देने के लिए अवकाश न मिलना। अब पहले आर्यावर्त्त में एक राष्ट्र का निर्माण हो जावे तब हम दक्षिणापथ पर आक्रमण करने की बात सोचेंगे।

[कुछ देर सब लोग चुप रहते हैं।]

यानचांग : **(हर्ष और राज्यश्री से)** यदि मुझे आज्ञा हो तो महाबलाधिकृत से कुछ निवेदन किया चाहता हूँ।

हर्ष : हाँ, हाँ, आप जो कहना चाहें अवश्य कह सकते हैं।

भण्डि : मैं भी सहर्ष सुनूँगा ?

यानचांग : क्या आप समझते हैं, महाबलाधिकृत, कि सारे भारतवर्ष पर एक राज्य होने से भारत में एक राष्ट्र का निर्माण हो जायगा ?

भण्डि : केवल इतने ही से हो जायगा, यह मैं नहीं कहता, परन्तु यह उसके लिए सबसे पहली, सबसे कठिन और सबसे प्रधान बात है।

यानचांग : मौर्यों के समय तो सारा भारत एक साम्राज्य के अन्तर्गत था, गुप्तों के समय भी सारा आर्यावर्त्त एक साम्राज्य के अन्तर्गत रहा, फिर भी भारत में एक राष्ट्र का निर्माण क्यों न हुआ ? बात यह है, महाबलाधिकृत, कि युद्ध करके बलपूर्वक भिन्न-भिन्न राज्यों को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने से एक राष्ट्र का निर्माण ही असम्भव है। वे राज्य सदा यह सोचा करते हैं कि बलपूर्वक हम एक

साम्राज्य के अन्तर्गत रखे गये हैं। बार-बार वे विद्रोह करते है और अवसर पाते ही स्वतन्त्र हो जाते है। इसलिए...

हर्ष : (**बीच ही में**) मैं आपके कथन के बीच ही में कुछ कह देना चाहता हूँ।

यानचांग : हाँ, हाँ, अवश्य।

हर्ष : जब मैंने स्थाण्वीश्वर का राज्य ग्रहण किया और सम्राज्ञी कान्यकुब्ज के सिंहासन पर बैठीं, उस समय हम लोगों ने भी यही विचार किया था। हम लोग बलपूर्वक किसी को साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं लाना चाहते थे। सम्राज्ञी ने सिंहासनासीन होते ही जो घोषणा की थी उसमें कह दिया था कि इस साम्राज्य के अन्तर्गत जो राज्य सम्मिलित होंगे उनका पद समानाधिकारियों का रहेगा। परन्तु, वह नीति सफल न हुई। कुछ राज्यों को छोड़कर शेष राज्य स्वेच्छा-पूर्वक साम्राज्य में सम्मिलित ही न हुए तब विवश होकर युद्ध करना पड़ा।

यानचांग : राज्यों को सम्मिलित करने का प्रयत्न किये बिना ही यदि एक धर्म, एक भाषा और एक प्रकार के सामाजिक संगठन का प्रयत्न किया गया होता, तो भिन्न-भिन्न देशों में एकता की भावना उत्पन्न हो जाती और तब उन्हें अनुमान हो जाता कि साम्राज्य उन्हीं की वस्तु है, तथा एक साम्राज्य के अन्तर्गत रहना उन्हीं के स्वार्थ के लिए आवश्यक है।

भण्डि : सारे देश को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाये बिना यह

प्रयत्न ही क्योंकर हो सकता था ?

यानचांग : क्यों ? चीन देश आपके साम्राज्य के अन्तर्गत हुए बिना ही क्या आपके देश ने वहाँ बौद्ध-धर्म की स्थापना का यत्न नहीं किया था ? एक चीन ही नहीं, भारतीय सम्राट् अशोक ने तो सारे संसार को एक सूत्र में बाँधने का उद्योग किया था, और यह, संसार को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किये बिना ही। आप समझते हैं कि यदि आप अपने देश को एक साम्राज्य के अन्तर्गत ले भी आये और यदि अपने-अपने देश में एक राष्ट्र की स्थापना कर भी ली तो आप सब भयों से मुक्त हो जायँगे ?

भण्डि : फिर हमें कौनसा भय रह जायगा ?

यानचांग : विदेशी आक्रमणों का।

भण्डि : उसके लिए हम यथेष्ट रूप से बलवान रहेंगे।

यानचांग : परन्तु, जैसे एक प्रकार की वस्तु से उसी प्रकार की वस्तु उत्पन्न होती है, वैसे युद्ध से सदा युद्ध की उत्पत्ति होती है। ज्योंही एक विदेशी आक्रमण में आपकी शक्ति का व्यय हुआ और दूसरों ने देखा कि आप निर्बल हैं, त्योंही आप पर दूसरा आक्रमण होगा, जब तक यह युद्ध रहेगा तब तक आप ही नहीं सारे संसार की यही अवस्था रहेगी। इसलिए सम्राट् अशोक के सदृश, बिना युद्ध के ही, सारे संसार को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न होना चाहिए।

भण्डि : परन्तु, सम्राट् अशोक का तो वह प्रयत्न असफल हो गया।

यानचांग : एक देश, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, अकेला, इतना बड़ा कार्य नहीं कर सकता। इसके लिए अनेक देशों में एक साथ यह प्रयत्न चलना चाहिए और वह भी सतत। सम्राट् अशोक के पश्चात् वह कार्य इस प्रकार से अब तक संसार में कहीं किया ही नहीं गया।

माधवगुप्त : **(जो अब तक चुप होकर सारे विवाद को ध्यानपूर्वक सुन रहा था)** तो आप समझते हैं कि संसार पर एक धर्म, एक भाषा और एक सामाजिक संगठन की स्थापना हो सकती है ?

यानचांग : यह चाहे न हो, परन्तु उस सहिष्णुता की स्थापना अवश्य हो सकती है, जिसमें एक धर्म, एक भाषा और एक प्रकार के सामाजिक संगठनवाले दूसरे धर्म, दूसरी भाषा और दूसरे प्रकार के सामाजिक संगठनवालों को अपना शत्रु न समझकर मित्र समझें, एक-दूसरे का रक्तपात करने के इच्छुक न रहकर एक-दूसरे को सहायता पहुँचावें और इस कार्य में सब अपना-अपना स्वार्थ मानें।

हर्ष : **(प्रसन्न होकर)** यह मैं भी मानता हूँ। यह परिस्थिति संसार में अवश्य लायी जा सकती है और आप ठीक कहते हैं, यानचांग महोदय, कि जब तक संसार में यह परिस्थिति नहीं लायी जायगी, तब तक कोई भी देश सुखी नहीं हो सकता। आपके इस कथन को भी मैं मानता हूँ कि एक देश इस परिस्थिति की स्थापना में सफल नहीं हो सकता और इसके लिए अनेक देशों में एक साथ तथा सतत प्रयत्न होना

चाहिए। वल्लभी के पराजित नरेश सेनापति ध्रुवसेन को मैं वल्लभी का राज्य लौटाकर उसके संग अपनी पालित पुत्री जयमाला का विवाह कर उसे जामाता बनाऊँगा। पुलकेशिन को अब मैं युद्ध कर विजय न करूँगा, परन्तु बिना साम्राज्य के अन्तगर्त किये ही मैत्री स्थापित कर विजय करूँगा। साथ ही, यत्न करूँगा कि अन्य नरेश भी यही करें। **(यानच्वांग से)** चीन-सम्राट् से अपने देश में आप यही कराइए। मैंने सुना है, पुलकेशिन से पारस देश का पारस्परिक मैत्री-सम्बन्ध है। चीन और आर्यावर्त्त का सम्बन्ध आप करा दीजिए। इस प्रकार चीन, पारस और भारत इन तीन महान् देशों में यदि परस्पर मैत्री हो गयी, तो जम्बूद्वीप के अन्यान्य छोटे-छोटे देशों में तो यह कार्य बहुत शीघ्र हो जायगा और फिर संसार का गुरु जम्बू द्वीप इस दिशा में भी अन्य द्वीपों के पथ-प्रदर्शन का कार्य करेगा। **(कुछ ठहरकर भण्डि से)** महाबलाधिकृत, अब युद्ध नहीं, इस जीवन में अब मैं युद्ध न करूँगा। मेरा जीवन तथा सारे आर्यावर्त्त की शक्ति अब इसी शुभ कार्य में लगेगी।

राज्यश्री : (आँखों में आँसू भरकर) धन्य मेरा भाग्य और धन्य आर्यावर्त्त का !

[**कुछ देर तक सब चुप रहते हैं।**]

हर्ष : राज्यश्री, सारे विश्व को इस प्रकार एक नवीन संगठन में परिणत करने के लिए, कितने दीर्घकाल और महान् प्रयत्न की आवश्यकता होगी, इसकी कल्पना सहज ही में की जा

सकती है। फिर प्रयत्न-कर्त्ता यह प्रयत्न अधिकांश में अपने देश में ही कर सकता है, यह भी स्पष्ट है। भारतवर्ष में यह प्रयत्न जिन दिशाओं में होगा उन्हें मैं युगों से सोच रहा हूँ। अब युद्ध को सर्वथा बन्द कर देने के पश्चात् मेरा सारा समय इसी प्रयत्न में जायगा।

राज्यश्री : वे कौनसी दिशाएँ हैं, शिलादित्य ?

हर्ष : वे ही बता रहा हूँ, राज्यश्री। आर्य और बौद्ध-धर्म के एकीकरण के लिए मैं स्वयं शिव, आदित्य और बुद्ध की प्रतिमाओं का एक सार्वजनिक पूजन करूँगा। उसे यज्ञ का रूप देकर आर्यावर्त्त के समस्त राजाओं, धार्मिक संस्थाओं और प्रजा को सम्मिलित होने का निमन्त्रण दूँगा।

राज्यश्री : इससे धार्मिक एकता में अवश्य ही बहुत बड़ी सफलता मिलेगी।

हर्ष : और इसी अवसर पर तुम्हारी ओर से मैं कान्यकुब्ज के कोष में संग्रहीत समस्त धन, सम्पत्ति, रत्न-आभूषण का दान कर दूँगा।

भण्डि : **(चौंककर)** सर्वस्व-दान।

हर्ष : हाँ, सर्वस्व-दान महाबलाधिकृत, मेरे शरीर में जो आभूषण हैं, इन तक का दान। **(कुछ रुककर)** देखिए, महाबलाधिकृत नरपतिगण अधिकतर यह कोष-संग्रह अपने विलासों की पूर्ति एवं एक-दूसरे से युद्ध कर अपने प्रभाव की वृद्धि के लिए करते हैं। इस प्रवृत्ति के नाश के लिए, आर्यावर्त्त के साम्राज्य की ओर से केवल उपदेश नहीं, किन्तु

कर्म की आवश्यकता है ।

माधवगुप्त : और आप समझते हैं, परमभट्टारक, कि आपके एक बार इस प्रकार के दान से नरेशों की यह प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी ?

हर्ष : मैं एक बार ही इस प्रकार का दान न करूँगा ।

माधवगुप्त : तब ?

हर्ष : प्रजा-हित के समस्त कार्यों में व्यय होने के पश्चात् जो कुछ धन साम्राज्य के कोष में बचेगा, उसका हर चौथे वर्ष, युग का अन्त होते ही, दान कर दिया करूँगा ।

यानच्वांग : (गद्‌गद् कंठ से) धन्य है आपको, परमभट्टारक, धन्य है ! आपके बारम्बार सर्वस्व-दान का यह संकल्प संसार के इतिहास में एक नवीन घटना है ।

हर्ष : (राज्यश्री से) तुम्हें यह कार्य-क्रम स्वीकृत है, राज्यश्री ?

राज्यश्री : (आँखों में आँसू भरकर) स्वीकृत है ? हृदय से स्वीकृत है, शिलादित्य ! ऐसे भ्राता को पाकर पृथ्वी पर मेरा जन्म धन्य हो गया !

यवनिका

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान : बुद्ध-गया

समय : प्रातःकाल

[बाँयीं ओर दूरी पर संघाराम का एक कोना दिखाई देता है। बीच में शिखरदार मठ है। दाहिनी ओर बोधि-वृक्ष और उसके नीचे के चबूतरे का कुछ भाग दिखता है। निकलते हुए सूर्य के आलोक से दृश्य आलोकित है। अनेक सैनिक बोधि-वृक्ष को कुल्हाड़ियों से काट रहे हैं। अनेक सैनिक बौद्ध-भिक्षुओं को बन्दी किये हुए खड़े हैं। कई बौद्ध-भिक्षु सिसक-सिसक कर रो रहे हैं, परन्तु उनके इस रुदन में भय के कारण चिल्लाने का शब्द नहीं है। बोधि-वृक्ष के सामने उसकी ओर मुख किये शशांक और आदित्यसेन खड़े हुए हैं। दोनों, सैनिक वेश-भूषा में हैं। शरीर पर कवच है, सिर पर शिरस्त्राण और आयुधों से सुसज्जित हैं। शशांक अपना बाँयाँ हाथ आदित्यसेन के कंधे पर रखे है और दाहिना हाथ आगे कर उसकी अँगुली बोधि-वृक्ष को दिखाते हुए आदित्यसेन से अत्यधिक उत्तेजित शब्दों में कुछ कह रहा है। शशांक और आदित्यसेन के सम्भाषण के बीच-बीच में कभी-कभी कुल्हाड़ियों के चलने और कभी-कभी किसी-किसी बौद्ध-भिक्षु के सिसक-सिसककर रोने के शब्द सुनायी देते हैं।]

शशांक : बेटा, आज इस बोधि-वृक्ष की एक-एक शाखा के साथ बौद्ध-धर्म की भी एक-एक शाखा का नाश हो जायगा और इसकी जड़ उखड़ते ही बौद्ध-धर्म का भी मूलोच्छेदन। वर्षों और वर्षों क्या, युगों से जिस स्वप्न को देखते-देखते **(दाहिने हाथ को केशों पर फेरकर)** ये केश श्वेत हो गये, **(उसी हाथ को मुख पर फेरकर)** इस चर्म में झुरियाँ पड़ गयीं, वह स्वप्न तेरे कारण सत्य हो सका, बेटा, तेरे कारण। यदि तू अपने कुल-कलंक पिता का त्याग कर मेरे निकट न आता तो क्या मेरा स्वप्न कभी सत्य हो सकता था ? आर्य-धर्म के पुन-रुत्थान का यह महान् आयोजन क्या सफल होना सम्भव था ?

आदित्यसेन : पिताजी, मेरे स्वप्न के सत्य होने के भी तो आप ही कारण होंगे।

शशांक : **(नेत्रों को पोंछते हुए)** तेरे और मेरे स्वप्न में अन्तर नहीं है, बेटा। फिर भी वर्द्धनों के जिस नाश को तू अपना स्वप्न कहता है, उसके सत्य होने में भी अब तो बहुत कम सन्देह और बहुत कम समय रह गया है। परन्तु, परन्तु उसके सत्य होने का कारण भी मैं नहीं, यथार्थ में तू ही है, बेटा।

आदित्यसेन : यह कैसे पिताजी ?

शशांक : **(आदित्यसेन को एकटक देखते हुए धीरे-धीरे)** यह कैसे ? इसमें गूढ़...बड़ा गूढ़ रहस्य है। तू हृदय से शासित होता है, बेटा, और मैं, मैं मस्तिष्क से। मस्तिष्क का शासन छोटे-छोटे कार्यों, छोटे-छोटे षड्यन्त्रों को चाहे

सफल कर दे, परन्तु...

[बोधि-वृक्ष की दो शाखाएं शब्द करती हुई गिरती हैं। उनके गिरने से एक भिक्षु चिल्लाकर रोने लगता है।]

शशांक : (उस भिक्षु के निकट जाते हुए निकट खड़े हुए सैनिक से चिल्लाकर) खींच लो इसकी जीभ और भर दो इसके मुँह में धूलि। आर्य-धर्म के शत्रुओ! अधर्मियो! पामरो! अभी क्या हुआ है, इस वृक्ष के पश्चात् तुम सबकी यही दशा होगी, जो इस वृक्ष की हो रही है। इस पुण्यभूमि में शशांक नरेन्द्रगुप्त बौद्ध-धर्म का चिह्न तक न रहने देगा, चिह्न तक नहीं।

आदित्यसेन : अरे तुम्हीं...तुम्हीं दुष्टों ने तो विदेशियों से मिल-मिलकर गुप्त-साम्राज्य का नाश कराया है। तुम्हारी यह वर्द्धन-सत्ता अब थोड़े, बहुत थोड़े काल की पाहुनी है।

[परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान : माधवगुप्त के भवन की दालान

समय : प्रातःकाल

[दालान की बनावट वैसी ही है जैसी दूसरे अंक के पहले दृश्य की दालान की थी। भित्ति और स्तंभों का रंग उस दालान की भित्ति और स्तंभों से भिन्न है । माधवगुप्त और भण्डि का बाँयीं ओर से प्रवेश। दोनों अपनी साधारण वेश-भूषा में हैं।]

भण्डि : (लम्बी साँस लेकर) तो अब बहुत शीघ्र आर्यावर्त्त की युगों में एकत्रित की गयी सारी सम्पत्ति निरर्थक रीति से बहा दी जायगी।

माधवगुप्त : और उसका सबसे अधिक दुःख तुम्हें है ?

भण्डि : दुःख न होगा, बन्धु, जिस सम्पत्ति से मैं केवल दक्षिण भारत नहीं, परन्तु सारे संसार को विजय कर सकता था, जिसके एक क्षुद्र अंश से शशांक के इस विद्रोह का कुछ क्षणों में दमन किया जा सकता था, उसका यह निरर्थक व्यय मुझे सबसे अधिक दुःख न देगा तो किसे देगा ? क्या तुम इस व्यय को उचित मानते हो ?

माधवगुप्त : अब तक मैं इसका निणर्य नहीं कर सका।

भण्डि : (आश्चर्य से) अच्छा ! उस दिन जब परमभट्टारक ने

सर्वस्व-दान का निश्चय किया तब तो तुमने भी एक प्रकार से इस प्रस्ताव का विरोध किया था।

माधवगुप्त : अवश्य, परन्तु उसके पश्चात् मैं इस विषय पर अपने मन में बहुत तर्क-वितर्क करता रहा।

भण्डि : और तर्क-वितर्क के पश्चात् तुम इसे उचित मानने लगे हो ?

माधवगुप्त : यह मैंने कहाँ कहा ? मै तो केवल इतना ही कहता हूँ कि इसके औचित्य और अनौचित्य के सम्बन्ध में मैं कोई निर्णय नहीं कर सका हूँ।

भण्डि : परन्तु, अब तुम इसके वैसे विरोधी नहीं रहे, जैसे उस दिन थे जिस दिन परमभट्टारक ने निर्णय किया था।

माधवगुप्त : हाँ, यह सत्य है।

भण्डि : कारण ?

माधवगुप्त : देखो, मित्र, मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस विषय पर मैं जितना अधिक विचार करता हूँ उतना ही इस निर्णय पर पहुँचता जाता हूँ कि इस सम्बन्ध में कभी भी कोई एक बात नहीं कही जा सकती।

भण्डि : कैसे ?

माधवगुप्त : आज जो बात उचित जान पड़ती है कल वही अनुचित दिखने लगती है, और आज जो अनुचित कल वही उचित।

भण्डि : तब तुम्हारे मतानुसार न कुछ उचित है और न कुछ अनुचित ?

माधवगुप्त : शनैः शनैः मेरा मत इसी प्रकार का बनता जा रहा है, और इसका कारण है।

भण्डि : क्या ?

माधवगुप्त : अब तक मनुष्य का इस बात का पता न लगा सकना कि मानव-समाज किस ओर, किस प्रकार से जा रहा है।

भण्डि : मैं तुम्हारे इस कथन का अर्थ ही नहीं समझा।

माधवगुप्त : मैं समझाने का प्रयत्न करता हूँ। मनुष्य जब पृथ्वी में किसी वस्तु का बीज बोता है, तब उसे इस बात का निश्चय रहता है न कि अमुक बीज से अमुक प्रकार का ही पौधा निकलेगा ?

भण्डि : अवश्य।

माधवगुप्त : परन्तु, यही बात वह अपनी किसी कृति के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकता।

भण्डि : कैसे ?

माधवगुप्त : कुछ उदाहरणों पर विचार कर देखो। पहले मानव-समाज इस प्रकार के बन्धनों में जकड़ा हुआ न था, जैसा आज है; तब न धार्मिक बन्धन थे, न सामाजिक और न राजनैतिक। मानव-समाज में सुख के लिए इन बन्धनों का आविष्कार हुआ, परन्तु क्या उसके सुख में किसी प्रकार की वृद्धि हुई है ?

भण्डि : इसमें कोई सन्देह है ?

माधवगुप्त : बहुत बड़ा।

भण्डि : यह तो बड़े आश्चर्य की बात कहते हो।

माधवगुप्त : तुम्हें केवल ऐसा जान पड़ता है, परन्तु यदि तुम इस प्रश्न के मूल तक जाकर विचार करोगे तो तुम्हें कुछ आश्चर्य न होगा। जितने धर्मों का आविष्कार हुआ, सबने यही घोषणा की थी कि वे सच्ची शान्ति स्थापित कर देंगे, पर उनसे उलटा कलह बढ़ा है। सामाजिक संगठन में विवाह सबसे प्रधान बन्धन है। वह दम्पति के सुख का ठेका लेना चाहता था, पर अधिकतर पति-पत्नि दुखी ही दीख पड़ते हैं। इतना ही नहीं, पति-पत्नी के परस्पर प्रेम को स्थायी रूप से बाँध देने के लिए जो सन्तानोत्पत्ति ग्रन्थि के समान मानी जाती है, वह ग्रन्थि भी ग्रन्थि का कार्य न कर प्रायः छुरिका का ही कार्य करती है। राज-सत्ता प्रधानतया रक्तपात और लूट-मार बन्द करने के लिए स्थापित हुई थी, परन्तु सबसे अधिक रक्त-पात और लूट राज-सत्ता द्वारा ही हुई है।

भण्डि : (**झुँझलाकर**) फिर क्या किया जाय ?

माधवगुप्त : यही तो अभी तक निर्णय नहीं हो सका, क्योंकि जैसा मैंने अभी कहा कि मनुष्य को अब तक यह ज्ञान नहीं हुआ है कि मनुष्य-समाज किस ओर और किस प्रकार जा रहा है।

भण्डि : (**घृणा से हँसकर**) तुम्हारे कहने का तो यह अर्थ होता है कि मनुष्य को अकर्मण्य हो जाना चाहिए।

माधवगुप्त : कदापि नहीं; परन्तु वह जो अपने को सर्वज्ञ मान-कर हर बात करता है, यह अवश्य भ्रम है।

भण्डि : और परमभट्टारक जिस प्रकार नयी-नयी बातें कर यह

मानते हैं कि वे देश और संसार का कल्याण कर रहे हैं, यह भ्रम नहीं है ?

माधवगुप्त : जहाँ तक मैं जानता हूँ वे अपने को सर्वज्ञ मानकर कुछ नहीं करते ।

भण्डि : फिर ?

माधवगुप्त : वे जो नयी बातें करते हैं, प्रयोगात्मक दृष्टि से करते हैं, जैसा सभी महान् पुरुषों ने किया है ।

भण्डि : अब तक उनके सारे प्रयोग असफल हुए हैं। पहले वे सिंहासन पर न बैठ साधारण पुरुष के समान प्रजा की सेवा करना चाहते थे, वह न हुआ, और उन्हें सिंहासनासीन होना पड़ा । फिर उन्होंने सम्राज्ञी को सिंहासन पर बिठा, महिलाओं को पुरुषों के सदृश अधिकार दिलाने की बात सोची, पर आज भी पुरुष उच्च और महिलाएँ निम्न मानी जाती हैं। फिर उन्होंने स्वयं कान्यकुब्ज का माण्डलीक बन कर अपने उदाहरण द्वारा बिना युद्ध के ही प्रत्येक देश को साम्राज्य का समानाधिकारी बनाना चाहा, वह प्रयत्न भी असफल हुआ और उन्हें अनेक वर्ष नहीं, परन्तु अनेक युग युद्ध में व्यतीत करने पड़े। अब राज्यों की परस्पर मैत्री और युद्ध के लिए धन-संग्रह के विरोध में स्वयं सर्वस्व-दान कर, अन्य नरेशों को इस दिशा में आकर्षित करने का यह प्रयोग कहाँ तक सफल होगा, सो तो पहले प्रयोगों से भी अधिक स्पष्ट है ।

माधवगुप्त : परन्तु, मित्र, छोटी-छोटी बातों में सफलता प्राप्त

करने की अपेक्षा महान् कार्यों में असफल हो जाना कहीं श्रेष्ठ है। फिर आज परमभट्टारक भी जो-कुछ कर रहे हैं उसका आगे चलकर संसार पर क्या प्रभाव पड़ना है, इसे कौन कह सकता है ?

भण्डि : आज उनके कार्यों का कितना प्रभाव पड़ा, यह हमने देख लिया। उनके पश्चात्, उनके विवाह न करने और सन्तान न होने के कारण सारे देश में जो उथल-पुथल मचेगी, उस की भी कल्पना की जा सकती है।

माधवगुप्त : अनेक नरेशों की तो सन्तति थी, फिर उथल-पुथल क्यों मची ? देखो, मित्र, मैं यह नहीं कहता कि परमभट्टारक की सारी कृतियों का अच्छा ही फल होगा। मेरा कहना केवल इतना ही है कि संसार में महान् व्यक्ति महान् कार्यों का प्रयोग करने को आते हैं, उनके कार्य किसी न किसी नवीन दिशा में होते हैं, इतना गत इतिहास से अवश्य जान पड़ता है। अनेक कार्यों का फल तत्काल मिलता है और अनेक का शताब्दियों पश्चात्। किन बातों से मानव-समाज का स्थायी कल्याण होगा, यह अब तक सिद्ध नहीं हो पाया, क्योंकि जैसा मैंने अभी दो बार तुम से कहा कि हम यह नहीं जानते कि मानव समाज किस ओर, किस प्रकार जा रहा है। मैं परमभट्टारक को महापुरुष मानता हूँ। जो बातें वे करना चाहते हैं उन पर मैं सम्मति अवश्य देता हूँ, परन्तु अन्त में उनके निर्णय को मैं मस्तक झुकाकर स्वीकृत कर लेता हूँ, क्योंकि जहाँ तक उनकी पहुँच है, वहाँ तक मैं

अपनी नहीं मानता।

भण्डि : तुम्हारे इस सिद्धान्त के अनुसार साधारण कोटि के मनुष्यों के कार्य की तो कोई दिशा रह ही नहीं जाती।

माधवगुप्त : यह मैं नहीं मानता । उनकी कार्य-दिशा महापुरुषों का अनुसरण है।

भण्डि : परन्तु, महापुरुष भी एक दिशा में तो नहीं चले हैं, किस का अनुसरण किया जावे ?

माधवगुप्त : जो जिसे महान् पुरुष दिखे तथा जिसकी कृति में कम से कम स्वार्थ और भी अधिक से अधिक परार्थ एवं परमार्थ दृष्टिगोचर हो।

भण्डि : यह सब......

[**बाँयीं ओर से एक गुप्तचर का प्रवेश। वह अधेड़ अवस्था का साधारण मनुष्य है। श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है। उसके मुख पर गम्भीरता का साम्राज्य है। वह माधवगुप्त और भण्डि का अभिवादन करता है। दोनों अभिवादन का उत्तर देते हैं।**]

माधवगुप्त : क्या शशांक और आदित्यसेन के विद्रोह का कोई समाचार है ?

गुप्तचर : जी हाँ, बड़ा भीषण संवाद है।

माधवगुप्त : **(कुछ घबड़ाकर)** कैसा ?

गुप्तचर : **(इधर-उधर देखकर, धीरे-धीरे)** बोधि वृक्ष के काटने के पश्चात् अब उन्होंने परमभट्टारक की हत्या का षड्यन्त्र किया है।

[**माधवगुप्त और भण्डि चौंक पड़ते हैं ।**]

माधवगुप्त : किस प्रकार ?

गुप्तचर : यज्ञ के दिन जब जन-समुदाय के बीच शरीर-रक्षकों से रहित परमभट्टारक आदित्य, शिव और बुद्ध का पूजन कर सर्वस्व-दान करेंगे उसी दिन यह कार्य करने के लिए शशांक और आदित्यसेन ने धर्मान्ध ब्राह्मणों को नियुक्त किया है ।

[**माधवगुप्त सिर झुका लेता है । भण्डि और गुप्तचर एकटक माधवगुप्त की ओर देखते हैं । कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है ।**]

माधवगुप्त : (धीरे-धीरे सिर उठाकर भण्डि से) मित्र, परमभट्टारक ने युद्ध का त्याग किया है, हमने तो नहीं ?

भण्डि : कदापि नहीं ।

माधवगुप्त : तो हमारा इस समय कुछ कर्त्तव्य है । मैंने बाल्यावस्था से ही जिस प्रकार परमभट्टारक का साथ दिया है, उसे तुमसे अधिक कोई नहीं जानता । आज भी अनेक व्यक्ति जिस दृष्टि से मुझे देखते हैं, वह भी तुमसे छिपा हुआ नहीं है । अब तक गुप्तों और वर्द्धनों के संघर्ष का प्रश्न था, परन्तु आज तो एक ओर मेरे जीवन-सर्वस्व परमभट्टारक और दूसरी ओर मेरे एकमात्र पुत्र का प्रश्न है । मित्र, मेरे हृदय में परमभट्टारक के प्रति कितना स्नेह है, इसका प्रमाण देने का आज से बढ़कर मुझे और कोई अवसर नहीं मिलेगा । चलो, भीतर बैठकर **(गुप्तचर की ओर संकेत कर)** इसका सारा वृत्त सुन लें और अपना भावी

कर्त्तव्य निश्चित करें। (**कुछ रुककर**) हाँ, एक बात का ध्यान रहे कि इस समय यह सारा कार्य इस प्रकार करना होगा कि परमभट्टारक तक को, हम लोग क्या करनेवाले हैं, इसका भी पता न लगे।

भण्डि : अवश्य, नहीं तो न जाने हमारे प्रयत्नों को विफल करने के लिए वे क्या कर बैठेंगे।

माधवगुप्त : तो फिर चलो, इस समय एक-एक क्षण अमूल्य है।

भण्डि : अवश्य, अवश्य।

[**तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।**]

तीसरा दृश्य

स्थान : प्रयाग का एक मार्ग

समय : प्रातःकाल

[दूरी पर छोटे-छोटे गृह दिखायी पड़ते हैं। सँकरा मार्ग है। प्रातःकाल का प्रकाश फैला हुआ है। दो पुरवासियों का बाँयीं ओर से और दो का दाहिनी ओर से प्रवेश। सभी उत्तरीय और अधोवस्त्र पहने हैं। आभूषण भी धारण किये हैं। दाहिनी ओर का एक व्यक्ति हाथ में एक कागज लिये है।]

बाँयीं ओर का पहला : (दाहिनी ओर से आनेवाले से) कहो, यज्ञशाला से आ रहे हो ?

दाहिनी ओर का पहला : जी हाँ, वहीं से।

बाँयीं ओर का दूसरा : क्या समाचार है ?

दाहिनी ओर का वही : अब तो सब व्यवस्था पूर्ण हो चुकी।

बाँयीं ओर का पहला : कल प्रातःकाल ही तो यज्ञ है, व्यवस्था कैसे न हो चुकती ? सब लोग आ गये ?

बाँयी ओर का दूसरा : हाँ, जिन्हें आना था, वे सब आ गये।

बाँयीं ओर का पहला : कितने माण्डलीक आये हैं ?

दाहिनी ओर का पहला : कामरूप के कुमारराज, वल्लभी के ध्रुवसेन तथा अठारह और।

बाँयी ओर का दूसरा : तो प्राय: सभी माण्डलीक आ गये ?

दाहिनी ओर का पहला : हाँ, प्राय: सभी ; और सब अपनी-अपनी महिषियों के संग आये हैं ।

बाँयीं ओर का पहला : और धर्म-संस्थाओं के प्रतिनिधि ?

दाहिनी ओर का दूसरा : अरे, वे तो बहुत हैं कहाँ तक गिनती गिनाऊँ ?

बाँयीं ओर का दूसरा : सारे आर्यावर्त्त की प्रजा भी तो एकत्रित हुई है । ऐसी भीड़ तो कुम्भ पर भी नहीं होती ।

बाँयीं ओर का पहला : कुम्भ तो हर बारहवें वर्ष होता है, यह तो अश्वमेध और राजसूय-यज्ञ के समान यज्ञ है, जिसका अवसर सैकड़ों और सहस्रों वर्षों के पश्चात् आता है ।

बाँयीं ओर का पहला : इसमें क्या सन्देह है ?

दाहिनी ओर का पहला : अब तो यज्ञ का सारा कार्य-क्रम भी लिखकर यज्ञशाला के द्वार पर लगा दिया गया है ।

बाँयीं ओर का पहला : क्या है, बताओ ?

दाहिनी ओर का दूसरा : मैं तो लिख लाया हूँ ।

बाँयी ओर का पहला : सुनाओ, सुनाओ ।

दाहिनी ओर का दूसरा : **(हाथ का कागज पढ़ते हुए)** सुनो, प्रात:काल की प्रार्थना के अनन्तर शिविका पर भगवान शिव, भगवान बुद्ध और भगवान आदित्य की मूर्त्तियों का यज्ञशाला में आगमन होगा । शिविका-वाहक का कार्य, सम्राज्ञी राज्यश्री, महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन, कामरूपाधिपति कुमारराज भास्कर वर्मन और वल्लभी-नरेश सेना-

पति ध्रुवसेन करेंगे। शिविका के सन्मुख चलनेवाले पंचमहा-वाद्यों को पाँच माण्डलीक नरपति बजावेंगे। दो माण्डलीक नरेश शिविका के सामने प्रतिहारी के रूप में चलेंगे। चार माण्डलीक नरपति शिविका पर तने हुए वितान के स्तम्भों को उठावेंगे और शेष माण्डलीक नरेशों में से एक शिविका पर छत्र लगावेंगे, दो चामर, दो मोरछल और दो व्यजन डुलावेंगे। इसके पश्चात् महाराजाधिराज साम्राज्य के समस्त कोष का दान करेंगे जो सब वर्णों के निर्धनों को बाँट दिया जायगा।

बाँयीं ओर का दूसरा : सब वर्णों में दान का बाँटना ही तो आर्य-धर्म के प्रतिकूल माना जाता है।

बाँयीं ओर का पहला : उँह, ऐसे विचारवाले कुछ व्यक्ति तो सदा ही रहते हैं। स्मरण नहीं है कि कुछ ब्राह्मणों ने सम्राज्ञी के राज्याभिषेक का भी विरोध किया था।

दाहिनी ओर का दूसरा : इतना ही क्यों, शशांक के वर्त्तमान विद्रोह को कई ब्राह्मण धार्मिक विद्रोह मानते हैं।

दाहिनी ओर का पहला : और बोधि-वृक्ष को कटवानेवाली कृति इस प्रकार के विचारवालों का समर्थन करती है।

बाँयीं ओर का पहला : शशांक के विद्रोह का कारण मेरी दृष्टि में तो धार्मिक न होकर राजनीतिक है।

दाहिनी ओर का दूसरा : (मुस्कराकर) तब तो आप यह भी मानते होंगे कि भीतर से उसके बड़े-बड़े सहायक भी हैं।

बाँयीं ओर का पहला : (मुस्कराकर) मैं इस सम्बन्ध में कुछ

न कहना ही अच्छा समझता हूँ ।

दाहिनी ओर का पहला : परन्तु, यदि आप आदित्यसेन के कारण माधवगुप्त पर सन्देह करते हैं, और उनका इस समय एकाएक लापता हो जाना इस सन्देह का और भी पुष्ट कारण मानते हैं, तो मैं कहना चाहता हूँ कि आपका सन्देह भारी भूल से भरा हुआ है । देखिए...

बाँयीं ओर का दूसरा : अरे छोड़िए, इस चर्चा को । यज्ञ की चर्चा करते-करते हम लोग राजनीतिक चर्चा करने लगे ।

दाहिनी ओर का पहला : यह आप ही ने आरम्भ की है, महाशय ।

बाँयीं ओर का दूसरा : मैं अपना दोष स्वीकार करता हूँ । (**कुछ रुककर अपने साथी से**) चलो न, हम लोग भी यज्ञशाला देख आवें ।

बाँयीं ओर का पहला : हाँ, हाँ, चलो ।

[**बाँयीं ओर से आनेवालों का दाहिनी ओर और दाहिनी ओर से आनेवालों का बाँयीं ओर प्रस्थान । परदा उठता है ।**]

चौथा दृश्य

स्थान : प्रयाग में यज्ञशाला

समय : प्रातःकाल

[दूरी पर गंगा बह रही है, उसका श्वेत नीर उदय होते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों से चमक रहा है। बीच में सुवर्ण के रत्न-जटित स्तम्भों के सहारे सुनहरी काम का एक वितान तना हुआ है। वितान के पीछे, बीचोंबीच कान्यकुब्ज के कोष का समस्त धन सुवर्ण के घटों में भरा हुआ रखा है। ये घट त्रिकोणाकार में एक-दूसरे के ऊपर सजाये गये हैं, अतः उनके समूह सुवर्ण-पर्वत के शिखरों के समान दृष्टिगोचर होते हैं। इन घटों के आसपास राजकर्मचारी बैठे हुए हैं, परन्तु इनमें माधव-गुप्त और भण्डि नहीं हैं। वितान के बीचोंबीच सुवर्ण का एक सिंहासन रखा है। इस सिंहासन की दाहिनी ओर महाधर्माध्यक्ष और बाँयीं ओर यानचांग बैठे हुए हैं। धर्माध्यक्ष के निकट की सुवर्ण की चौकियों पर सुवर्ण के थालों में पूजन की सामग्री रखी है। धर्माध्यक्ष की दाहिनी ओर धर्म-संस्थाओं के प्रतिनिधि और राज्य के प्रतिष्ठित पुरुष बैठे हैं। और इनकी दाहिनी ओर पुरुष जन-समुदाय दृष्टिगोचर होता है। सिंहासन के बाँयीं ओर माण्डलीक नरेशों की रानियाँ बैठी हैं। इन्हीं में जयमाला और

अलका भी हैं। इनके बाँयीं ओर स्त्री जन-समुदाय दिखायी पड़ता है, जिनमें छोटे-छोटे बालक भी हैं। सब लोग पृथ्वी पर की बिछावन पर ही बैठे हैं। सिंहासन के सामने बीच का भाग रिक्त है। कुछ देर के उपरान्त नेपथ्य में पंचमहावाद्य बजते हैं, जिन्हें सुनते ही सब लोग हाथ बाँध-बाँध कर खड़े हो जाते हैं। वाद्य बन्द होते ही पांचवें दृश्य में वर्णित प्रणाली से बुद्ध, शिव और आदित्य की मूर्तियाँ सुवर्ण की रत्नजटित शिविका पर आती हैं। उस पर चार माण्डलीक नरेश छोटा-सा वितान ताने हैं। शिविका पर सुनहरी काम है। उसके चारों ओर छोटे-छोटे स्तम्भ सुवर्ण के हैं जो रत्नों से जड़े हुए हैं। छत्र, चामर, मोर-छल और व्यजनों की डाँड़ियाँ भी रत्नजटित सुवर्ण की हैं। छत्र श्वेत कौशेय का है जिस पर रुपहरी काम है और मोतियों की झालर। व्यजन सुनहरी वस्त्र के हैं। सभी नरेशों की वेश-भूषा हर्ष की सदा की वेश-भूषा के समान है। सबके सिरों पर श्वेत मालाएँ, अर्धचन्द्राकार रूप में बँधी हुई हैं। शिविका के आते ही 'भगवान शिव की जय', 'भगवान आदित्य की जय', 'भगवान बुद्ध की जय' वाक्यों से यज्ञशाला गूँज उठती है। शिविका सिंहा-सन के सामने के रिक्त स्थान पर रखी जाती है और धर्माध्यक्ष आगे बढ़कर शिविका में से तीनों प्रतिमाओं को उठाकर एक-एक कर सिंहासन पर प्रतिष्ठित करते हैं। छत्र, चामर, मोरछल व्यजन लिए हुए सातों माण्डलीक नरेश सिंहासन के पीछे जाकर खड़े होते हैं और छत्रवाले छत्र लगाते तथा अन्य छः नृपतिगण चामर, मोरछल और व्यजन डुलाना आरम्भ करते हैं। प्रतिहारी

के रूप में आये हुए दोनों माण्डलीक-नरेश अपनी छड़ियों के संग सिंहासन के उभय ओर खड़े हो जाते हैं। हर्ष, राज्यश्री, कुमारराज और ध्रुवसेन शिविका को जिस मार्ग से लाये थे, उसी मार्ग से बाहर ले जाते हैं। पंचमहावाद्य वाले माण्डलीक-नरेश शिविका के आगे तथा वितान के स्तम्भों को लिये हुए जो माण्डलीक आये थे, वे उस वितान को शिविका पर उसी प्रकार ताने हुए, शिविका के साथ-साथ बाहर जाते हैं। कुछ ही देर में ये लोग खाली हाथ लौटकर आ जाते हैं। सिंहासन के सामने रिक्त भाग में सिंहासन की ओर मुख कर आगे हर्ष तथा राज्यश्री, इनके पीछे कुमारराज तथा ध्रुवसेन और इनके पीछे अन्य माण्डलीक राजा बैठते हैं। खड़े हुए शेष जन भी बैठ जाते हैं। अब धर्माध्यक्ष एवं धर्म-संस्थाओं के अन्य प्रतिनिधिगण वेद-ध्वनि आरम्भ करते हैं। हर्ष तीनों प्रतिमाओं का संक्षिप्त पूजन कर सुवर्ण-थाल में आरती करते हैं और अन्तिम पुष्पांजलि में सारा जन-समुदाय मूर्तियों पर पुष्प चढ़ाता है। वेद-ध्वनि बन्द होती है और हर्ष कान्यकुब्ज के समस्त कोष का दान-संकल्प करते हैं। संकल्प महाधर्माध्यक्ष बोलता है। इस संकल्प के पश्चात् हर्ष अपने कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ उतारकर उनका संकल्प करते हैं।]

हर्ष : (सङ्कल्प करने के पश्चात् खड़े होकर, अपने दोनों हाथ आगे कर राज्यश्री से) सम्राज्ञी, मैं आप से एक वस्त्र की भिक्षा माँगता हूँ, क्योंकि ये बहुमूल्य दुकूल भी दान करूँगा।

[राज्यश्री खड़े होकर आँखों में आँसू भरकर, एक सादा

वस्त्र हर्ष को देती है । हर्ष पहले उत्तरीय उतारकर पृथ्वी पर रख देते हैं, फिर राज्यश्री के दिये हुए वस्त्र को पहन अधोवस्त्र भी उतारकर उत्तरीय और अधोवस्त्र हाथ में ले संकल्प के लिए बैठते हैं । महाधर्माध्यक्ष संकल्प बोलना आरम्भ करता है । यज्ञ-शाला 'परमभट्टारक महाराजाधिराज राजर्षि हर्षवर्द्धन की जय, आदि घोष से गूँज उठती है । इसी समय ब्राह्मणों में से एक ब्राह्मण एकाएक खड़ा होकर अधोवस्त्र में छिपी हुई एक छुरी निकाल हर्षवर्द्धन की ओर शीघ्रता से बढ़ता है । उसकी यह कृति देख उसके निकट बैठे हुए कुछ ब्राह्मण भी इसी प्रकार छुरिकाएँ निकालकर उस ब्राह्मण पर टूट पड़ते हैं । सभी लोग सिर उठाकर आश्चर्य से स्तम्भित हो इस घटना को देखते हैं । हर्षवर्द्धन की ओर बढ़ने वाले ब्राह्मण को पीछे से छुरिकाएँ निकालने वाले ब्राह्मण आहत कर पकड़ लेते हैं । उसी समय सैनिक वेश में माधवगुप्त का प्रवेश । उसी के साथ चार सैनिक आदित्यसेन को लोहे की शृङ्खलाओं से बाँधे हुए लाते हैं । माधवगुप्त के मुख पर अत्यधिक उद्विग्नता और आदित्यसेन के मुख पर अत्यधिक क्रोध दृष्टिगोचर होता है । आदित्यसेन सिर झुकाकर खड़ा हो जाता है । माधवगुप्त हर्ष का अभिवादन कर एकटक हर्ष की ओर देखता है । आश्चर्य से स्तम्भित जन-समुदाय, जिसके मुख से अब तक एक शब्द भी न निकला था और जो ब्राह्मणों की इस घटना को एकटक देख रहा था, अब माधवगुप्त और आदित्यसेन की ओर देखने लगता है; फिर भी किसी के मुख से कुछ नहीं निकलता ।]

हर्ष : (माधवगुप्त और आदित्यसेन को देख, आश्चर्य-भरे शब्दों में माधवगुप्त से) माधव, तुम कहाँ चले गये थे ? कब आये ? यह सब क्या है ?

माधवगुप्त : (भर्राये हुए शब्दों में) परमभट्टारक की हत्या का षड्यन्त्र ! इसी का पता पाकर आपसे बिना कुछ कहे ही मुझे इस षड्यन्त्र के नाश के लिए दूसरे षड्यन्त्र की रचना कर आपके पास से जाने को बाध्य होना पड़ा।

हर्ष : और इस षड्यन्त्र का रचयिता कौन है ?

माधवगुप्त : (उसी प्रकार के स्वर में) साम्राज्य के विद्रोही मेरे बन्धु शशांक नरेन्द्रगुप्त, और (आदित्यसेन की ओर संकेत कर) मेरा पुत्र आदित्यसेन।

[हर्ष चौंक पड़ता है और फिर सिर झुका लेता है। जन-समुदाय और भी आश्चर्य से आदित्यसेन की ओर देखता है। अब आदित्यसेन क्रोध से अपने ओठ चबाता और हाथों को मलता है। कुछ देर सन्नाटा छाया रहता है।]

हर्ष : (धीरे-धीरे सिर उठाते हुए) एक विद्रोही को तो तुम बन्दी करके लाये, दूसरा विद्रोही कहाँ है ?

माधवगुप्त : (कुछ सँभलकर) उसे महाबलाधिकृत भण्डि ने युद्ध में धराशायी किया है।

हर्ष : (जल्दी से) मेरे युद्ध त्याग देने पर भी तुम लोगों ने युद्ध किया, इन विद्रोहियों के हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा नहीं की ?

माधवगुप्त : (फिर उसी प्रकार के भर्राये हुए स्वर में) यह युद्ध

अनिवार्य था, परमभट्टारक, आततायियों के हृदय में परि-
वर्त्तन नहीं होता।

हर्ष : और महाबलाधिकृत भण्डि कहाँ हैं, तुम अकेले कैसे लौटे ?

माधवगुप्त : **(शान्त स्वर में)** चुने हुए सैनिकों की जिस छोटी-सी सेना के साथ हम लोग गये थे, उसी को संग लेकर वे लौट रहे हैं। मैं इस वन्दी को लेकर शीघ्र इसलिए चला आया हूँ कि यज्ञ के अवसर पर पहुँच जाऊँ और देखूँ कि षड्यन्त्र को असफल करने का मेरा षड्यन्त्र सफल हो। फिर भी मुझे आने में कुछ विलम्ब तो हो ही गया।

[हर्ष फिर सिर झुका लेते हैं। फिर कुछ देर तक सन्नाटा छा जाता है।]

हर्ष : **(फिर सिर उठाकर धीरे-धीरे)** एक विद्रोही तो युद्ध में मारा गया। **(आदित्यसेन की ओर संकेत कर)** अब इस विद्रोही को भी तुम दण्ड दिलाना चाहते हो ?

माधवगुप्त : **(खखारते हुए फिर अत्यधिक भर्राये हुए स्वर में)** जी हाँ।

हर्ष : **(पहले माधवगुप्त फिर आदित्यसेन और फिर माधवगुप्त की ओर देखकर)** कौनसा दण्ड ?

माधवगुप्त : **(कठिनाई से बोलते हुए)** मृ...मृ...मृत्यु...दण्ड।

जन-समुदाय के कुछ व्यक्ति : धन्य है, धन्य है !

कुछ अन्य व्यक्ति : माधवगुप्त की जय !

सारा जन-समुदाय : माधवगुप्त की जय !

[एक ओर से दौड़ते हुए शैलबाला का प्रवेश।]

शैलबाला : कहाँ है, मेरा लाल, कहाँ है ?

[शैलबाला बन्दी आदित्यसेन को देख, दौड़कर उससे लिपट जाती है और फूट-फूटकर रोने लगती है। आदित्यसेन उसी मुद्रा में चुपचाप खड़ा रहता है। केवल अपनी दोनों भुजाओं से माँ का आलिंगन कर लेता है। हर्ष फिर सिर झुका लेते हैं। माधवगुप्त कनखियों से शैलबाला एवं आदित्यसेन की ओर देखता है और जन-समुदाय एकटक शैलबाला की ओर। कुछ देर फिर निस्तब्धता रहती है।]

शैलबाला : (एकाएक आदित्यसेन को छोड़कर हर्ष की ओर बढ़, अपनी साड़ी का छोर फैलाकर) भिक्षा माँगती हूँ, परमभट्टारक, अपने इस इकलौते पुत्र के प्राणों...

आदित्यसेन : (सिर उठाकर, गरजकर) क्या, क्या कह रही है, माँ, क्या कह रही है ! क्षत्राणी होकर भिक्षा ! जो प्राण एक दिन जाना ही है, उसकी भिक्षा ! शत्रु से भिक्षा ! उत्तम होता, यदि मैं तेरे गर्भ में ही प्रवेश न करता। उत्तम होता, यदि मैं जन्मते ही मर जाता। मेरा इस लोक का जीवन तो समाप्त हो ही रहा है, पर मरते समय भी पिता के सदृश क्या माता का भी स्मरण कर मुझे तू गौरव का अनुभव न करने देगी ? क्या माता का नाम लेकर भी यह आदित्यसेन सहर्ष अपने प्राण न दे सकेगा ? **(हर्ष से)** वर्द्धनराज, आप मेरी माता की बात न सुनिए, उस ओर ध्यान ही न दीजिए। पिताजी के कथनानुसार इस अन्तिम गुप्तवंशीय को प्राणदण्ड देकर मेरे गौरव की रक्षा कीजिए।

मेरा गौरव न मेरे पिता पर अवलम्बित है और न माता पर। (**अपना वक्षस्थल फुलाकर सिर ऊँचा उठाते हुए**) वह मुझ पर अवलम्बित है, केवल मुझ पर।

हर्ष : (**शान्ति से मुस्कराते हुए**) नवयुवक, तुम सच्चे नवयुवक हो। युवावस्था में जैसा तेज, जैसा उत्साह, जैसी निर्भीकता होनी चाहिए वैसी ही तुम में है। परन्तु देखो, तुम्हारे ये सद्‌गुण तुम्हारे एक विवेकहीन विश्वास के कारण तुम्हें ठीक पथ पर न चलाकर पथ-भ्रष्ट कर रहे हैं। आदित्यसेन, तुम मुझे वृथा ही गुप्त-वंश का शत्रु मान रहे हो। मैंने अपने वंश का गौरव बढ़ाने के लिए यह राज्य ग्रहण नहीं किया है। मेरे विवाह न करने के कारण वर्द्धन-वंश का तो कोई वंशज ही न रहेगा। अपने उत्कर्ष के लिए भी यह पद मैंने नहीं लिया है, यदि ऐसा होता तो मैं स्थाण्वीश्वर कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य क्यों बनाता ? पुत्र, मुझे अपने से और अपने वंश से कभी आसक्ति का अनुभव नहीं हुआ, न किसी विशिष्ट धर्म और देश से ही अनुराग ; इस विशाल विश्व को ही अपना देश मान, सारे धर्मों पर समान रूप से श्रद्धा रख और अपने-पराये सभी को अपना बन्धु समझ, मैंने अपने जीवन का अब तक का समय व्यतीत करने का प्रयत्न किया है। हाँ, इतने पर भी मुझे अनेक युद्ध करने पड़े हैं, अनेक विद्रोहियों का दमन करना पड़ा है, परन्तु उस परिस्थिति में कदाचित् वह अनिवार्य था। यदि मेरा अब तक का जीवन मेरी अभी कही हुई बातों को सिद्ध करने में

समर्थ नहीं है, तो मैं तुम्हें अपने कथन की सत्यता का अन्य कौनसा प्रमाण दे सकता हूँ ? (कुछ रुककर) मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ, आदित्यसेन, इसलिए नहीं कि तुम्हारी माता ने मुझ से तुम्हारे प्राणों की भिक्षा माँगी है, परन्तु इसलिए कि तुम से अधिक तेजस्वी, तुमसे अधिक उत्साही, तुमसे अधिक निर्भीक अन्य कोई युवक मुझे इस समय इस आर्यावर्त्त में दिखायी ही नहीं देता। तुमने यदि इन सद्‌गुणों का, अपने और अपने वंश के उत्कर्ष में उपयोग न कर लोक-सेवा में उपयोग किया तो तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इस आर्यावर्त्त के परम प्रतापी, सच्चे लोक-सेवी सम्राट् होगेऔर तुम्हारी कृति से तुम स्वयं तथा यह जगत् दोनों ही अनुपम सुख का अनुभव करेंगे। (सैनिकों से) छोड़ दो, सैनिको, आदित्यसेन को मुक्त कर दो।

जन-समुदाय : (एक स्वर से) राजर्षि हर्षवर्द्धन की जय !

[सैनिक आदित्यसेन को लोहे की शृङ्खलाओं से मुक्त करते हैं। वह बिना कुछ कहे अथवा बिना किसी का अभिवादन किये, कुछ विचार करते हुए धीरे-धीरे जाता है। माधवगुप्त कनखियों से उसकी ओर देखता है। शैलबाला के नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं। हर्ष पहले माधवगुप्त फिर शैलबाला की ओर देख सिर झुका लेते हैं। जन-समुदाय हर्ष, माधवगुप्त और शैलबाला की ओर देखता है। उसी समय कुछ दूरी पर मण्डप में अग्नि लगती है। हल्ला होता है। कुछ लोग भागते हैं।]

हर्ष : (माधवगुप्त से) हैं ! यह क्या, माधव, यह भी क्या

कुचक्रियों का कोई कुचक्र है ?

माधवगुप्त : (जल्दी से) जान तो यही पड़ता है, परमभट्टारक, परन्तु चिन्ता नहीं, इसके बुझाने का अभी प्रबन्ध करता हूँ। इस अग्नि के संग ही आर्यावर्त्त के साम्राज्य के प्रति विद्रोहियों की अग्नि भी सदा के लिए शान्त हो जायगी।

यवनिका

समाप्त